

# श्रीविचारसागरदर्पण

लेखक

श्रीस्वामी मनोहरदासजी महाराज



प्रकाशक

श्री-वेदान्त-प्रचार-मण्डल, अजमेर।

मिलने का पता :—

(१) अद्वैत आश्रम, श्रीवेदान्त-प्रचार-मण्डल, रामनगर पुष्कर रोड, अजमेर।

(२) श्रीछेटाराम गोलीमल सर्राफ, नया बाजार, अजमेर।

(३) शिव पुस्तक भण्डार, पुरानी मण्डी, अजमेर।



सं० २०२० वि० ( सन् १९६३ ई० )

तृतीय संस्करण ३०००

पृष्ठ संख्या-५१२



मूल्य चार रुपये ४)

मुद्रक :—श्री धीसाराम करणार, नेशनल प्रेस, अजमेर।

प्रकाशक :—श्री वेदान्त प्रचार मण्डल, अजमेर।

समर्पण

सद्‌गुरु



पूज्यपाद श्रीमत्स्वामी लीलाशाह जी महाराज

के

कर कमलो में

# सम्मति

हिन्दीभाषाभाषी, ब्रह्मनिष्ठ, पडितप्रवर स्वामी श्रीनिश्चलदासजी महाराजसे अपरिचित नही होगे। वे सस्कृतके प्रकाण्ड पडित थे फिर भी उन्होने अपनी दो विख्यात रचनाएँ "विचार सागर" और "वृत्ति प्रभाकर" हिन्दी भाषामे लिखी। ये तीनो पुस्तके अपने विषयमे बेजोड हैं। उसी विचारसागर ग्रन्थका आश्रय लेकर विचारसागरदर्पण का सकलन स्वामी मनोहरदासजीने किया है।

"विचारसागरदर्पण" 'विचारसागर' का ही रूपान्तर है। विचारसागरकी भाषा प्राचीन पद्धतिकी है। आधुनिक हिन्दीको पढनेवाले व्यक्ति, उसके पढने तथा समझनेमे कठिनाई अनुभव करते है। उक्त कठिनाईके निवारणके लिए ही स्वामी मनोहरदासजीने यह प्रयास किया है। आपने "विचार सागर" के गद्य-भागको आधुनिक हिन्दीमे अनुदित कर सर्व-साधारण को समझनेका पथ प्रशस्त कर दिया है।

इसका नामकरण भी अन्वर्थ ही समझना चाहिए। जैसे दर्पणमे व्यक्ति अपने प्रतिबिम्वको स्पष्टरूपमे देख सकता है उसी तरह इस दर्पणमेभी "विचार-सागर" का प्रतिविम्व सम्यक्तया देखा जा सकता है। "विचारसागर" का पद्य भाग प्राय छोड दिया गया है। उसमेसे वहुत कम इस दर्पण मे स्थान पा सका है। गद्य भागका भी कही कही पूरा का पूरा अनुवाद नही कर, भावानुवाद किया गया है। जिससे उपयुक्त

संदर्भको समझनेमें तो कमी रहे नही तथा विस्तारका कुछ सक्षेप हो जाय ।

जो सज्जन 'वेदान्त दर्शन' के अद्वैत-सिद्धान्त जाननेकी आकांक्षा रखते हैं उनके लिए दर्पण, दर्पणवत् ही परम सहायक सिद्ध होगा । स्वामी निश्चलदासजी महाराजने इस ग्रन्थका निर्माण इसी उद्देश्यसे किया था कि जो जो जिज्ञासु सस्कृत भाषाको न समझनेके कारण वेदान्त-सिद्धान्तके ज्ञान से विहीन रह जाते है उनकी कठिनाई इस ग्रन्थसे सर्वथा दूर हो जाय । उसी ग्रन्थकी भाषा-सम्बन्धी कठिनाईका परिहार कर स्वामी मनोहरदासजीने आध्यात्मिक-ज्ञान-जिज्ञासुओके लिए बहुत उपादेय कार्य सम्पन्न कर दिया है । तदर्थ स्वामी मनोहरदासजी उन सभीके धन्यवादार्ह है । मैं आत्म-जिज्ञासुओसे निवेदन करता हूँ कि वे इस 'विचारसागरदर्पण' का अवश्य अध्ययन मनन कर अपनी ज्ञान-पिपासा शान्त करें । हरि ओ३म् ।

सं. २०१० फा. शु. २—शुक्र
श्रीदादूमहाविद्यालय—जयपुर

मगलदास स्वामी
( संचालक श्रीदादूमहाविद्यालय-जयपुर )

# सम्मति

संसारमे प्राणी-मात्र सुख-प्राप्तिकी चेष्टा आमरण करता रहता है। अधिकाश लोगोको जीवनावधि समाप्त होने तक इस सत्यका ज्ञान नही होता कि शाश्वत सुख अथवा प्रापञ्चिक दु खोसे निवृत्ति ऐहिक-वस्तु-विषय-भोगसे नही मिल सकती। परन्तु कुछ ऐसे लोग होते है जिनको कि ससारके क्षणभगुर सुखोका अनुभव करनेके पश्चात् उनकी दृष्टि जीवन-पूर्तिके लक्ष्यकी ओर जाती है। ऐसे लोगोके लिए महात्मा मनोहरदासजी द्वारा लिखित "विचार-सागरदर्पण" बहुत हितकर होगा। इस ग्रन्थमे लेखकनें वेदान्त-सारको प्रश्नोत्तरके रूपमे सात पाठोमे वाचकोंके सम्मुख प्रस्तुत किया है।

जैसाकि महात्माजी आरम्भमे ही कहते हैं'—"इस ग्रन्थका विषय जीव और ब्रह्मकी एकता है" इस छोटे ग्रन्थका रूप व्यापक है। गीता, उपनिषद्, योग-शास्त्र, रामायण, और महाभारत इन सब ग्रन्थोका सार इसमे पाया जाता है। दर्शन-शास्त्रके भिन्न भिन्न मतवादियो-जैसे साँख्य, द्वैतवादी और नैयायिकोकी महात्माजीने मार्मिक आलोचना की है। विषय गूढ होते हुए भी लेखकने अपनी सरल तथा ओजस्वी लेखन-शैलीसे व्यावहारिक दृष्टांतो द्वारा प्रकाश डाला है। स्वस्थ शरीर धर्मका सबसे बडा साधन है, इस उक्तिके अनुसार महात्माजीने एक अध्यायमे आत्म-

जिज्ञासुके लिए मिताहार, व्यायाम, योगासनाभ्यास इत्यादि अनुशासनके विषय सक्षिप्त रूपमे समझाए हैं।

भाषा शुद्ध, सुन्दर और सरल है। स्थान स्थान पर गूढ शब्दोका अनुवाद दिया हुआ है।

मुझे विश्वास है कि महात्माजीकी रचना, उन कार्य-ग्रस्त लोगोके लिए जिनको वेदोपनिषद् आदि मूल ग्रन्थोको पढ़नेका अवकाश नही मिलता या जिनको सस्कृत भाषाका पर्याप्त ज्ञान नही है, उनके लिये यह अत्यन्त ही लाभदायक सिद्ध होगी।

आ० द० पण्डित<br>
मुख्य आयुक्त (चीफ कमिश्नर)<br>
अजमेर

अजमेर<br>
ता॰ २१-१-१९५४

---

# सम्मति

श्रीस्वामी मनोहरदासजी महाराजने विचारसागरके आधारपर विचार-सागर-दर्पण नामके ग्रन्थकी रचना की है। यह ग्रन्थ अपने नामके यथार्थ अर्थको प्रकट करता है। विचार-सागरमे आये हुए तत्त्वको स्पष्ट-रूपमे देखने (जानने) के लिए सचमुच यह ग्रन्थ दर्पणका काम करता है। इसमे ग्रन्थ-कर्त्ताकी स्पष्ट प्रतिपादनकी शैली और अद्भुत बुद्धिका कौशल देखते ही बनता है। यह ग्रन्थ वेदान्त के अनुरागियोको इतना प्रिय लगा कि थोडे ही दिनोमे इसका प्रथम प्रकाशन समाप्त हो गया। अव जब द्वितीय प्रकाशन होने लगा, तो स्वामी मनोहरदासजीने ही उसके पुन सशोधन आदिका कार्य स्वय अपने हाथमे लिया। विचार-सागर-दर्पण के पुन प्रकाशनके अवसरपर विचार-सागरमे आये हुए दृष्टि-सृष्टि-वादके प्रसगको लेकर स्वामी मनोहरदासजीने एक निवन्ध लिखा। प्रथम उनका विचार था, कि इस निवन्धको टिप्पणीके रूपमे ही दिया जाय। परन्तु दृष्टि-सृष्टि-वाद नामक निवन्धका इतना विस्तार हो गया, कि एक दूसरी पुस्तिकाका उसने रूप धारण कर लिया। अतः यह निश्चय हुआ कि इस निवन्धको 'दृष्टि-सृष्टि' नामसे ग्रन्थके अन्तमे जोड दिया जावे। इस निवन्धको आदिसे अन्त तक हमने वडे गोरसे देखा। यह 'दृष्टि-सृष्टि' नामक निवन्ध जिज्ञासुओ के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। क्योकि वेदान्तके इस प्रमुख सिद्धान्त दृष्टि-सृष्टि-वादको यथार्थरूपमे न समझनेके

कारण जिज्ञासुओंकी बुद्धि प्रायः उलझनमें पड़ जाया करती है। क्योंकि दृष्टि-सृष्टि-वादको सुनकर जीवकी दृष्टिसे ही सम्पूर्ण विश्वकी रचना हुई है, ऐसा दृष्टि-सृष्टि-वादका गलत अर्थ जिज्ञासु मान बैठते है। और यह बात हृदयमें उतरती नही है; क्योकि जिज्ञासु सोचने लगता है कि ईश्वरकी यह महान् सृष्टि जीवकी दृष्टि-मात्र कैसे हो सकती है। इस सशयको दूर करते हुये दृष्टि-सृष्टि-वादका यथार्थ अर्थ इस निवन्धमे बतलाया गया है, कि जीवकी सृष्टि जीवकी दृष्टिसे उत्पन्न है, ईश्वरकी सृष्टि जीवकी दृष्टिसे उत्पन्न नही है। ईश्वरकी सृष्टि प्रथम है, और जीवकी दृष्टि अर्थात् उसका ज्ञान बादमे होता है, इसलिए ईश्वरकी सृष्टि जीवके लिये सृष्टि-दृष्टि है, और जीवकी सृष्टि ही जीवकी दृष्टिके समकाल है, अथवा जीवकी दृष्टि ही जीवकी सृष्टि है। इस रहस्यको जानकर जीव अपनी सृष्टिसे मुक्तिको प्राप्त कर सकता है; क्योकि जीवकी सृष्टि ही जीवके लिए वन्धनरूप है, ईश्वरकी सृष्टि वन्धनरूप नही है।

मैं आशा करता हूँ कि यह निवन्ध जिज्ञासुओको अत्यन्त प्रिय होगा, और इससे उनका मोक्षका मार्ग विल्कुल साफ हो जायगा। इसलिये इस निवन्धमे मेरी पूर्ण शुभ सम्मति है।

सवका अपना आप
**स्वामी गणेशानन्द**

प्रतिष्ठापित
स्वामी प्रेमपुरीजी सत्सग मंडल
१२ ए, सत्संग मडल १० लिटिल गिव्स रोड,
हैंगिग गार्डन, मलवार हिल, वम्वई ६

# सम्मति

वेदान्तकी प्रक्रियाओको साधारण लोगोके हृदय तक पहुंचानेका श्रीनिश्चलदासजी महाराजका सफल प्रयत्न वेदान्त-जगत्मे कोई अविदित वस्तु नही है । श्रीनिश्चलदासजी के समकालके लोगोके लिये आपकी कृति जिस प्रकार सरल रही, यह आधुनिक लोगोके लिये भाषा-परिवर्तनके कारण तो यद्यपि नही रही फिर भी सस्कृतानभिज्ञोके लिये जैसे वह सुगम है वैसे तो सस्कृत ग्रन्थ नही ही हैं यह तो निर्विवाद है । परन्तु आधुनिक परिमार्जित हिन्दीमे उसकी आवश्यकता अनुभव करनेवालोका एक वडा भारी अभाव सामने आता था, जिसके लिए श्रीस्वामी मनोहरदासजीने इस प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसे देखकर हमे वडा ही आनन्द हुआ । नामानुकूल ग्रन्थका गुण होना यह लेखकका एक विशिष्ट कौशल माना जाता है और वह चीज़ हमने इस विचार-सागर-दर्पणमे पाई । दर्पण, जो वस्तु होनेपर भी न दीखे उस वस्तु को अभिव्यक्त करनेका काम करता है , जैसे हम अपने मुखको स्वत. नही देख पाते और दर्पणके द्वारा मुखके आकार-प्रकारादि समझलेते हैं । जिस दर्पणमे ठीक ठीक प्रतिविम्व उतरे वही दर्पण विशिष्ट होता हे यह कहनेकी कोई आवश्यकता नही है । इसी लौकिक नियमका अनुसरण करता हुआ यह विचार-सागरदर्पण भी विचारसागर ग्रन्थका पूरा प्रतिविम्व लेता हुआ अपनी नामानुकूल विशिष्टताको रखता है, यह वात पाठकोके लिये अविदित नही होगी ।

कुछ विशेषता भी इस ग्रन्थमे हमने देखी। वह यह है कि विचारसागर मूलग्रन्थमे क्वचित्क्वचित् विशेष-प्रयोजन-सहित प्रतीत न होनेवाले जो अश रहे हैं, उन्हे दूसरे ढगसे लगाकर विशेष उपयोगी बनाया है एवं क्वचित् सक्षिप्त-तया लिखित भागको विस्तृत रूप दे दिया गया है। और विचारसागरमे आए हुए दृष्टि-सृष्टि-वादको अधिक सरलरूप से व विस्तारसे समझानेके लिए आपने इस ग्रन्थके अन्तमे 'दृष्टि-सृष्टि' नामक छोटासा ग्रन्थ लिखकर जिज्ञासुओके लिये बहुत हितकर कार्य किया है। विचारसागरमे यह अत्यन्त सक्षिप्त-रूपसे बताया गया है परन्तु 'दृष्टि-सृष्टि' मे इसे विशदरूपसे समझाया गया है। यद्यपि 'दृष्टि-सृष्टि' ग्रन्थमे लिखित दृष्टि-सृष्टि-वादमे और प्राचीन आचार्योंके दृष्टि-सृष्टि-वादमे कुछ अन्तर अवश्य मालूम पडता है, फिर भी **"यया यया भवेत्पुंसाँ व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि। सा सैव प्रक्रिया साध्वी ज्ञेयासा च व्यवस्थितिः॥"** इस वार्त्तिक-वचनके अनुसार मुमुक्षु-विशेषके लिये यहाँपर लिखित प्रक्रिया भी उपयोगी है यह निश्चित है, अतः इसके औचित्यानौचित्यको लेकर खण्डन-मण्डनादिकी आवश्यकता नही है। 'दृष्टि-सृष्टि' के अन्दर, साधारण लोगोंके दिमागमे भी दृष्टि-सृष्टि-वाद जच जाय, ऐसा तरीका निकालनेका प्रयास हुआ है; अत एव यह प्रशसनीय है। हमे विश्वास है कि इससे भी मुमुक्षुओंका वडा हित होगा।

शिवरात्रि २०१५

**स्वामी काशिकानन्द**
न्याय-वेदान्ताचार्य

ओ३म्

# दो शब्द

मैंने श्रीविचारसागरदर्पणको पढा है। इसमे कोई सशय नही है कि लेखकने परिश्रम करके, मूल विचार-सागर का निचोड निकालकर इस पुस्तकमे भर दिया है। इससे जिज्ञासु सज्जनोका अत्यन्त हित होगा, और जिन जिज्ञासुओ को मूल विचारसागरके अध्ययन करनेमे जो भी कठिनाइया आती है, वे सव इस दर्पणके पढने व विचार करनेसे दूर हो जाँयगी। अतः यदि इस पुस्तकके पढनेके वाद, मूल विचार-सागरका अध्ययन करना होगा तो सम्भव है कि श्रीमूलविचार-सागर शास्त्रके अभिप्रायका सुगम रीतिसे ग्रहण हो सकेगा। श्रीमूलविचारसागर❀ हिन्दीमे श्रीस्वामी निश्चलदासजी

---

❀धन्य हैं श्री स्वामी निश्चलदासजी महाराज जिन्होने हिन्दी भाषाके जाननेवाले आत्म-ज्ञानके इच्छुक मुमुक्षु सज्जनोंके लिए अति उत्तम वेदान्तका सुन्दर ग्रन्थ वनाया है, जिसके समान हिन्दीमे वेदान्तका ऐसा अद्भुत ग्रन्थ कोई भी नही है।

श्रीरवीन्द्रनाथकी आत्म-कथामे लिखा है कि जिसका स्वय अच्छी तरहसे अनुभव किया है उसे यदि दूसरोंके लिए अनुभव-गम्य वना दिया जाय तो लोग उसका सम्मान करते हैं। अपनी स्मृतिमे जो चित्रके रूपमे खिल उठा है उसे शव्दोमे यदि खिला दिया जाय तो वह साहित्यमे स्थान ग्रहण करनेके योग्य वन जाता है।

महाराजने रचा है। जो महान् विद्वान् ब्रह्मनिष्ठ थे। इस शास्त्रमे वेदान्तकी प्रक्रियासे अनेक युक्तियो द्वारा वेद शास्त्रो के सार 'जीव ब्रह्मकी एकता' का अच्छी प्रकारसे कथन किया गया है। जिसके अध्ययन करनेसे अधिकारी सज्जनोंकी वृत्ति वास्तवमे ब्रह्माकार हो जाती है; अतः केवल यह पुस्तक (विचारसागरदर्पण) पढकर सन्तोष करके बैठ जाना ही पर्याप्त नही, प्रत्युत श्रीस्वामी निश्चलदासजी महाराजके रचे हुए श्रीविचारसागर ग्रन्थका किसी आत्म-अनुभवी महानुभाव दिव्य-दृष्टिवाले दयालुसे अधिकारी जनोको अध्ययन करना उचित है। श्रीविचारसागर हिन्दी भाषाके अतिरिक्त, इङ्गलिश, उर्दू, गुजराती, सिन्धी, तेलगु, तामील, कन्नड़ी इत्यादि भाषाओमे भी प्रकाशित हुआ है।

मन्दसौर (मध्यभारत)

(स्वामी) लीलाशाह

सवत् २०१० पौष कृष्णा सप्तमी



# भूमिका

'श्रीविचारसागरदर्पण' की भूमिका लिखनेके लिए मुझसे कहा गया। इसे मैं अपना सौभाग्य ही मानता हूँ। मैं एक साधारण गृहस्थी हूँ। इसकी भूमिकाके लिए किसी विद्वान्, ज्ञानी, योगी या तपस्वीका चुनाव होना चाहिए था। इन सब योग्यताओके अभावमे मेरे दो शब्दोका क्या मूल्य होगा, यह मैं नही जानता। दर्पणके प्रकाशकोका मेरे प्रति प्रेमपूर्ण पक्षपात ही इसका जुम्मेदार है। अस्तु।

मैंने इस पुस्तकको कही-कही ध्यानसे और अधिकाँश सरसरी तौर पर देखा। मुझे कहना चाहिए कि यह 'गागर मे सागर' भरनेका काफी सफल प्रयत्न है। ज्ञान-ग्रन्थोमें स्वामी श्रीनिश्चलदासजीके 'विचार-सागर' का बडा महत्त्व है। इतनी सरल भाषामे वेदान्तका साँगोपाँग वर्णन शायद ही किसी दूसरेने किया हो। उसका भी यह 'दर्पण' है, जिसको श्रीस्वामी मनोहरदासजीने बडी योग्यता और परिश्रमसे जिज्ञासु और साधकोके लिए तैयार किया है। उन्होने, जहाँ तक बुद्धिकी पहुच है, यह समझानेका प्रयत्न किया है कि सब मे एक ही आत्माका निवास है। साधक-बाधक सभी दृष्टियो से इस तथ्यका निरूपण किया है। जहाँ तक बुद्धिके परे, अनुभव का सम्बन्ध है, योग और योगाभ्यासका भी यथोचित विवेचन किया गया है, जिससे ब्रह्मप्राप्तिके इच्छुकोको काफी

सहायता मिलेगी। ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मप्राप्ति दोनोके इच्छुको के लिए यह पुस्तक अच्छी मार्ग-दर्शिका सिद्ध होगी, इसमे मुझे कोई सन्देह नही है।

आत्म-ज्ञान और आत्म-साधना केवल आध्यात्मिक दृष्टि से ही नही बल्कि व्यावहारिक जीवनमें सफलता पानेके लिए भी आत्म-सुखके लिए नही, साँसारिक या व्यावहारिक सुखके लिए भी आवश्यक है। जो इन दोनोको एक दूसरेसे पृथक् मानते है वे मेरी समझसे, भूल करते हैं। जिसे हम व्यावहारिक या साँसारिक जीवन कहते है वह आत्मिक जीवनका बाह्य या लौकिक रूप ही है। जिस प्रकार मनकी उपेक्षा करके शरीरकी साधना नही की जा सकती उसी प्रकार आत्माकी उपेक्षा करके लोक-व्यवहार सफलता-पूर्वक नही चलाया जा सकता। आत्म-सिद्धिके बाद मनुष्य, समाज, राष्ट्र और ससारका काम चलानेके लिए अधिक उपयोगी सिद्ध होता है, इसलिए भी ऐसे ग्रन्थोका पठन और मनन न केवल साधु वलिक प्रत्येक विद्यार्थी और गृहस्थके लिए भी आवश्यक है। इस उद्देश्यकी सिद्धिमे यह ग्रन्थ वहुत हद तक सहायक होगा, ऐसा मुझे विश्वास है।

आशा है, इस ग्रन्थको अपनाकर हिन्दीके पाठक, स्वामी श्रीमनोहरदासजीको ऐसे और भी उपयोगी ग्रन्थ सरल भाषामे लिखनेकी, प्रेरणा देंगे'

Chief Minister's Residence<br>AJMER<br>२ मार्च १९५४

हरिभाऊ उपाध्याय<br>मुख्य मत्री<br>अजमेर

# प्राक्कथन

इस विचारसागरदर्पणके प्रकाशित होनेका श्रेय अजमेरकी जनताको है। मैं अजमेरमे सन् १९५३ के तृतीय मासमे आया था। श्रीसद्गुरु स्वामी श्रीलीलाशाहजी महाराजजीकी आज्ञानुसार, आनासागरकी वारहदरीपर गीता व विचारसागर का प्रवचन होने लगा। यहाँकी जनताको वेदान्तमे रुचि रखते हुए देखकर, जोधपुरसे मूल विचारसागर मगवाकर वाँटे गए। इस प्रकार जव सत्सगियोमे विचारसागरका प्रचार होने लगा तव उनमे यह इच्छा उत्पन्न हुई कि यह विचारसागर सरल, खडी भापामे व व्यावहारिक दृष्टान्तोसे स्पष्ट करते हुए यदि मेरे द्वारा लिखा जाय तो अच्छा हो। इस प्रकार अजमेर-वासियोकी इच्छा व भगवत्प्रेरणासे मैने इस कार्यको हाथमे लिया और यथावुद्धि इसे सरल व स्पष्ट वनानेका प्रयत्न किया है।

विचारसागर दो भागोमे है। एक पद्य भाग दूसरा गद्य भाग। गद्य भाग पद्य भागसे वडा है। जो पद्य भागमे है उस सारेको महात्मा श्रीनिश्चलदासजीने विस्तारपूर्वक गद्य-भागमे लिख दिया है। अत• यदि कोई श्रीविचारसागरका केवल पद्य भाग पढे तो उसे विचारसागरका पूरा वोध नही होगा किन्तु यदि केवल गद्य भाग पढा जाय तव तो उस एक भागसे भी पूरा वोध हो सकता हैं। इसी कारण व ग्रन्थके वडे होनेके भयसे हमने पद्य भागको सपूर्णतया न लेते हुए गद्य भागको ही लिया है। इसमे जहाँ शास्त्रार्थके कठिन स्थल आते है, जो जन-साधारणके वुद्धिगम्य नही है, उनका साराँश लेनेका ही प्रयत्न किया है। पाँचवे तरङ्गके स्त्रीनिन्दा आदि स्थानोको वैसेका वैसा न लेते हुए उसके वास्तविक अभिप्राय वैराग्य व

ब्रह्मचर्यका ही वर्णन किया है। कहीं कही मुख्य प्रसगोंको और अधिक स्पष्ट व प्रामाणिक बनानेके लिए व्यावहारिक दृष्टान्त व गीता, रामायण, उपनिषद्, पचदशी आदि अन्य शास्त्रोके मूल प्रमाण भी दिये गए हैं। प्रयत्न तो यही किया गया है कि जिस वेदान्त दर्शनको लोग कठिन समझते हैं तथा जिस दर्शनके नाते विदेशी भी भारतको मानते हैं, जैसे डाक्टर गोल्डस्टकर (Dr. Goldstuker) ने लिखा है कि- "The Vedant is the sublimest machinery set into motion by oriental thought" अर्थात् वेदान्त सबसे ऊँचे दर्जेका यन्त्र है, जिसे पूर्वीय विचार-धाराने प्रवृत्त किया है; वह वेदान्त दर्शन साधारण जनताको सरलतासे समझमे आजाय।

इस कृतिमे मैं कितना सफल हुआ हूँ इसका निर्णय तो आप पाठकगण ही करेंगे।

**गच्छतः स्खलन क्वापि भवत्येव प्रमादतः।**
**हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः॥**

इस उक्त्यनुसार त्रुटियोका होना असम्भव नही है; अतः जिन इतरहितचिन्तक विद्वान् महात्माओको कोई त्रुटि दृष्टिगोचर हो, वे कृपया इस पुस्तकके पतेपर सूचित करके अनुगृहीत करेंगे; जिससे द्वितीय सस्करणमे उन अशुद्धियोको परिमार्जित करनेका प्रयास किया जाय।

इस श्रीविचारसागरदर्पणसे किसी एकको भी यदि आत्म-ज्ञान हो गया तो मैं अपने परिश्रमको सफल समझूंगा।

इति शुभम्

अजमेर—संवत् २०१०<br>माघ शुक्ला त्रयोदशी

मनोहरदास स्वामी

—द्वितीय सस्करणका—

# प्राक्कथन

श्रीविचार-सागर-दर्पणको जिज्ञासुजनोने वडे उत्साह व श्रद्धासे अपनाया । इस वातसे अपने परिश्रमके साफल्यको देखकर, चित्त प्रसन्न हुआ तथा अन्य सेवा करनेका उत्साह मनमे जागृत हुआ । उसके फलस्वरूप तथा दृष्टि-सृष्टि-वाद जैसे गम्भीर सिद्धान्तको सुलझाकर सरल करनेके भावसे व जिज्ञासुजनोके प्रारब्धानुसार ईश्वरीय प्रेरणासे, इस सिद्धान्त पर कुछ लिखनेका सकल्प हुआ । और वह सकल्प आप लोगो के समक्ष, इस श्रीविचार-सागर-दर्पणके अन्तमें छपे हुए 'दृष्टि-सृष्टि' नामक छोटी पुस्तिकाके रूपमे सम्पूर्ण हुआ है ।

इस छोटेसे ग्रन्थमे भिन्न भिन्न दृष्टिकोणसे दृष्टि समकाल-सृष्टि, दृष्टि-रेव-सृष्टि तथा सृष्टि-दृष्टि इन तीनो सिद्धान्तोका समन्वय करनेका ही प्रयास किया है । जिन मान्यताओ के कारण, यह दृष्टि-सृष्टि-सिद्धान्त केवल कल्पना-मात्र प्रतीत होता था उन मान्यताओको पूर्वपक्ष-द्वारा स्पष्ट करते हुए, उत्तर-पक्षमे उसके वास्तविक मर्मको समझानेका प्रयास किया है ।

यदि एक भी जिज्ञासुको यह दृष्टि-सृष्टि-वादका सुलझाया हुआ स्वरूप हृदयङ्गम हो गया तो मैं अपना प्रयास सफल समझूंगा ।

इति शिवम्

अजमेर—संवत् २०१६ आश्विन कृष्णा द्वितीया

स्वामी मनोहरदास
१९-९-१९५९

ॐ

—तृतीय संस्करणका—

# प्राक्कथन

श्रीविचार-सागर-दर्पणका प्रथम संस्करण छः वर्षोंमें बिक गया था। परन्तु द्वितीय संस्करण तो चतुर्थ वर्षमें पाँव रखते रखते ही जिज्ञासुओ द्वारा इतना शीघ्र अपनाया गया कि जो मुझे इन्दौर और भोपालकी यात्रा बहुत जल्दी समाप्त करके तुरन्त अजमेर आना पडा। इससे सिद्ध होता है कि ज्यों ज्यों समय बीतता है त्यो त्यों श्रीविचार-सागर-दर्पण की सरलतामयी महत्ताकी मुहर जिज्ञासुजनोके हृदय-पटलपर अपना चिन्ह छोडती जा रही है। कुछ दयालु सन्त महापुरुषों के पत्रोंसे ज्ञात होता है कि वे भी अपने जिज्ञासुओंको श्रीविचार-सागर-दर्पण पढाते समय काफी सरलताका अनुभव करते हैं। इस प्रकार जिज्ञासु तथा महात्माओं द्वारा दर्पणका इतना स्वागत देखकर हृदयको सन्तोष होता है कि परिश्रम सफलताकी सोपानका समारोहण कर रहा है।

'दृष्टि-सृष्टि' नामक पुस्तिकाका भी वेदान्त-जगत्‌ने अच्छा स्वागत किया है; इससे भी चित्त सन्तुष्ट है। एक महात्माजीने प्रेरणा दी कि इस 'दृष्टि-सृष्टि' नामक लघु ग्रन्थको श्रीविचार-सागर-दर्पणसे अलग भी यदि किया जाय तो दृष्टि-सृष्टि-वादके विशेष जिज्ञासुओको अधिक लाभ होगा। इसलिए अबके तृतीय संस्करणमें कुल ३००० तीन

हजार पुस्तके छपवाई हैं। जिनमेसे २००० का तो दर्पण और 'दृष्टि-सृष्टि' दोनोका इकट्ठा जिल्द बन्धवाया है बाकी १००० एक हजारकी अलग अलग जिल्द करवाई है। जिससे सभीको खरीदनेमे सुविधा हो सके। श्रीविचार-सागर-दर्पणके अन्तमे छपे हुए 'दृष्टि-सृष्टि' नामक इस लघु ग्रन्थको यद्यपि पूर्व-पद्धत्यनुसार कथित दृष्टि-सृष्टि-वादके सस्कारोसे सस्कृत कुछ सज्जनोको आपातरूपसे इस ग्रन्थको पढनेसे विरोधाभासका प्रतीत होना असभव नही है, परन्तु यदि धैर्य-पूर्वक निष्पक्ष-भावसे तटस्थ होकर ऊहापोहात्मकरूपसे इसका अध्ययन किया जाय तो विरोधाभासका परिहार होकर समन्वयका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जायगा।

कुछ साधक इस वादको समझनेके लिए अनिर्वचनीय ख्यातिकी उपेक्षा करके आत्म-ख्यातिका सहारा लेकर उलझ जाते हैं। वास्तवमे इस दृष्टि-सृष्टि-वादका मूल स्रोत ही अनिर्वचनीय ख्याति है। भला मूलको काटकर फलकी आशा रखना कैसे उचित हो सकता है? ससारको बुद्धिका खेल मानना आत्म-ख्यातिरूपी बौद्धमतकी शरणमे जाना है। कुछ लोग इसे इष्टापत्ति मानकर अनिर्वचनीय ख्यातिकी अवहेलना करते हैं, वे दूसरे शब्दोमे जगत्को मायाका परिणाम न मानकर व्यष्टि बुद्धिका ही परिणाम मानते हैं। इससे आनेवाले अनेक दोषोका निरूपण इस लघु ग्रन्थमे किया गया है। वास्तवमे यह अनिर्वचनीय ख्यातिही जगत्के मिथ्यात्वको स्पष्ट करती हुई, दृष्टि-सृष्टि-वादके गुप्त रहस्य का उद्घाटन करती है। और उद्घाटित दृष्टि-सृष्टि-वाद ही अजात-वादको मुखरित करता है।

आशा है जिज्ञासुजन धैर्य-पूर्वक इस दृष्टि-सृष्टिका अवगाहन करके दृढ अपरोक्ष जगन्मिथ्यात्वका निश्चय प्राप्त करके एक अखण्ड अस्ति-भाति-प्रियरूपसे व्यापक सच्चिदानन्दघन परब्रह्मरूपसे स्थितिरूप परम पदको प्राप्त करके निज मानव जीवनको सफल करेंगे ।

अबके इस तृतीय सस्करणमे श्रीविचार-सागर-दर्पणके प्रथम तरगका कलेवर भी बढाया गया है। यही इस सस्करणकी विशेषता है। पहले कुछ जिज्ञासु लोग यह प्रार्थना करते रहे कि प्रथम तरग बढ़ाना चाहिए इसलिए तथा अन्य जिज्ञासुओके भी सस्कार-वशात् ईश्वरीय प्रेरणा से प्रथम तरग आशासे भी अधिक बढ़ गया है। इस पुस्तक का नाम दर्पण ही तो ठहरा। जैसे नतोदर दर्पण (Concave Mirror) मे मुख बडा दिख जाता है, उसी प्रकार इस प्रथम तरगमे श्रीस्वामी निश्चलदासजी महाराजका आन्तरिक भाव विस्तारको प्राप्त हो गया है। पहलेके दो सस्करणोमे प्रथम तरगके जो जो विषय छूट गए थे उन सभी विषयोका सरल एव विस्तृतरूपसे वर्तमान सस्करणमे प्रवेश हो गया है।

"अन्तरंग धारै तजै बहिरगनको सग।"

इस पक्तिका स्पष्टीकरण विस्तार-पूर्वक हुआ है। सगुण भेद-भक्ति तथा भेद-मूलक यज्ञादि कर्मोंका आत्म-ज्ञानसे सम-समुच्चय अर्थात् एक साथ मेल नही हो सकता, इस रहस्यका उद्घाटन, राम-गीता, शिव-गीता, देवी-गीता, उत्तर-गीता, भगवद्गीता, सनत्सुजातीय पंचदशी व पाराशर-स्मृति आदि अनेक ग्रन्थोके प्रमाण देकर पर्याप्त परिश्रम-पूर्वक

किया गया है। इससे यह पूर्णरूपसे स्पष्ट सिद्ध हो गया है कि आत्मा और ब्रह्मके एकत्वका ज्ञान ही मोक्षका दाता है। शेष निष्काम कर्म व निष्काम उपासना आदि चित्त-शुद्धिके साधन है।

अत एव यह तृतीय सस्करण पहलेके सस्करणोसे वडा एव विशेष उपयोगी वन गया है। इसी कारण जिनके पास प्रथम सस्करण हैं उनके लिए भी यह सस्करण ग्राह्य रहेगा।

और इसलिए पृष्ठ-सख्या वढ जानेसे तथा कागज आदिके महगे हो जानेके कारण अवके मूल्य पहलेसे वढ गया है।

आशा है इस विस्तृत सस्करणसे जिज्ञासुजन अपने मार्गका सुगमतासे सही परिचय प्राप्त करके, अन्य वहिरग साधनोसे हटकर वेदान्तके श्रवण मनन व निदिध्यासन-द्वारा आत्म-स्वरूप परमात्माका साक्षात्कार प्राप्त करके मानव जन्मके चरम लक्ष्य मोक्ष पदको प्राप्त करनेमे सफल होगे।

इस प्रथम तरगकी विस्तृत व्याख्यासे यदि किसी एक भी जिज्ञासुके हृदयमे ज्ञानकी गरिमा अकित हो जाय और वह ज्ञान-मार्गपर चलकर आत्म-स्थितिको प्राप्त करले तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूगा।

अन्तमे मैं जिज्ञासुजनोकी ब्रह्मनिष्ठाकी कामना करता हुआ इस प्राक्कथनको समाप्त करता हूँ।

इति शम्

अजमेर सवत् २०२०
अधिक आश्विन कृष्णा द्वितीया

स्वामी मनोहरदास
५-१०-१९६३

# श्री-विचार-सागर-दर्पण
## की
## * विषय-सूची *

|| तृतीय तरंग ||

( अथ गुरु-शिष्य-लक्षण तथा गुरु-भक्ति-प्रकार-निरूपणम् )



|| चतुर्थ तरग ||

( अथ उत्तमाविकारी-उपदेश-निरूपणम् )

## ॥ पचम तरग ॥

( अथ श्रीगुरुवेदादि-व्यावहारिक-प्रतिपादनम्<br>अथवा मध्यमाधिकारी-साधन निरूपणम )

| क्रम-संख्या | विषय | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|---|
| ११२ | मिथ्या दुःखका मिथ्या साधनसे नाश | . १९६ |
| ११३ | एक राजाका स्वप्न | . . १९७ |
| ११४ | मिथ्या दुःखका मिथ्या साधनसे नाश | ... १९८ |
| ११५ | समसत्ताकी आपसमे साधक-बाधकता | .... १९९ |
| ११६ | तीन प्रकारकी सत्ता | २०० |
| ११७ | प्रातिभासिक व व्यावहारिक सत्तामे भेद | २०१ |
| ११८ | ससारकी उत्पत्तिका कोई क्रम नही | . २०२-२०३ |
| ११९ | मायाके स्वरूपका वर्णन | .. २०४-२०६ |
| १२० | अज्ञानकी स्वाश्रयता व स्वविषता | ... २०७ |
| १२१ | वाचस्पतिका मत ठीक नही | . २०८ |
| १२२ | अंशीरूप अज्ञान एक है | .... २०९ |
| १२३ | अज्ञान शुद्ध-ब्रह्मके आश्रित हैं | .... २१० |
| १२४ | ईश्वरको जगदुत्पत्तिकी इच्छा क्यो ? | ... २११ |
| १२५ | सूक्ष्म-सृष्टिका निरूपण | .... २१२ |
| १२६ | अन्तःकरण और प्राणकी उत्पत्ति | . २१३ |
| १२७ | ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रिय | .... २१४ |
| १२८ | पंचीकरण-निरूपण | .. २१५ |
| १२९ | स्थूल ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति | .. २१६ |
| १३० | तीन शरीर व पाँच कोश | ... २१७ |
| १३१ | ईश्वरके पाँच कोशोका वर्णन | .. २१८ |
| १३२ | विरोचनका सिद्धान्त | . . २१९ |
| १३३ | इन्द्रिय, प्राण व मन-आत्मवादी | २२० |
| १३४ | विज्ञान-आत्मवादी बौद्धका मत | .. २२१ |
| १३५ | आनन्दमय कोशको आत्मा माननेवाले | .... २२२ |
| १३६ | आत्मा नित्य व चेतन-स्वरूप है | . . २२३ |
| १३७ | पाच कोशोका आत्मासे विवेक | ... २२४ |

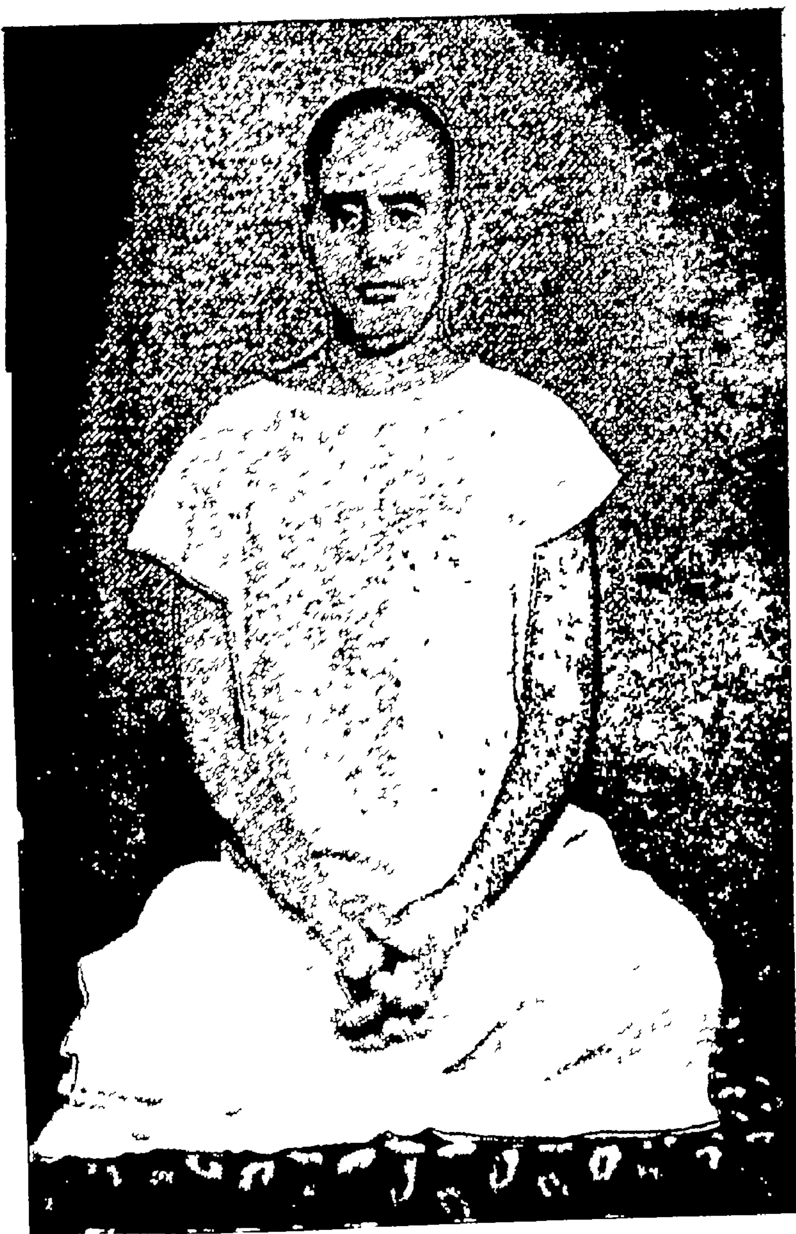
| क्रम-सख्या | विषय | | पृष्ठ-सख्या |
|---|---|---|---|
| १३८ | पाँचो कोशोसे अत्मा न्यारा है | .... | २२५ |
| १३९ | पंचकोश-विवेक | .... | २२६ |
| १४० | आत्मामे संसाररूप बन्धन नही | .... | २२७ |
| १४१ | वेदान्त-श्रवणका फल | .... | २२८ |
| १४२ | ज्ञानी कर्त्तव्यकी आगमे नही झुलसता | .... | २२९ |
| १४३ | कर्माभासका निरूपण | .... | २३० |
| १४४ | अपना असली स्वरूप साक्षी अकर्त्ता है | .... | २३१ |
| १४५ | गोप्य तत्त्वका उपदेश | .... | २३२-२३४ |
| १४६ | लयचिन्तन | .... | २३५-२३७ |
| १४७ | ग्यान व ध्यानमे भेद | .... | २३८ |
| १४८ | प्रतीक ध्यान | .... | २३९ |
| १४९ | सम्पद, ध्येय व अहंग्रह ध्यान | .. | २४० |
| १५० | मोक्षके भेद | .... | २४१-२४२ |
| १५१ | ॐकारका अहंग्रह-ध्यान | ... | २४३-२४४ |
| १५२ | कैवलल्य मोक्ष | .... | २४५ |
| १५३ | कैवलल्य मोक्षका साधन | .... | २४६ |
| १५४ | ॐद्वारा ब्रह्मका अहंग्रह ध्यान | . | २४७ |
| १५५ | ॐके अहग्रह ध्यानका फल | ... | २४८ |
| १५६ | सगुण ॐका अहग्रह-ध्यान | | २४९ |
| १५७ | निर्गुण ॐका अहग्रह-ध्यान | .... | २५०-२५२ |
| १५८ | निर्गुण ओंकारका ध्यान | ... | २५३-२६४ |
| १५९ | लयचिन्तनका अनुवाद | .... | २६५-२६६ |
| १६० | ओंकारका चिन्तक ही मुनि है | .... | २६७ |
| १६१ | निर्गुण ध्यानके अनधिकारीका कर्त्तव्य | .... | २६८ |

## ॥ षष्ठ-तरग ॥

( अथ श्रीगुरुवेदादि-साधन-वर्णनम् )

## ॥ सप्तम तरंग ॥

(अथ जीवन्मुक्ति-विदेहमुक्ति-वर्णनम)



श्रीमत्स्वामी मनोहरदासजी महाराज



# श्री-विचार-सागर-दर्पण

## -: अथ वस्तु-निर्देश-रूप-मंगलाचरणम् :-

विघ्न अर्थात् ग्रन्थकी समाप्तिमे प्रतिबन्धक ( रुकावट डालनेवाले ) जो पाप होते है, उनकी निवृत्तिके लिये मन, वाणी और शरीरसे व्यापार करनेको कहते हैं मगलाचरण करना।

शका :— विघ्नोके नाशके लिए स्वामी श्रीनिश्चलदासजी अपने मनमे ही मगलाचरण करलेते, ग्रन्थमे दोहेरूप मे लिखनेकी क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर — (१) यदि स्वामी श्रीनिश्चलदासजी मगलाचरणको ग्रन्थमे न लिखते, तो आस्तिक लोग ( जिज्ञासु ) उनको नास्तिक समझकर उनके ग्रन्थकी ओर प्रवृत्त न होते।

(२) अपने पूर्वजलोग प्रत्येक शुभ कार्यको करते समय मगलाचरण करते थे, इस परम्पराको बताने तथा कायम रखनेके लिए मगलाचरणको ग्रन्थमे लिखना आवश्यक हुआ।

(३) ग्रन्थके आदि, मध्य तथा अन्तमे मगलाचरण करना चाहिये, शिष्योको ऐसी शिक्षा देनेके लिये उन्होने ग्रन्थके आदि, मध्य तथा अन्तमे मगलाचरण लिखा।

मंगलाचरण (१) वस्तुनिर्देशरूप (२) आशीर्वादरूप तथा (३) नमस्काररूप भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। वे फिर अवातर भेदसे सत्ताईस (२७) प्रकारके होते हैं। इनका विस्तार "बोध-रत्नाकर" आदि ग्रन्थोमे लिखा है।

**शंका :—** कृपया इन तीनों मगलाचरणोको संक्षेपमे कहिए।

**उत्तर :—** सगुण अथवा निर्गुण परमात्माको यहाँ वस्तु कहते है। उसके निर्देश अर्थात् कथन करनेको कहते हैं **"वस्तु-निर्देश-रूप-मंगलाचरण"** करना। अपने इष्ट देव अथवा गुरु आदिको नमस्कार करनेको कहते हैं **"नमस्काररूप मंगलाचरण"** करना। अपने अथवा शिष्योके इष्ट पदार्थोंकी प्राप्तिके लिए प्रार्थना करनेको कहते हैं **"आशीर्वादरूप मंगलाचरण"** करना।

इनमेसे निर्गुण-वस्तु-निर्देशरूप मंगलाचरणको पाच दोहोमे यहा ग्रन्थके आरम्भमे स्वामी श्रीनिश्चलदासजी महाराज करते हैं।

**दोहा :—जो सुख नित्य प्रकाश विभु, नामरूप आधार।**
**मति न लखै जिहि मति लखै, सो मै शुद्ध अपार ॥१॥**

**अर्थ :—** जो सुखमय है, जो नित्य है, जो प्रकाश अर्थात् ज्ञानस्वरूप है, जो विभु अर्थात् सर्वव्यापक है, जो

नामरूप जगत्का आधार अर्थात् अधिष्ठान है, जिसको बुद्धि नही जान सकती, तथा जो बुद्धिको जानता है, अथवा शब्दकी **शक्ति-वृत्तिसे** बुद्धि जिसको नही जान सकती, किन्तु शब्द की **लक्षणा-वृत्तिसे** बुद्धि जिसको जान सकती है, अथवा मलिन बुद्धि अर्थात् मलविक्षेप दोप-सहित बुद्धि जिसको नही जान सकती, किन्तु शुद्धबुद्धि **फल-व्याप्तिसे** नही, परन्तु **वृत्ति-व्याप्तिसे** ब्रह्मके आवरणरूप अज्ञानको हटाकर जिस ब्रह्मको विपय कर सकती है , सो शुद्ध तथा अपार अर्थात् देश-काल-वस्तुके अन्तसे रहित ब्रह्म मै हूँ ।

**दोहा :– अब्धि अपार स्वरूप मम, लहरी विष्णु महेस ।**
**विधि रवि चन्दा वरुन यम, सक्ति धनेस गनेस ।।२।।**

अर्थ —मेरा ( कूटस्थ साक्षी ) का स्वरूप अब्धि अर्थात् समुद्रकी तरह अपार अर्थात् अन्तरहित है । जिस प्रकार समुद्रकी लहरे समुद्रसे भिन्न नही है किन्तु समुद्रमे ही कल्पित है, ठीक उसीप्रकार विष्णु, महेश, विधि ( ब्रह्मा ), रवि ( सूर्य ), चन्द्र, वरुण, यमराज, शक्तिदेवी, धनेश ( कुवेर ) गणेश इत्यादि सब देवतारूप लहरें समुद्ररूप मुझ शुद्ध चेतनसे भिन्न नही हैं, किन्तु ये सब मुझमे ही कल्पित है ।

दोहा .– जा कृपालु सर्वज्ञको, हिय धारत मुनि ध्यान ।
ताको होत उपाधितैं, मोमैं मिथ्या भान ।।३।।

अर्थ — जिन कृपालु सर्वज्ञ ईश्वरका मुनिजन हृदयमे ध्यान करते हैं, वे ईश्वर, जैसे रस्सीमें साप और स्वप्नमे

नगर इत्यादि मिथ्या प्रतीत होते हैं, उसीप्रकार मुझ शुद्ध चेतनमे माया-उपाधिसे मिथ्या ही प्रतीत होते हैं।

**दोहा:—ह्वै जिहि जाने बिन जगत मनहु जेवरी साँप।**
**नसै भुजग जग जिहि लहै, सोऽहं आपे आप ॥४॥**

**अर्थ :—** जैसे जिस रस्सीको बिना जाने साप प्रतीत होता है, वह रस्सी उस कल्पित सापका **अधिष्ठान** मानी जाती है। इसी प्रकार जिस ब्रह्मको बिना जाने यह ससार वास्तविक प्रतीत होता है, वह ब्रह्म इस कल्पित ससारका **अधिष्ठान** है। और जैसे रस्सीरूप अधिष्ठानके ज्ञानसे कल्पित अर्थात् अध्यस्त सर्पकी निवृत्ति होती है, उसी प्रकार जिस अधिष्ठानरूप ब्रह्मको जाननेसे इस कल्पित संसारकी निवृत्ति होती है, **वह अधिष्ठानरूप ब्रह्म मैं स्वय हूँ।**

**दोहा .— बोध चाहि जाको सुकृति, भजत राम निष्काम।**
**सो मेरो है आतमा, काकूं करूं प्रनाम ॥५॥**

**अर्थ :—** सुकृति अर्थात् पुण्यात्मा जिज्ञासु-जन ज्ञानकी इच्छासे अन्तःकरण शुद्ध करनेके लिए जिस निर्गुण रामका भजन करते है, वह राम मेरा आत्मा अर्थात् स्वरूप ही है, अर्थात् वह राम मैं ही हूँ। फिर मैं किसको प्रणाम करूं, अर्थात् मुझसे भिन्न और कोई वस्तु है ही नहीं जिसे मैं प्रणाम करूँ।

॥ इति वस्तु-निर्देश-रूप-मगलाचरणं समाप्तम् ॥

# प्रथमस्तरंगः

## ❁ अथ अनुबन्ध-सामान्य-निरूपणम् ❁

ग्रन्थके आदिमें सदा अनुबन्ध बतलाए जाते हैं। अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध, इन चारोंको अनुबंध कहते हैं। उनमेंसे पहले उत्तम अधिकारीका वर्णन करते हैं।

दोहा — मल विक्षेप जाके नहीं, किन्तु एक अज्ञान।
  ह्वै चव साधन सहित नर, सो अधिकृत मतिमान ॥

जिस पुरुषने निष्काम कर्म और उपासनाके द्वारा मल अर्थात् पाप, जिससे मनमें कामादि अशुभ संकल्प उत्पन्न होते हैं, और विक्षेप अर्थात् चंचलता, इन दोनोंको दूर कर दिया है और केवल अपने स्वरूपका अज्ञान ही शेष रह गया है, तथा ( १ ) विवेक, ( २ ) वैराग्य, ( ३ ) षट्सम्पत्ति और ( ४ ) मुमुक्षा, इन चार साधनोंसे सम्पन्न हो, वह उत्तम अधिकारी कहलाता है।

(१) विवेक — आत्मा सत् है और जगत् मिथ्या है, इस प्रकार सत् और मिथ्याके विवेचन (अलग करने) को विवेक कहते हैं।

(२) वैराग्य.— ब्रह्मलोक तक जितने भी भोग हैं, उनको न चाहना, वैराग्य है।

(३) षट्सम्पत्ति :—नीचे लिखे छः साधनोको मिलाकर षट्सम्पत्ति कहते हैं।

(क) शम :— मनको विषयोसे रोकना।

(ख) दम .— इन्द्रियोको विषयोसे रोकना।

(ग) श्रद्धा :— गुरु और वेदके वचन सत्य है, ऐसा विश्वास रखना।

(घ) समाधान :— गुरुके पास वेदान्तका उपदेश सुनते समय मन और किसी जगह नही भटके किन्तु उपदेशमे ही लगा रहे।

(ङ) उपराम अथवा उपरति :— परमात्माके अतिरिक्त सब भोग पदार्थोंको दुःखरूप समझना तथा उन भोगोंकी प्राप्तिके हेतुभूत स्त्री, पुत्र, धन आदि साधन सहित सब कर्मोंमेसे आसक्तिको त्यागना।

(च) तितिक्षा :— भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, मान, अपमान आदि द्वन्द्वोंको सहन करनेका स्वभाव।

(४) मुमुक्षा :— मोक्षका स्वरूप है 'सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति और जन्म-मरणरूप बंधनकी निवृत्ति', इस प्रकारके मोक्षकी इच्छा। मलविक्षेपसे रहित और इन चार साधनों सहित पुरुष उत्तम अधिकारी कहलाता है।

इस प्रकार विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति व मुमुक्षा ये चार, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन ये तीन, तत्-त्वं पदके

ग्रथका सशोधन, ये कुल मिलकर आठ ज्ञानके 'अन्तरङ्ग साधन' है।

**दोहा :– अन्तरंग ये आठ हैं, यज्ञादिक बहिरग ।**
**अन्तरग धारै तजै, बहिरगनको सग ॥**

अर्थ —ऊपर जो विवेकादि ज्ञानके आठ साधन बतलाए है ये ज्ञानके अन्तरग ( नजदोकके ) सावन कहलाते है और यज्ञ (अग्निहोत्रादि कर्म) तथा सगुण-उपासना आदि ज्ञानके बहिरग ( दूरके=चित्त-शुद्धि-द्वारा ) साधन कहलाते हैं। जो जन आत्म-ज्ञानके इच्छुक है उनका यह कर्तव्य है कि विवेक, वैराग्य आदि अन्तरग साधनोको अपनानेके वाद यज्ञ व सगुण-उपासना आदि वहिरग साधनोको त्याग दे। शास्त्र भी कहता है —

**"जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्म-चोदनाम् ।"**

अर्थात् जिज्ञासामें प्रवृत्त हुआ साधक कर्म-विधिका आदर न करे।" भाव यह है कि ज्ञान-मार्गमे चलनेके वाद फिर सगुण-उपासना-सहित यज्ञादिके विधायक उपासना-काण्ड-सहित कर्म-काण्डका आदर न करे यानी फिर लौटकर कर्म आदिकोमे प्रवृत्त न होवे।

और जो लोग हठ करके फिर भेद-मूलक अग्निहोत्र आदि कर्म एव भेद-भक्तिमे प्रवृत्त होते है तथा वेदोके मर्मको न समझकर कर्म और ज्ञानका सम-समुच्चय (दोनोका एक साथ मेल) गाते हैं, उनको समझाते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी राम-गीतामे श्रीलक्ष्मणजीसे कहते है —

"केचिद्वदन्तीति वितर्कवादिन-
स्तदप्यसद्-दृष्ट-विरोध-कारणात् ।
देहाऽभिमानादभिवर्धते क्रिया
विद्या गताहङ्कृतितः प्रसिद्धयति ॥ ४ ॥"

**अर्थ :**— ऐसा ( कर्म और ज्ञानका सम-समुच्चय ) जो कोई कुतर्की कहते है, उनके कथनमे प्रत्यक्ष विरोध होनेके कारण वह ठीक नही है; क्योंकि अग्नि-होत्रादि कर्म देहाऽभिमानसे होते है और ज्ञान अहकारके ( देहाभिमानके ) नष्ट होनेपर सिद्ध होता है ।"

ज्ञान और कर्मके सम-समुच्चयका खण्डन करते हुए भगवान् राम दूसरी युक्ति देते हुए कहते हैं :—

"उदेति कर्माऽखिल-कारकाऽऽदिभि-
निहन्ति विद्याऽखिल-कारकाऽऽदिकम् ॥रा.गी.१ ५॥

अर्थात् कर्म, सम्पूर्ण कारक आदिकी ( ऋत्विक्, यजमान आदिकी ) सहायतासे होता है; किन्तु विद्या समस्त कारकादिका [ दृढ मिथ्यात्वके निश्चय-द्वारा ] नाश कर देती है ।"

भाव यह है कि 'मै कर्त्ता हूँ' 'मैं भोक्ता हूँ' इस भावनाके बिना यज्ञादि कर्म होते ही नही हैं और आत्म-ज्ञानसे कर्तृत्व एव भोक्तृत्व अभिमानका बाध हो जाता है। इसलिए कर्म और ज्ञान परस्पर विरोधी होनेके नाते, दोनोका एक कालमे एक ही साधकके द्वारा अनुष्ठान नही बन

सकता। अत. जिज्ञासुको क्या करना चाहिये, यह बतलाते हुए भगवान् राम कहते है —

"तस्मात् त्यजेत् कार्यमशेषत सुधी-
विद्या-विरोधान्न समुच्चयो भवेत्।
आत्माऽनुसन्धान-परायण सदा
निवृत्त-सर्वेन्द्रिय-वृत्ति-गोचर ॥"(रा.गी १६)

**अर्थ** – इसलिए समस्त इन्द्रियोके विपयोसे निवृत्त होकर निरन्तर आत्म-चिन्तनमे लगा हुआ बुद्धिमान् जिज्ञासु **सम्पूर्ण कर्मोका सर्वथा त्याग कर दे।** क्योकि विद्याके ( ब्रह्म-ज्ञानके ) विरोधी होनेके कारण यज्ञादि कर्मोका आत्म-विद्याके साथ समुच्चय (मेल) नही हो सकता।"

और मुमुक्षु चू कि जन्म-मरणके चक्रसे छूटना चाहता है, उस जन्म-मरणके चक्रसे छूटनेका उपाय केवल ब्रह्म और आत्माके एकत्वका ज्ञान ही है, कर्मादिसे साधक मृत्युको पार नही कर सकते। महाभारतके उद्योग-पर्वके 'सनत्सुजात-पर्व' नामक प्रकरणमे श्रीसनत्कुमारजी महाराज भी महाराज धृतराष्ट्रको यही उपदेश देते हुए कहते है —

'कर्मोदये कर्म-फलाऽनुरागा-
स्तत्राऽनुयान्ति न तरन्ति मृत्युम्।
सदर्थ-योगाऽनवगमात् समन्तात्
प्रवर्तते भोग-योगेन देही ॥"(१/९)

**अर्थ** – कर्मानुष्ठान करनेपर कर्म-फलमे आसक्त हुए जीव उसका ( सुख-दु खरूप कर्म-फलका ) ही अनुसरण

करते हैं। ( उन्हे अपने कर्मोका फल भोगना ही पड़ता है । ) अतः वे मृत्युको पार नही कर पाते। ( उन्हे गर्भमे ऊधा लटकना ही पड़ता है। ) देहाभिमानी जीव सद्वस्तुके योगका ( स्वरूपका ) ज्ञान न होनेसे हो भोग-वश सब ओर ( अनेक जन्मोमे ) भटकता रहता है।"

यहाँ श्रीसनत्कुमारजीने अज्ञानी व यज्ञादि कर्मोमे आसक्त पुरुषोका जन्म-मरणके चक्रमे भटकना अर्थात् नाशवान् लोकोंकी प्राप्ति करना बताया है। फिर इसी बातको श्रीसनत्सुजातीयके तीसरे अध्यायके १८वे श्लोकमे भी वे कहते हैं:—

"अन्तवन्तः क्षत्रिय! ते जयन्ति,
लोकाञ्जनाः कर्मणा निर्मितेन।
ज्ञानेन विद्वांस्तेज अभ्येति नित्यं,
न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्था ॥१८॥"

अर्थ:— हे क्षत्रिय! वे ( कर्म-परायण ) लोग तो अपने किये हुए कर्म-द्वारा नाशवान् लोकोको ही प्राप्त होते हैं, किन्तु ज्ञानके द्वारा विद्वान् नित्य प्रकाशको ( स्वय प्रकाश अखंड सच्चिदानदस्वरूप परब्रह्मको ) प्राप्त होता है। इसके सिवाय उसका (मोक्षका) कोई और मार्ग है ही नही।"

वेद भी कहता है:—

"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।"

अर्थात् उस आत्मस्वरूपको पहचानकर ही ज्ञानी

महापुरुष मृत्युको पार करलेता है ( जन्म मरणके चक्रसे छूट कर परम पद मोक्षको प्राप्त करलेता है ) उस मोक्ष पदके लिए ज्ञानके सिवाय दूसरा मार्ग है ही नही।"

और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने जो कर्मोका उपदेश दिया है वह केवल निष्काम भावना तथा कर्तव्य बुद्धिसे, ज्ञान मार्गमे प्रवृत्त होनेसे पहले, केवल अन्त करणको शुद्ध करनेके लिये ही दिया है। इस वातको समझाते हुए भगवान् स्वय कहते हैं —

"कायेन मनसा बुद्धचा केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिन कर्म कुर्वन्ति सङ्ग त्यक्त्वात्म-शुद्धये॥"(५/११)

अर्थात् योगी लोग आसक्तिको छोडकर चित्त-शुद्धिके लिए शरीर, मन, वुद्धि और केवल इन्द्रियोसे कर्म भी किया करते हैं।" यहा भगवान्ने निष्काम कर्मोको केवल अन्त करण-शुद्धिका ही साधन वताया है। अत चूकि कर्म और ज्ञानके फल भी अलग अलग हैं इसलिए दोनोका क्रम-समुच्चय ( एकके वाद दूसरा ) तो सिद्ध होता है परन्तु सम-समुच्चय ( दोनोका साथमे होना ) किसी भी प्रकारसे सिद्ध नही हो सकता। इसी वातको स्पष्ट करते हुए भगवान् मनु भी कहते हैं —

"तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृत-मश्नुते।"

अर्थात् [साधक] तपसे पापकी निवृत्ति करता है और आत्मज्ञानसे अमरत्व ( मोक्ष-पद ) प्राप्त करता है।" और एक वार आत्म-ज्ञानसे कर्म और भेद-उपासनाके जनक

अज्ञानका सर्वथा नाश हो जानेपर फिर जीव और ब्रह्मका भेद सदाके लिए समाप्त हो जाता है। इस बातको समझाते हुए भगवान् पाराशरजी कहते हैं :—

**"विभेद-जनकेऽज्ञाने, नाश-मात्यन्तिक गते ।**
**आत्मनो ब्रह्मणो भेद-मसन्तं कः करिष्यति ॥"**

अर्थात् भेद-जनक अज्ञानके सर्वथा नष्ट हो जानेपर फिर आत्मा और ब्रह्मका मिथ्या भेद कौन करेगा ?" यानी अज्ञानके समाप्त होनेपर जीव और ब्रह्मकी स्वरूप-दृष्टिसे भेद-बुद्धि समाप्त हो जाती है तब वह ज्ञानी महापुरुष फिर भेद-उपासना एवं कर्म-काण्डमे प्रवृत्त नही होता।

और जो लोग भेद-भक्ति व यज्ञादि कर्मोंमे आग्रह रखते है उनका आत्म-निश्चिय भी दब जाता है। यह समझाते हुए भगवान् **पाराशरजी** कहते हैं :—

**"जनैः स्व-कर्म-स्तिमिताऽऽत्म-निश्चयैः"**

अर्थात् अपने भेद-मूलक कर्मोंके कारण जिनका आत्म-निश्चय दब गया है।" इससे सिद्ध होता है कि साधकोंको ज्ञान-मार्गमे प्रवृत्त होनेके बाद फिर लौटकर भेद-भक्ति एव यज्ञादि कर्मोंमे प्रवृत्त नही होना चाहिए।

भगवान् वासुदेव भी गीतामे समस्त यज्ञादि कर्मोंका त्याग ही साधकके लिए बतलाते हुए कहते हैं :—

**"निराशी-र्यत-चित्तात्मा, त्यक्त-सर्व-परिग्रहः ।**
**शारीरं केवलं कर्म, कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥"**(४/२१)

अर्थात् सम्पूर्ण कामनाओसे रहित, सभी परिग्रहोसे रहित ( Non luxurious ) एव शरीर तथा मनका निरोध करनेवाला ज्ञानी महापुरुष केवल शरीरकी रक्षाके लिए कर्म करता हुआ दोष-ग्रस्त नही होता।" इस श्लोकमे भगवान्ने ज्ञानी तथा जिज्ञासुके लिए यज्ञादि कर्मोका निषेध करते हुए केवल शारीरिक कर्मोका विधान किया है। आगे भगवान् सर्व कर्मोके त्यागीको ही अपना प्यारा भक्त कहते हैं। यथा.—

"सर्वाऽऽरम्भ-परित्यागी यो मद्भक्त स मे प्रिय ।"(१२/१६)

अर्थात् सब प्रकारके यज्ञादि कर्मोका त्याग करनेवाला जो ज्ञानी भक्त है वह मुझे प्रिय है।" आगे फिर कहते है —

"शुभाऽशुभ-परित्यागी भक्तिमान् य स मे प्रिय ।" (१२/१७)

अर्थात् सब प्रकारके शुभ और अशुभ कर्मोका त्याग करनेवाला जो मेरा ज्ञानी भक्त है वह मुझे प्रिय है।" गुणातीत भी भगवान् उसको कहते हुए फर्माते है —

"सर्वाऽऽरम्भ-परित्यागी गुणातीत स उच्यते ।" (१२/२५)

अर्थात् सब प्रकारके अनुष्ठान व यज्ञादि आरभोका त्याग करनेवाला जो ज्ञानी महापुरुष है वही गुणातीत कहा जाता है।" इसीप्रकार अनुगीतामे भी भगवान् कृष्ण आत्म-निष्ठके लिए कर्मोमे प्रयोजनका अभाव दिखाते हुए कहते है —

"नैव धर्मी न चाधर्मी न चैव हि शुभाशुभी ।
य स्यादेकासने लीनस्-तूष्णीं किंचिदचिन्तयन् ॥"

अर्थ:– जो एक आसनमे कुछ भी चिन्तन न करता हुआ चुपचाप आत्मामें लीन हो गया है, वह न धर्मवान् है न अधर्मवान् तथा न शुभ कर्म करनेवाला है न अशुभ कर्म करनेवाला है।" एव शान्ति-पर्वमें भी भगवान् व्यासने शुकदेवजीके प्रति उपदेश देते हुए कहा है :—

**"कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।**
**तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पार-दर्शिनः ॥"**

अर्थ:– जीव कर्मसे बँधता है और ज्ञानसे मुक्त हो जाता है। इसलिए पारदर्शी यतिजन ( ज्ञानी महापुरुष ) भेद-मूलक यज्ञादि कर्मोंमे प्रवृत्त नही होते।"

भगवान् नारद भी इस प्रकार उपदेश देते हुए कहते है:–

**"हित्वा गुणमयं पाशं कर्म हित्वा शुभाऽशुभम्।**
**उभे सत्यानृते त्यक्त्वा एवं भवति निर्गुणः ॥"**

अर्थ :— गुण-कृत बन्धनको काटकर शुभ अशुभ कर्मोंसे मुक्त होकर तथा सत्य और मिथ्या दोनो ही कर्मोंको त्याग कर वह निर्गुण हो जाता है अर्थात् ज्ञान द्वारा निर्गुण परब्रह्मरूपसे स्थित हो जाता है।"

और जो लोग भेदमे आग्रह होनेसे आत्माऽनुभवरूप ज्ञान-मार्गमे प्रवृत्त नही होते है उन्हे आत्मघाती कहते हुए वेद कहता है :—

**"अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।**
**तांस्ते प्रेत्याऽभिगच्छन्ति ये के चात्म-हनो जनाः ॥"**

**अर्थ** — वे आनन्द-शून्य लोक जो कि घोर अन्धाकरमे व्याप्त है, उन लोकोमे वे लोग जाते हैं, जो आत्मघाती ( अज्ञानी ) होते है।" यहाँ वेद आत्म-विमुखकी निन्दा कर रहा है। इस प्रकार जो लोग आत्म-विमुख होकर इस लोक तथा परलोकके विषयोको भोगनेके लिए नाना प्रकारके यज्ञादि कर्मोमे तत्पर रहते है उनके बारेमे श्रीसनत्कुमारजी कहते हैं :—

**"त्यक्त्वाऽऽत्मरूपं विषयांश्च भुङ्क्ते स वै जनो गर्दभ एव साक्षात् ॥" ( श्रीसनत्सुजातीय, ४/१५ )**

अर्थात् जो पुरुष आत्म-स्वरूपको (आत्माको पहचाननारूप ज्ञान-मार्गको) छोडकर विषयोका सेवन करता है वह तो साक्षात् गधा (महा मूर्ख) ही है।"

अत साधक व्यक्तिको निष्काम कर्माचरण व उपासनाके बाद ज्ञान-मार्गमें ही लगना चाहिए। ज्ञानके बाद अथवा जिज्ञासा-कालमे वेदान्त-श्रवणके साथ साथ कर्म एव भेद-भक्तिमे प्रवृत्त नही होना चाहिए।

शिव-गीतामे भी आया है कि कर्मादिसे कैवल्य मोक्षकी प्राप्ति नही होती है किन्तु केवल आत्म-ज्ञानसे ही मोक्ष पदकी प्राप्ति होती है। यथा —

**"न कर्मणा-मनुष्ठानैर्न दानैस्तपसापि वा।**
**कैवल्य लभते मर्त्य' किन्तु ज्ञानेन केवलम् ॥" (१/२)**

**अर्थ** — यह प्राणी न कर्मोके अनुष्ठानोसे, न दानसे और न तप ही से कैवल्य मोक्षको प्राप्त करता है परन्तु

केवल ज्ञानसे ही मोक्ष पदको पाता है।" अत. मुमुक्षु साधकको केवल ज्ञान-मार्गमे ही प्रवृत्त होना चाहिए। ज्ञानके बाद फिर कोई अन्य कर्तव्य शेष नही रहता। भगवान् शिवजी भी कहते है :—

"विश्वं शिवमयं यस्तु पश्यत्यात्मान-मात्मना।
तस्य क्षेत्रेषु तीर्थेषु किं कार्यं वाऽन्यकर्मसु ॥"(१६/१९)

अर्थ :– जो ज्ञानी महापुरुष सम्पूर्ण विश्वको शिवस्वरूप ( ब्रह्मस्वरूप ) देखता है और वेदान्तके सस्कारोसे युक्त शुद्ध-बुद्धि-द्वारा शिवस्वरूप आत्म-तत्त्वका ( निजस्वरूपका ) प्रत्यक्ष अनुभव करता है, उस महापुरुषके लिए तीर्थ-भूत क्षेत्रोंमे अर्थात् कुरुक्षेत्र व पुष्करादि तीर्थोंमे जानेसे क्या प्रयोजन है ? तथा यज्ञादि कर्मोंको करनेसे क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ भी लाभ नही है।" अत. उस ज्ञानी महापुरुषके लिए कोई भी कर्तव्य शेष नही है। भगवान् श्रीकृष्ण भी अर्जुनसे कहते हैं :—

"यस्त्वाऽऽत्म-रतिरेव स्यादात्म-तृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्-तस्य कार्यं न विद्यते ॥" (३/१७)

अर्थ :– जो पुरुष केवल आत्मामे क्रीडा करता है, आत्मामे तृप्त रहता है और आत्मामे ही सन्तुष्ट रहता है, उसके लिए कोई कर्तव्य शेष रहता ही नही है।"

तथा भेद-भक्ति व भेद-मूलक यज्ञादि कर्म चूंकि जन्म-मरणके चक्रमें डालनेवाले है अतः ज्ञानी अथवा साधक जिज्ञासु उनमे प्रवृत्त नही होते। और चूंकि कर्म और उपासना

स्वय ग्रज्ञानके कार्य हैं अत वे अज्ञानको नष्ट करनेमे समर्थ नही है, इसी वातको समझाते हुए देवी-गीतामे भगवती देवी कहती हैं .—

"न कर्म तज्ज नोपास्ति-र्विरोधाऽभावतो गिरे ।
प्रत्युताऽऽशाऽज्ञान-नाशे कर्मणा नैव भाव्यताम् ॥"(४/९)

अर्थ – हे पर्वतराज ! यज्ञादि कर्म और सगुण ब्रह्मकी उपासना ( भेद-भक्ति ), ग्रज्ञानको नष्ट करनेमे समर्थ नही है, क्योकि ये ग्रज्ञानसे उत्पन्न होते है, ग्रत इनका ग्रज्ञानसे विरोध नही है इसलिए इन कर्मादिकोसे ग्रज्ञानका नाश तो क्या होगा, प्रत्युत इनसे ग्रज्ञानके नाशकी आशा भी नही रखनी चाहिये ।"

कुछ वादी लोग कर्म ग्रौर ज्ञानका सम-समुच्चय (दोनोका एक साथ चलना ) कहते हैं, उनको उत्तर देती हुई श्रीभगवती देवी कहती है —

"इति केचिद्वदन्त्यत्र तद्विरोधान्न सभवेत् ।
ज्ञानाद्-धृद्-ग्रन्थि-भेद स्याद् धृद्-ग्रन्थौ कर्म-सभव ॥(४/१३)

अर्थ . — यहाँ ( मोक्षकी साधनताके प्रसगमे ) कुछ मतवादी इस प्रकार ( उपर्युक्त ज्ञान व कर्मका सम-समुच्चय ) कहते है, वह ग्रसभव है, क्योकि कर्म ग्रौर ज्ञानका परस्पर विरोध है । [ विरोध कैसे है ? इस प्रश्नका उत्तर देती हुई श्रीभगवती कहती हैं कि ] क्योकि ज्ञानसे हृदयकी गाठ खुलती है । [ग्रर्थात् जड चेतनकी ग्रन्थि यानी अन्योन्याध्यास =शरीर ग्रौर ग्रात्माकी खिचडी ( एकता ) समाप्त हो

जाती है।] और हृदय-ग्रन्थिके रहते ही कर्म सभव हो सकता है।"

भाव यह है कि जब तक व्यक्ति अपनेको (आत्माको) शरीर तथा कर्ता भोक्ता मानता है तभी तक यज्ञादिरूप कर्म-काण्डमे प्रवृत्ति रहती है, अतः कर्म और ज्ञानका एक साथ मेल नही हो सकता। इसी बातको समझाती हुई श्रीदेवी कहती है :—

"यौगपद्य न संभाव्यं विरोधात्तु ततस्तयोः।
तमःप्रकाशयो-र्यद्वद्यौग-पद्यं न संभवि ॥" (४/१४)

**अर्थ :–** इसलिए उन दोनोका (कर्म और ज्ञानका) परस्पर विरोध होनेके कारण, यौगपद्य (सम-समुच्चय=एक साथ मेल) सभव नही हो सकता। जैसे परस्पर विरोधी पदार्थ अन्धकार और प्रकाशका एक मात्रामे एक साथ मेल सभव नही होता।"

अतः शम दम आदि साधन-सपत्ति एवं आत्म-ज्ञानकी तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न होनेपर, यज्ञादि कर्म व सगुण उपासना (भेद-भक्ति) आदिका त्याग करके प्रारब्धानुसार अन्य लौकिक कर्म करते हुए सदा वेदान्तके श्रवण, मनन व निदिध्यासन आदि मे तत्पर रहना चाहिए, इस प्रकारका आदेश देती हुई श्रीभगवती कहती हैं :—

"वेदान्त-श्रवणं कुर्यान्नित्य-मेव-मतन्द्रित.।
तत्त्वमस्याऽऽदि-वाक्यस्य नित्य-मर्थं विचारयेत् ॥" (४/१८)

अर्थ :- इस प्रकार आलस्यको छोडकर सदा वेदान्तका श्रवण करना चाहिये। [केवल श्रवण ही नही परन्तु] 'तत्त्वमसि' आदि [अर्थात् वह (सच्चिदानद ब्रह्म) तू (साक्षी कूटस्थ सामान्य चेतन) है। इस प्रकार आत्मा और परमात्माके एकत्व-बोधक] महावाक्योके अर्थका नित्य विचार करना चाहिए। अर्थात् वेदान्तका श्रवण, मनन व निदिध्यासन (आत्म-ध्यान) सदा करते रहना चाहिए।"

श्रीभगवतीके इस कथनानुसार कैवल्य-मोक्षके इच्छुक मुमुक्षुको भेद-मूलक कर्म व उपासनाका चित्त-शुद्धिके बाद त्याग करके ज्ञान-मार्गमे ही सदा रत रहना चाहिए। क्योकि यज्ञादि कर्म जन्म मरणके चक्रमे डालनेवाले है, इस बातको समझाते हुए वेद भी कहता है —

"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा,
अष्टादशोक्त-मवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा,
जरा-मृत्यू ते पुनरेवापि यन्ति॥"

अर्थ - ससाररूप अनर्थके हेतु एव ज्ञानसे निम्न कोटिका होनेके कारण जिनमे अवर (निकृष्ट=तुच्छ) कर्म आश्रित कहा गया है, वे ये [सोलह ऋत्विक् तथा यजमान और यजमानकी पत्नीरूप] यज्ञके अठारह साधन अनित्य बताए गए है। जो मूढ लोग श्रेयरूपसे (मोक्षके साधनरूपसे) इनकी प्रशसा करते हैं, वे फिर जरा-मरणको ही प्राप्त होते है।"

इस प्रकार अनेक वेद, स्मृति व युक्ति आदि प्रमाणोसे सिद्ध होता है कि यज्ञादि कर्म मोक्षके साधन नही हैं। ये निष्काम होनेपर केवल अन्तःकरणकी शुद्धि करते है। इसलिए ये ज्ञानके **बहिरग साधन** कहलाते हैं। और सत्सग एवं गुरु-कृपासे होनेवाला आत्म-ज्ञान ही मोक्षका **साक्षात् (Direct) साधन** है। अतः तीव्र जिज्ञासा उत्पन्न होनेके बाद, यज्ञादिक कर्म एव भेद-भक्ति अर्थात् सगुण-उपासना आदि बहिरग साधनोका त्याग करके विवेक, वैराग्य, षट्सपत्ति, मुमुक्षा, वेदान्तका श्रवण, मनन एव निदिध्यासन तथा तत् त्व पदार्थका सशोधन इन आठ ज्ञानके अन्तरंग साधनोको ही जिज्ञासु-जनोको धारण करना चाहिए, इस बातको बतलाते हुए श्रीस्वामी निश्चलदासजी महाराज कहते हैं :—

**"अन्तरंग ये आठ हैं, यज्ञादिक बहिरंग।**
**अन्तरंग धारै तजै, बहिरगनको संग ॥"**

अर्थात् विवेकादि आत्मज्ञानके आठ अतरग (साक्षात्) साधन हैं और सगुण-उपासना एव यज्ञादि कर्म ज्ञानके बहिरग साधन हैं अर्थात् चित्त-शुद्धि-द्वारा परम्परासे ज्ञानके साधन हैं। इसलिए ब्रह्मज्ञानके इच्छुक जिज्ञासुका यह कर्तव्य है कि वह विवेक, वैराग्य व श्रवण-मनन आदि ज्ञानके अतरग साधनोको अपनावे और यज्ञ व भेद-उपासना आदि बहिरग साधनोको त्याग दे।" जिससे अद्वैतनिष्ठामे बाधा न पड़े। यदि भेद-मूलक कर्म व सगुण-उपासना भी

करता जायगा तो आत्म-निष्ठा (दृढ अपरोक्ष ब्रह्म-अनुभूति) नही हो पाएगी। अत. भेदके सस्कारोमे दूर रहकर, यदि जिज्ञासु आत्म-श्रवण व मननादि करेगा तो सशय व विपरीत-भावनासे रहित दृढ प्रत्यक्ष ब्रह्म-ज्ञानको प्राप्त करके, जीवन्मोक्षका अनुभव करता हुआ, प्रारब्ध समाप्त होने पर सदाके लिए दु.खोकी अत्यन्त निवृत्ति एव परमानद-स्वरूप पर-ब्रह्मरूपसे स्थितिरूप कैवल्य-मोक्षको प्राप्त करके अपना मनुष्य जन्म सफल कर लेगा।

अब यह सिद्ध हो चुका कि जिज्ञासुको बहिरग साधनोका त्याग करके अन्तरग साधनोको ही अपनाना चाहिये। अब उन अन्तरग और बहिरग साधनोका अर्थ भी सुन लो — जिनका श्रवणमे अथवा ज्ञानमे प्रत्यक्ष फल हो उन्हे अन्तरग साधन कहते है। उनमे भी विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति और मुमुक्षा इन चार साधनोका वेदान्त-श्रवणमे उपयोग है, क्योकि इनके बिना व्यक्ति बहिर्मुख होनेसे वेदान्तका श्रवण नही कर सकता। एव श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा तत्पद ( ईश्वर-वाचक पद ) व त्वपद ( जीव-वाचक पद ) के अर्थका सशोधन, इन चार साधनो का आत्म-ज्ञानमे उपयोग है।

कई लोग बिना गुरुमुखके उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र व गीतादि वेदान्त-ग्रन्थोका अध्ययन करनेपर भी तत् और त्व पदके अर्थका सशोधन न कर सकनेके कारण, अर्थात् भाग-त्याग-लक्षणाके द्वारा जीव और ईश्वरके वाच्य स्वरूपमेसे

चिदाभास-सहित माया व अन्तःकरणादि विरोधी भागोका बाध करके अविरोधी भाग लक्ष्य-स्वरूप सच्चिदानद-स्वरूप सामान्य चेतनको लक्ष्य न कर सकनेके कारण, आत्म-ज्ञान प्राप्त नही कर सकते। इसलिए तत्त्वं-पदार्थके संशोधनको महत्त्व देनेके लिए इसे अलग आठवां साधन गिनाया है। इस प्रकार विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षा, श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा तत् और त्व पदोंके अर्थका संशोधन, इन सबका ज्ञानमें साक्षात् उपयोग होनेके नाते ये आठ ब्रह्म-ज्ञानके **अन्तरंग साधन** कहलाते हैं।

तथा जिसका ज्ञानमें अथवा श्रवणमे प्रत्यक्ष फल न हो केवल अन्तःकरणकी शुद्धि ही जिसका फल हो उसे ज्ञानका **बहिरंग साधन** कहते हैं; जैसे यज्ञ और सगुण-उपासना आदिक कर्म। इन यज्ञादिकोसे अन्त.करणकी शुद्धि होकर आत्म-ज्ञानकी योग्यता प्राप्त होती है, फिर गुरु-मुख-द्वारा वेदान्तके श्रवण, मनन व निदिध्यासनसे ज्ञान प्राप्त होकर मोक्ष पद प्राप्त होता है। इस प्रकार ये कर्म भी परपरासे अर्थात् अन्तःकरण-शुद्धि-द्वारा ज्ञान तथा मोक्षके साधन बनते हैं, इसी नाते इन्हे ज्ञानका वहिरग साधन कहा जाता है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब शास्त्र इन यज्ञादि कर्मोंको संसार अर्थात् जन्म-मरणरूपी चक्रका साधन बताते हैं तो फिर आप इन्हे ज्ञानका अथवा मोक्षका वहिरंग साधन भी क्यो कहते है? क्योकि मुमुक्षुओंके

लिए यज्ञादि कर्मोंमे अरुचि उत्पन्न करनेके हेतु वेद कहता है "अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म" अर्थात् जिसमें अठारह ऋत्विक् आदि हैं, वह कर्म निकृष्ट है।" यहाँ यज्ञमे कर्तव्य-बुद्धिको हटानेके लिए वेदने यज्ञको निकृष्ट शब्दसे कहा है। अन्यत्र भी श्रुति कहती है —

"एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरा-मृत्यू ते पुनरेवापि यन्ति॥"

अर्थात् यही ( कर्म या कर्मजन्य स्वर्ग ) श्रेय है, इस प्रकार जो मूढ कर्मका अभिनन्दन करते हैं, वे फिर भी जरा और मृत्युको प्राप्त होते हैं।" और जगह भी वेद कहता है —

"यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुरा क्षीण-लोकाश्च्यवन्ते।" अर्थात् जिसे कर्मी ( यज्ञादि कर्म-काण्डमे आसक्त ) लोग रागवश नही जानते, इससे आतुर होकर स्वर्गसे गिर जाते हैं।" इस प्रकार भगवान् कृष्ण भी गीतामें अर्जुनको मुमुक्षु समझकर ज्ञानसे कर्मको निकृष्ट बतलाते हुए कहते हैं —

"दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धि-योगाद्धनञ्जय।" (२/४९)

अर्थात् हे धनञ्जय! बुद्धि-योगकी ( ज्ञान-योगकी ) अपेक्षा कर्मयोग दूर अर्थात् निकृष्ट है।" तथा "न कर्मणा न प्रजया" अर्थात् न कर्मसे न प्रजासे" इत्याद्यनेक श्रुतियोंने 'कर्म मोक्षका साधन है' इसका निषेध किया गया है। स्मृति भी कहती है —

"कर्मणा बद्ध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।"

अर्थात् प्राणी कर्मसे बाँधा जाता है ( जन्म-मृत्युके चक्रमे भटकता है ) और विद्या ( आत्मज्ञान ) से छूट जाता है।" इस प्रकार अनेक वेद व स्मृति आदि प्रमाणोसे यह सिद्ध होता है कि केवल आत्मज्ञान ही मोक्षका साधन है और यज्ञादिक कर्म बन्धनके हेतु हैं न कि मोक्षके, फिर आप भेद-भक्ति तथा यज्ञरूप कर्मको मोक्ष अथवा ज्ञानके बहिरग-साधनरूपसे भी स्वीकार कैसे करते है ?

**समाधान** :— ये सभी प्रमाण सत्य है परन्तु इन सबका भाव सकाम उपासना तथा सकाम कर्मको बन्धनका साधन बतलानेमे है। हम ज्ञानका बहिरग साधन, सकाम कर्मोंको न कहकर निष्काम उपासना व निष्काम यज्ञादि कर्मोंको कहते हैं, इसलिए कोई विरोध नही है। ज्ञान-मार्गमे प्रविष्ट होनेके पहले साधक भले निष्काम ( प्रभु-प्रसन्नता, मोक्ष अथवा ज्ञानके सिवाय और कोई कामना न रखते हुए ) भक्ति व कर्मादिक-द्वारा अपने मनको निर्मल व गभीर ( चचलतासे रहित ) करके आत्मज्ञानका उत्तम अधिकारी बने। भगवान् भी अर्जुनसे कहते है :—

**"यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म-बन्धन.।**
**तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्त-सङ्ग समाचार ॥"** (३/९)

अर्थात् परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिए किये जानेवाले कर्मोंको छोड़कर दूसरे जितने काम्य (सकाम) और निषिद्ध कर्म हैं, उनसे लोग जन्म आदि बन्धनको ही प्राप्त होते हैं। इसलिए हे कौन्तेय ! तुम आसक्तिको छोड़कर केवल भगवान्की प्रसन्नताके लिए कर्म करो।"

"तत्कर्म यन्न बन्धाय ।" अर्थात् जो बन्धनका कारण न हो वही सही कर्म है' इत्यर्थक स्मृतिसे ईश्वरके आराधनके लिए किया गया निष्काम कर्म बन्धक नहीं होता और उससे अतिरिक्त कर्म बन्धक होता है। निष्काम बुद्धिसे किए गए यज्ञादि कर्म अन्तःकरणको शुद्ध करते हैं यह बतलाते हुए भगवान् अर्जुनसे कहते हैं —

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥' (१८।५)

अर्थात् यज्ञ, दान और [स्वाध्यायरूप] तप मुमुक्षुओंके सम्पूर्ण पापोंका विनाश करनेवाले हैं अर्थात् अन्तःकरणके शोधक हैं और उसके द्वारा ज्ञान तथा मोक्षके साधन हैं।" अन्यत्र शास्त्र कहता है :—

"धर्मेण पापमपनुदति' अर्थात् साधक धर्मसे (निष्काम पुण्य कर्मसे) पापको नष्ट करता है।' वेद भी कहता है :—

"ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन... अर्थात् ब्राह्मण यज्ञसे और दानसे ब्रह्म-तत्त्वको जाननेकी इच्छा करते हैं।" इस प्रकार श्रुति (वेद) ने भी निष्काम यज्ञ दान आदि सत् कर्मोंके अनुष्ठानके बिना अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं होती, ऐसा कहा है। इसलिए जिस मुमुक्षुको आत्मज्ञान नहीं हुआ है उसको चित्तकी शुद्धिके लिए निष्काम कर्म अवश्य करने चाहियें। क्योंकि बिना चित्त-शुद्धिके दृढ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान नहीं होता और बिना ब्रह्मज्ञानके मोक्षपदकी प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार परंपरासे निष्काम

अर्थात् प्राणी कर्मसे बाँधा जाता है ( जन्म-मृत्युके चक्रमे भटकता है ) और विद्या ( आत्मज्ञान ) से छूट जाता है।" इस प्रकार अनेक वेद व स्मृति आदि प्रमाणोसे यह सिद्ध होता है कि केवल आत्मज्ञान ही मोक्षका साधन है और यज्ञादिक कर्म बन्धनके हेतु हैं न कि मोक्षके, फिर आप भेद-भक्ति तथा यज्ञरूप कर्मको मोक्ष अथवा ज्ञानके बहिरंग-साधनरूपसे भी स्वीकार कैसे करते है ?

**समाधान** — ये सभी प्रमाण सत्य है परन्तु इन सबका भाव सकाम उपासना तथा सकाम कर्मको बन्धनका साधन बतलानेमे है। हम ज्ञानका बहिरंग साधन, सकाम कर्मोंको न कहकर निष्काम उपासना व निष्काम यज्ञादि कर्मोंको कहते हैं, इसलिए कोई विरोध नही है। ज्ञान-मार्गमे प्रविष्ट होनेके पहले साधक भले निष्काम ( प्रभु-प्रसन्नता, मोक्ष अथवा ज्ञानके सिवाय और कोई कामना न रखते हुए ) भक्ति व कर्मादिक-द्वारा अपने मनको निर्मल व गभीर ( चचलतासे रहित ) करके आत्मज्ञानका उत्तम अधिकारी बने। भगवान् भी अर्जुनसे कहते है :—

**"यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म-बन्धन.।**
**तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्त-सङ्ग: समाचार ॥"** (३/९)

अर्थात् परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिए किये जानेवाले कर्मोंको छोड़कर दूसरे जितने काम्य (सकाम) और निषिद्ध कर्म हैं, उनसे लोग जन्म आदि बन्धनको ही प्राप्त होते हैं। इसलिए हे कौन्तेय ! तुम आसक्तिको छोड़कर केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए कर्म करो।"

"**तत्कर्म यन्न बन्धाय ।**" अर्थात् जो बन्धनका कारण न हो, वही सही कर्म है" इत्यर्थक स्मृतिसे ईश्वरके आराधनके लिए किया गया निष्काम कर्म बन्धक नही होता और उससे अतिरिक्त कर्म बन्धक होता है। निष्काम बुद्धिसे किए गए यज्ञादि कर्म अन्त करणको शुद्ध करते है यह बतलाते हुए भगवान् अर्जुनसे कहते है :—

"**यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥**" (१८/५)

अर्थात् यज्ञ, दान और [स्वाध्यायरूप] तप मुमुक्षुओके सम्पूर्ण पापोका विनाश करनेवाले हैं अर्थात् अन्त करणके शोधक है और उसके द्वारा ज्ञान तथा मोक्षके साधन है।" अन्यत्र शास्त्र कहता है —

"**धर्मेण पाप-मपनुदति**" अर्थात् साधक धर्मसे (निष्काम पुण्य कर्मसे) पापको नष्ट करता है।" वेद भी कहता है —

"**ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन** "अर्थात् ब्राह्मण यज्ञसे और दानसे ब्रह्म-तत्त्वको जाननेकी इच्छा करते है।" इस प्रकार श्रुति (वेद) ने भी निष्काम यज्ञ, दान आदि सत् कर्मोंके अनुष्ठानके बिना अन्त करणकी शुद्धि नही होती, ऐसा कहा है। इसलिए जिस मुमुक्षुको आत्मज्ञान नही हुआ है उसको चित्तकी शुद्धिके लिए निष्काम कर्म अवश्य करने चाहियें। क्योकि बिना चित्त-शुद्धिके दृढ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान नही होता और बिना ब्रह्मज्ञानके मोक्षपदकी प्राप्ति नही होती। इस प्रकार परपरासे निष्काम

अर्थात् प्राणी कर्मसे बाँधा जाता है ( जन्म-मृत्युके चक्रमे भटकता है ) और विद्या ( आत्मज्ञान ) से छूट जाता है।" इस प्रकार अनेक वेद व स्मृति आदि प्रमाणोसे यह सिद्ध होता है कि केवल आत्मज्ञान ही मोक्षका साधन है और यज्ञादिक कर्म बन्धनके हेतु हैं न कि मोक्षके, फिर आप भेद-भक्ति तथा यज्ञरूप कर्मको मोक्ष अथवा ज्ञानके बहिरग-साधनरूपसे भी स्वीकार कैसे करते है ?

**समाधान**:— ये सभी प्रमाण सत्य हैं परन्तु इन सबका भाव सकाम उपासना तथा सकाम कर्मको बन्धनका साधन बतलानेमे है। हम ज्ञानका बहिरग साधन, सकाम कर्मोको न कहकर निष्काम उपासना व निष्काम यज्ञादि कर्मोको कहते हैं, इसलिए कोई विरोध नही है। ज्ञान-मार्गमे प्रविष्ट होनेके पहले साधक भले निष्काम ( प्रभु-प्रसन्नता, मोक्ष अथवा ज्ञानके सिवाय और कोई कामना न रखते हुए ) भक्ति व कर्मादिक-द्वारा अपने मनको निर्मल व गभीर ( चचलतासे रहित ) करके आत्मज्ञानका उत्तम अधिकारी बने। भगवान् भी अर्जुनसे कहते है :—

"यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म-बन्धन.।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्त-सङ्ग. समाचार॥" (३/९)

अर्थात् परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिए किये जानेवाले कर्मोको छोड़कर दूसरे जितने काम्य (सकाम) और निषिद्ध कर्म हैं, उनसे लोग जन्म आदि बन्धनको ही प्राप्त होते हैं। इसलिए हे कौन्तेय ! तुम आसक्तिको छोड़कर केवल भगवान्की प्रसन्नताके लिए कर्म करो।"

"तत्कर्म यन्न बन्धाय ।" अर्थात् जो बन्धनका कारण न हो, वही सही कर्म है" इत्यर्थक स्मृतिसे ईश्वरके आराधनके लिए किया गया निष्काम कर्म बन्धक नही होता और उससे अतिरिक्त कर्म बन्धक होता है। निष्काम बुद्धिसे किए गए यज्ञादि कर्म अन्त करणको शुद्ध करते है यह बतलाते हुए भगवान् अर्जुनसे कहते है :—

**"यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥"** (१८/५)

अर्थात् यज्ञ, दान और [स्वाध्यायरूप] तप मुमुक्षुओके सम्पूर्ण पापोका विनाश करनेवाले हैं अर्थात् अन्त करणके शोधक हैं और उसके द्वारा ज्ञान तथा मोक्षके साधन है।" अन्यत्र शास्त्र कहता है —

**"धर्मेण पाप-मपनुदति"** अर्थात् साधक धर्मसे (निष्काम पुण्य कर्मसे) पापको नष्ट करता है।" वेद भी कहता है —

**"ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन** "अर्थात् ब्राह्मण यज्ञसे और दानसे ब्रह्म-तत्त्वको जाननेकी इच्छा करते है।" इस प्रकार श्रुति (वेद) ने भी निष्काम यज्ञ, दान आदि सत् कर्मोके अनुष्ठानके विना अन्त करणकी शुद्धि नही होती, ऐसा कहा है। इसलिए जिस मुमुक्षुको आत्मज्ञान नही हुआ है उसको चित्तकी शुद्धिके लिए निष्काम कर्म अवश्य करने चाहिये। क्योकि विना चित्त-शुद्धिके दृढ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान नही होता और विना ब्रह्मज्ञानके मोक्षपदकी प्राप्ति नही होती। इस प्रकार परपरासे निष्काम

यज्ञादि कर्म मोक्षके साधन माने जाते हैं। अतः मलिन अन्तःकरणवालेको इन बहिरंग साधनोके बिना मोक्ष प्राप्त नही होगा यह बतलाते हुए भगवान् अर्जुनसें कहते हैं:—

*"न कर्मणा-मनारम्भान्-नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।"*

अर्थात् कोई भी मलिन मनवाला पुरुष श्रौत व स्मार्त आदि निष्काम कर्मोंका अनुष्ठान किये बिना [अन्तःकरण शुद्ध नही कर सकता और बिना चित्त-शुद्धिके वेदान्तका श्रवण, मनन व निदिध्यासन नही कर सकता और उसके बिना आत्मा और परमात्माके एकत्वका ज्ञान प्राप्त नही कर सकता और बिना आत्म-ज्ञानके] मुक्तिको प्राप्त नही कर सकता।" इस प्रकार अन्त.करण शुद्धिके नाते, निष्काम सगुण-भक्ति तथा निष्काम यज्ञादिक कर्मोंको मोक्ष अथवा आत्म-ज्ञानका **बहिरंग साधन** कहा जाता है और विवेकादिकोंको ज्ञानका **अन्तरग साधन** कहा जाता है। बहिरग अर्थात् दूर तथा अन्तरग माने समीप। भेद-भक्ति तथा यज्ञादि कर्मोका त्याग करके तथा उनके साधन स्त्री, धन व पुत्रादिकोंमे आसक्तिको छोड़कर जो वेदान्तके श्रवण व मननादिमे प्रवृत्त होता है वह साधक ज्ञानका अधिकारी है। ज्ञानके अधिकारीमे यज्ञादिक संभव नही हैं इसलिए उन्हे दूर अर्थात् वहिरग कहा जाता है और विवेकादिक ज्ञानके अधिकारीमे रहते हैं इसलिए उन्हे समीप अर्थात् अन्तरंग कहा जाता है। उनमे भी इतना भेद है विवेकादिकोंका

वेदान्त-श्रवणमे उपयोग है और श्रवणादिकोका ज्ञानमे उपयोग है। इसलिए विवेकादिकोकी अपेक्षासे श्रवणादिक अन्तरग है और उनकी अपेक्षासे विवेकादिक वहिरग है। यद्यपि विवेकादिकोको भी ज्ञानके अन्तरग साधन ही सभी ग्रन्थोमे वतलाया है वहिरग नही, परन्तु विवेकादिकोका ज्ञानके साधन श्रवणमे प्रत्यक्ष फल है और श्रवणादिकोकी तरह विवेकादिक जिज्ञासुको उपादेय ( ग्रहण करने योग्य ) है, यज्ञादिकोकी तरह हेय ( छोडने योग्य ) नही हैं इसलिए उन विवेकादिकोको ज्ञानका अन्तरग साधन कहा जाता है और यज्ञादिकोकी अपेक्षासे भी अन्तरग (समीप) हैं, इसलिए भी उन्हे अन्तरग साधनोमे गिना जाता है। हमने यहाँ केवल श्रवणादिकोकी अपेक्षासे ही विवेकादिकोको वहिरग साधन कहा है।

और विचारसे देखिये तो ज्ञानके मुख्य अन्तरग साधन "तत्त्वमसि" आदि महावाक्य है, श्रवणादिक भी नही, क्योकि श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन ज्ञानके साक्षात् साधन नही हैं, किन्तु बुद्धिके दोष जो असभावना और विपरीत-भावना हैं उनको नष्ट करके परपरासे ज्ञानमे उपयोगी है।

अव श्रवण मननादि किस प्रकार असभावना और विपरीत-भावनाको नष्ट करते है, इस वातको समझनेके लिए पहले श्रवणादि तथा असभावनादिका स्वरूप समझना पडेगा।

श्रवणका स्वरूप समझाते हुए पञ्चदशीकार श्रीस्वामी विद्यारण्यजी महाराज तृप्तिदीप प्रकरणमे लिखते हैं:—

"वेदान्ताना-मशेषाणा-मादि-मध्याऽवसानतः ।

ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमिति धीः श्रवणं भवेत् ॥१०१॥"

**अर्थ:**– आदि मध्य और अन्तमे कहीसे भी युक्तियो द्वारा विचार करनेपर सब वेदान्तोका (उपनिषदोका) तात्पर्य, ब्रह्मरूप आत्मामे अर्थात् आत्मा और ब्रह्मके एकत्वमे ही है ऐसा जो **निश्चय** वह **'श्रवण'** होता है।" इसी बातको समझाते हुए श्रीस्वामी निश्चलदासजी महाराज लिखते हैं:—"युक्तिसे वेदान्त-वाक्योका तात्पर्य-निश्चय **श्रवण** कहलाता है।" यहाँ 'युक्ति' शब्दसे वेदान्तरूप उपनिषदोके तात्पर्यका निश्चय करानेवाले षड्लिंगों (तात्पर्यका निर्णय करानेवाले छः थर्मामीटर अर्थात् निर्णायको) का ग्रहण है। वे छः लिंग (निर्णय करनेके साधन) ये हैं:—

"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम् ।

अर्थवादोपपत्ती च लिंग तात्पर्य-निर्णये ॥"

**टीका:**–(१) उपक्रम (आरम्भ) और उपसंहार (समाप्ति) की एकरूपता यह प्रथम लिंग (निश्चायक) है। जैसे:– वेदान्त अर्थात् उपनिषदोमें आदि तथा अन्तमे एक ब्रह्मरूप अद्वितीय तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है।

(२) अभ्यास अर्थात् आवृत्ति ( वार वार निरूपण ) जैसे:– वेदान्तोमें वार वार जीव और ब्रह्मकी एकताका वर्णन आया है।

(३) **अपूर्वता** अर्थात् अविपयता (किसीका विषय= Object न बनना) जैसे — वेदान्तका प्रतिपाद्य अद्वितीय परब्रह्म श्रुतिसे भिन्न अन्य किसी प्रमाणका विपय नही है अथवा ब्रह्मस्वरूप आत्मदेव स्वप्रकाश होनेसे किसी भी प्रमाणका विषय नही है। वेदान्त (उपनिपद्) तो केवल आवरणका भग करते हैं । कहा भी है "**सर्वे वेदान्ता आवरण-भगे प्रवृत्ता** ।" अर्थात् सभी वेदके अन्तिम काण्ड उपनिषद् आवरणके भगमे ही प्रवृत्त हुए है।" इस प्रकार जो ब्रह्ममे अविषयता है वही **अपूर्वता** है ।

(४) **फल** अर्थात् प्रयोजन जैसे — वेदान्तके श्रवणादिसे उत्पन्न हुए अद्वैत ब्रह्मके ज्ञानसे सर्व दु खोकी निवृत्ति व परमानदकी प्राप्तिरूप अद्वैत ब्रह्म-स्वरूप मोक्ष पदकी प्राप्ति **फल** कहा गया है ।

(५) **अर्थवाद** अर्थात् प्रतिपाद्य वस्तुकी प्रशसा तथा उससे विपरीतकी निंदा करना, जैसे — उपनिषदोमे अद्वैत परब्रह्मके ज्ञानकी ( अभेद-ज्ञानकी ) प्रगसा तथा द्वैत-(भेद)-ज्ञानकी निंदा कही गई है ।

(६) **उपपत्ति** अर्थात् दृष्टान्त आदि युक्तियोसे कथन करना, जैसे – वेदान्तमे अनेक युक्तियोसे जीव और ब्रह्मकी एकतारूप अद्वैत-तत्त्वका वर्णन किया गया है ।

इन छ लिगो द्वारा वेदान्त वाक्योका अद्वैत ब्रह्ममे तात्पर्य है ऐसा निश्चय होता है और वह निश्चय ही श्रवण कहलाता है तथा वेदान्त शास्त्रका अभ्यास भी इस निश्चयका साधन होनेके नाते श्रवण कहलाता है ।

मननका स्वरूप समझाते हुए श्रीस्वामी निश्चलदासजी महाराज लिखते हैं :— "जीव और ब्रह्मके अभेदकी साधक तथा भेदकी बाधक युक्तियोसे अद्वितीय ब्रह्मका चिंतन **मनन** कहलाता है ।"

पचदशीकार श्रीस्वामी विद्यारण्यजी महाराज भी श्रवणका उपसहार करते हुए **मननका स्वरूप समझाते हुए कहते हैं** :—

**"समन्वयाध्याय एतत् सूक्तं, धी-स्वास्थ्य-कारिभिः ।**
**तर्कैः संभावनाऽर्थस्य द्वितीयाध्याय ईरिता ।।"**
**( तृप्तिदीप० श्लो० १०२ )**

**अर्थ** :– भगवान् व्यासने इसी 'श्रवण' का [ब्रह्मसूत्र = वेदान्त-दर्शनके] समन्वय नामके प्रथम अध्यायमे भली भांति वर्णन किया है तथा दूसरे अध्यायमे [अद्वितीय तत्त्वको समझनेमें जो जो अड़चने होती हैं उन सबको हटाकर] बुद्धिका सन्तोष करदेनेवाले तर्कों अर्थात् युक्तियोसे अद्वैतरूप अर्थकी संभावना की है [कि श्रवण किया हुआ अर्थ यो यों सभव है] उसीको **मनन** कहते हैं ।"

निदिध्यासन ( आत्म-ध्यान ) का स्वरूप समझाते हुए श्रीस्वामी निश्चलदासजी महाराज कहते है :— "अनात्माकार वृत्तिके व्यवधानसे रहित ब्रह्माकार-वृत्तिकी स्थितिको **निदिध्यासन** कहा जाता है और निदिध्यासनकी परिपाक अवस्थाको ही **समाधि** कहते है । इसलिए समाधिका भी निदिध्यासनमे अन्तर्भाव होनेसे

समाधिको ज्ञानके आठ साधनोसे पृथक् नही माना गया है। इस निदिध्यासनका दूसरा नाम **एकाग्रता** भी है। यह एकाग्रता **ब्रह्माभ्यास**से प्राप्त होती है। उस ब्रह्माभ्यासका स्वरूप समझाते हुए पचदशीकार कहते है —

**"तच्चिन्तन तत्कथन-मन्योऽन्य तत्प्रबोधनम्।**

**एतदेक-परत्वं च ब्रह्माभ्यास विदु-र्बुधा ॥"** (७/१०६)

**अर्थ :—** जीव और ब्रह्मके एकत्व-स्वरूपका अर्थात् अद्वैत-तत्त्वका चिन्तन करना, उसीका कथन करना, एक दूसरेको उसी तत्त्वको समझाना तथा सदा केवल तन्निष्ठ होकर रहना, इसीको ज्ञानी लोग **ब्रह्माभ्यास** कहते है।" ऐसा ब्रह्माभ्यास करते करते चित्तकी एकाग्रतारूप निदिध्यासनकी प्राप्ति होती है। साधकके लिए इस निदिध्यासनका आदेश देती हुई श्रुति भगवती कहती है —

**"तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञा कुर्वीत ब्राह्मण।**
**नानुध्यायाद्-बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापन हि तत्॥"**

**अर्थ** —धीर ( ब्रह्मचय आदि साधनोसे युक्त ) ब्राह्मण ( ब्रह्मपदको चाहनेवाले मुमुक्षु ) को उचित है कि उसी आत्मस्वरूप परमात्माको पूर्णरूपसे जानकर [ जिसमे आत्मा और परमात्माके अभेद ( एकत्व ) मे किसी प्रकारके सशयादि न रह जांय ] प्रज्ञा ( निदिध्यासन=एकाग्रता ) करे अर्थात् ब्रह्म और आत्माके एकत्व-ज्ञानकी निरन्तर धारा बहा दे। अनात्माको विषय करनेवाले बहुतसे शब्दोका ध्यान [और कथन दोनो] छोड दे, क्योकि वह [द्वैत-

ध्यान व द्वैत-कथन] केवल मन और वाणीकी थकावटका कारण ही होता है।" द्वैतमूलक शब्दोंका ध्यान करनेसे **मन** व्यर्थ थकता है तथा द्वैत-प्रतिपादक शब्दोंको बोलनेसे वाणीको व्यर्थ परिश्रम होता है। इस प्रकार वेदने अपने मुखसे इसी **निदिध्यासनका** वर्णन किया है।

ये श्रवण, मनन व निदिध्यासन ज्ञानके साक्षात् साधन नही हैं परन्तु **असभावना** ( सशय ) और **विपरीत-भावना** इन बुद्धिके दोषोको नष्ट करनेवाले है।

'यह रस्सी है या सर्प है' इस प्रकार एकमे विरुद्ध अनेक कोटिवाले ज्ञानको **असंभावना** अर्थात् सशय कहते हैं। सशय दो प्रकारका होता है (१) **प्रमाणगत संशय** (२) **प्रमेयगत सशय**।

(१) वेदान्त-वाक्य अद्वितीय ब्रह्मके अर्थात् जीव ब्रह्मके एकत्वके प्रतिपादक है अथवा अन्य अर्थके प्रतिपादक हैं इस प्रकार प्रमाणमे ( वेदान्तमे = उपनिषदोके वचनोमे ) जो सशय होता है उसे **प्रमाणगत संशय** कहते हैं। **ऐसा सशय ऊपर कहे हुए श्रवणसे नष्ट होता है।**

(२) जीव व ब्रह्मका अभेद सत्य है अथवा भेद सत्य है ? इत्यादिरूपसे अनेक प्रकारवाला प्रमेय ( जानने योग्य अद्वैत-तत्त्व व मोक्ष आदि पदार्थ ) मे जो सशय होता है उसे **प्रमेयगत सशय** कहते हैं। यह **प्रमेयगत संशय ऊपर कहे हुए मनन से दूर होता है।**

विपरीत-भावनाका स्वरूप समझाते हुए पंचदशीकार लिखते है:—

"यद्यथा वर्तते तस्य तत्त्वं हित्वाऽन्यथात्वधी. ।
विपरीता भावना स्यात् पित्रदावरिधीर्यथा ॥" (७/११०)

अर्थ .– जिस [सीपि आदि] पदार्थका जो स्वरूप है, उसके उस स्वरूपको छोडकर उसे अन्यथा [चादी आदिरूपसे] समझ लिया जाय, यह 'विपरीत-भावना' कहलाती है। [इसीको 'अतत्को 'तत्' समझ लेना भी कहा जाता है] जैसे किसी नासमझ बालक या युवकको पिता आदि हितैषियोमे शत्रु-बुद्धि हो जाती है उसे भी विपरीत-भावना कहते है ।"

जैसे रस्सीमे 'यह सर्प है' इस प्रकारकी जिस अविद्याकी वृत्तिको भ्रान्ति-ज्ञान कहते है वही **विपर्यय** अथवा **विपरीत-भावना** कहलाती है, उसीको ज्ञानाध्यास और **विपरीत-ज्ञान** भी कहते है । इस लक्षणके अनुसार देहादिको आत्मा समझना तथा जगत्को सत्य मान बैठना विपरीत-भावना है । इस विपरीत-भावनाका वर्णन करते हुए पञ्चदशीकार लिखते हैं :—

"आत्मा देहादि-भिन्नोऽयं मिथ्या चेद जगत्तयो. ।
देहाद्यात्मत्व-सत्यत्वधी-विपर्यय-भावना ॥" (७/१११)

अर्थ :— सच्ची बात यह है कि यह आत्मा देहादियोसे भिन्न है और यह जगत् मिथ्या है, ऐसा होनेपर भी आत्माको तो देहादिरूप मान लेना तथा जगत्को सत्य समझ लेना, यही विपरीत-भावना है ।"

यह विपरीत-भावना निदिध्यासनसे दूर होती है। इस बातको समझाते हुए श्रीस्वामी विद्यारण्यजी महाराज भी लिखते हैं :—

"तत्त्व-भावनया नश्येत् साऽतो देहातिरिक्तताम् ।
आत्मनो भावयेत् तद्वन्मिथ्यात्वं जगतोऽनिशम् ॥" (७/११२)

अर्थ :— वह विपरीत-भावना क्योंकि तत्त्व-भावनासे ( आत्मा देहादिसे भिन्न है तथा यह जगत् मिथ्या है, ऐसा निरन्तर ध्यान अर्थात् निदिध्यासन करते रहनेसे ) नष्ट हो जाती है। इसलिए साधकका यह कर्त्तव्य है कि वह दिनरात निरन्तर आत्माकी देहादिसे भिन्नता तथा सच्चिदानंद-स्वरूपता ( परब्रह्मरूपता ) की और देहादि जगत्‌के मिथ्यापनकी भावना किया करे।" इस प्रकारकी मानसिक स्थितिरूप निदिध्यासन से अर्थात् वृत्तिकी एकाग्रतासे विपरीत-भावना नष्ट होती है।

इसप्रकार श्रवण, मनन व निदिध्यासन ये तीनो असभावना व विपरीत-भावनाको नष्ट करनेवाले हैं और असभावना व विपरीत-भावना ज्ञानके प्रतिबन्धक ( रुकावट डालनेवाले ) हैं इसलिए प्रतिबन्धकोंके नाश-द्वारा परम्परासे श्रवणादि ज्ञानके हेतु ( साधन ) हैं, साक्षात् हेतु नही। ज्ञानके साक्षात् साधन तो कानमे पडे हुए वेदान्त-वाक्य हैं। जैसे नेत्रोमे डाला हुआ अजन, नेत्र-रोगकी निवृत्ति द्वारा ( परपरासे ) सूर्यके दर्शनका साधन है, साक्षात् नही; सूर्यके दर्शनका साक्षात् साधन तो नेत्र हैं। उसी प्रकार श्रवणादि ज्ञानके प्रतिबन्धक-रूप असंभावनादिकी

निवृत्ति द्वारा ज्ञानके साधन हैं, बाकी ज्ञानके साक्षात् साधन तो श्रोत्रसबधी वेदान्त-वाक्य हैं। वे वेदान्त-वाक्य दो प्रकारके होते है। (१) अवांतर-वाक्य (२) महावाक्य। परमात्माके अथवा जीवके स्वरूपको वतलानेवाले वाक्य **अवान्तर-वाक्य** कहलाते हैं। जैसे "सत्य ज्ञान-मनन्त ब्रह्म" (तै० २-२) "य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु-र्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः ।" ( छा० ८-७-१ ) अर्थात् जो आत्मा [धर्माधर्मादिरूप] पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन, विशोक, क्षुधारहित व पिपासा-रहित है ।" इत्यादि। तथा जीव और परमात्माकी एकताके बोधक वाक्योको **महावाक्य** कहते है। जैसे "तत्त्वमसि" "अह ब्रह्मास्मि" इत्यादि। इनमे अवातर-वाक्यसे परोक्ष ज्ञान होता है और महावाक्यसे अपरोक्ष ज्ञान होता है। "ब्रह्म है" इस ज्ञानको परोक्ष ज्ञान कहते हैं तथा 'ब्रह्म मै हूँ" इस ज्ञानको अपरोक्ष ज्ञान कहते है। जब आचार्य "तू ( तुम्हारा वास्तविक स्वरूप ) ब्रह्म है" इस महावाक्यका उच्चारण करता है, तब उस वाक्यका उत्तम अधिकारी श्रोताके कानसे सबन्ध होते ही "मै ब्रह्म हूँ" ऐसा अपरोक्ष बोध (प्रत्यक्ष ज्ञान) श्रोताको हो जाता है परन्तु श्रोताके कानसे यदि महावाक्यका सबन्ध न हो अर्थात् यदि श्रोता उस वाक्यको सुने ही नही तो ज्ञान नही होगा इसीलिए श्रोत्र-सवन्धी वाक्य ही ज्ञानका हेतु (साधन) माना जाता है।

श्रोत्र-सबन्धी अवान्तर-वाक्य परोक्ष ज्ञानका हेतु है और श्रोत्र-सबन्धी महावाक्य अपरोक्ष ज्ञानका हेतु है।

महावाक्यसे सबको अपरोक्ष ही ज्ञान होता है, परोक्ष नहीं।

## वेदान्तके एकदेशीका मत

सिद्धान्तके एक देशका आश्रय लेकर स्वतन्त्र अपनी तरफसे कुछ अधिक निरूपण करनेवालेको एकदेशी कहा जाता है। एकदेशीका यह मत है:—

(१) श्रवण, मनन व निदिध्यासनके सहित महावाक्यसे अपरोक्ष ज्ञान होता है। और

(२) केवल महावाक्यसे परोक्ष ज्ञान होता है, अपरोक्ष नही। यदि केवल महावाक्यसे अपरोक्ष ज्ञान मान लिया जाय तो श्रवण, मनन व निदिध्यासन व्यर्थ हो जायेंगे।

**सिद्धान्ती** :— केवल महावाक्यसे ही अपरोक्ष ज्ञान होता है और श्रवणादिसे असभावना तथा विपरीत-भावनाका नाश होता है इसलिए श्रवणादि भी व्यर्थ नही हैं।

**एकदेशी** :— जिस वस्तुका अपरोक्ष ( प्रत्यक्ष ) ज्ञान हो जाता है उसमें फिर किसीको भी असंभावना (संशय) और विपरीत-भावना (भ्रान्ति) नही होती। इसलिए केवल महावाक्यसे प्रत्यक्ष ज्ञानको माननेवाले आपके मतमे "तत्त्वमसि" आदि महावाक्योसे ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेके बाद असभावना और विपरीत-भावना हो नही सकती; और जब सशय और भ्रान्ति ही नहीं होगी तो फिर उसके निवारणार्थ श्रवण व मननादिकी भी आवश्यकता नही होनी चाहिए। अतः अनावश्यक होनेसे श्रवणादि साधन जिनको "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो

निदिध्यासितव्यः।" इस श्रुतिने ब्रह्म-साक्षात्कारके जो साधन बताये है, वे सब व्यर्थ हो जायेगे। इस प्रकार श्रवणादिके व्यर्थ सिद्ध हो जानेसे यह मत वेद-विरुद्ध प्रतीत होता है। और "केवल महावाक्य सुननेसे परोक्ष ज्ञान होता है तथा फिर श्रवण, मनन व निदिध्यासन करनेसे अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान होता है।" इस हमारे मतमे श्रवणादि व्यर्थ न होनेसे हमारा मत वेद-सगत होनेके कारण समीचीन है। [यह वहुत ग्रन्थकारोका मत है]

## ॥ एकदेशी मतकी असमीचीनता ॥

सिद्धान्ती :- जो वस्तु व्यवहित ( काल और देश द्वारा दूर ) होती है उसका शब्दसे परोक्ष ( अप्रत्यक्ष ) ही ज्ञान होता है, अपरोक्ष ज्ञान किसी प्रकारभी नही हो सकता। जैसे व्यवहित (दूर) स्वर्ग नरक अथवा लदन आदिका और इन्द्र आदि देवताओका, शास्त्र अथवा रेडियो आदिरूप शब्दसे परोक्ष ही ज्ञान होता है। और जो पदार्थ अव्यवहित ( वर्तमान तथा समीप ) होता है, उसका शब्दसे परोक्ष तथा अपरोक्ष दोनो प्रकारके ज्ञान होते हैं।

**एकदेशी** — अव्यवहित (वर्तमान तथा समीप) वस्तुका अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान ही होता है, परोक्ष ज्ञान कैसे होगा ?

**सिद्धान्ती** — जहाँ अव्यवहित वस्तुको शब्द 'अस्ति' (है) रूपसे वतलाता है वहाँ अव्यवहित वस्तुका भी परोक्ष ही ज्ञान होता है। जैसे कोई दश गाँवके भगेडी चुकी (भाँग) पीकर इकट्ठे हो दूसरे गाँवमे मेला देखने जा रहे थे। रास्ते

मे उन्हे मृगतृष्णाका जल दिखाई दिया। उस जलको सत्य मानकर चलते चलते जब पार हो गए तब उनका मुखिया अपनेको छोडकर बाकी सबको गिनने लगा। गिनतीमे नौ आनेसे रोने लगा कि 'हाय दशवाँ डूब गया।' किसी पथिक दयालु पुरुषने उससे रोनेका कारण पूछा। भगेड़ियोंके उस मुखियाने कहा "हम दश जने मेला देखने चले थे। हममेसे एक जना इस सामनेवाले जलमे डूब गया है।" उस बुद्धिमान पुरुषने देखा कि सामने तो जल है नही और पूरे दश होने पर भी, नशेमे स्वयको भूलकर दशवेके लिए मुखिया रो रहा है तब उससे कहा "घबराओ मत दशवाँ है।" तब उसे सत्य वक्ता समझ कर उस भगेड़ीको दशवा स्वयं अव्यवहित होने पर भी "दशम पुरुष है" इस प्रकार 'अस्ति' (है) रूपसे बतलाए गए अव्यवहित अपने दशवे स्वरूपका भी शब्दसे परोक्ष ही ज्ञान हुआ।

और जहाँ अव्यवहित (वर्तमान तथा समीप) वस्तुका 'यह है' [जैसे 'यह गीता है'] इस प्रकार शब्द बोध कराता है वहाँ उस अव्यवहित पदार्थका शब्दसे अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान ही होता है, परोक्ष नही। जैसे जब उस भगेड़ियोके मुखियाने पूछा कि "दशवाँ यदि है तो कृपया बताओ कि वह कहाँ है ?" तब उस दयालु पुरुषने और नौ आदमियोंको गिनते हुए अलग करके फिर जोरसे कहा कि "जो तू इन नौ आदमियोको देख रहा है वह इन सबका साक्षी दशवाँ तू है।" इस प्रकार "दशवाँ तू है" इस शब्द द्वारा बतलाए

गए अपने दशवेपनका उसको अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान होगया। क्योंकि यह ज्ञान यद्यपि 'दशवाँ तू है' इस शब्दसे हुआ है फिर भी दशवाँ व्यक्ति अव्यवहित (अत्यन्त समीप) है अत प्रत्यक्ष ज्ञान ही उसका होता है। इसी प्रकार ब्रह्म यद्यपि आत्मस्वरूप है, अत अत्यन्त अव्यवहित (अत्यन्त समीप) है, फिर भी ब्रह्मके स्वरूप-बोधक 'सत्य **ज्ञानमनन्त ब्रह्म'** 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इत्यादि अवान्तर वाक्य ब्रह्मका अस्तित्वमात्र बतलाते है न कि उसकी आत्म-स्वरूपताको। अत उन अवान्तर वाक्योसे उस आत्मस्वरूप ब्रह्मका परोक्ष ज्ञान ही होता है।

और "दशवा तू है" इस वाक्यकी तरह श्रोताको 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य आत्मरूपमे ब्रह्मका बोध कराते हैं। इसलिए महावाक्यसे अव्यवहित ब्रह्मका परोक्ष ज्ञान नही किन्तु अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान ही होता है।

**यहाँ यह रहस्य** है – जैसे दशम पुरुषको मन और नेत्र द्वारा प्रत्यक्ष करने योग्य अपने दशवेपनका, मन व नेत्ररूप साधन-सामग्रीके होने पर भी अपरोक्ष बोध नही हुआ, किन्तु "दशवाँ तू है" इस वाक्यमे ही अपरोक्ष ज्ञान हुआ है इसलिए दशमके अपरोक्ष ज्ञानका प्रमाण (मुख्य साधन) तो शब्द है, मन और नेत्र उस शब्दके सहकारी हैं। उसी प्रकार ब्रह्मके साक्षात्कारका प्रमाण (मुख्य साधन) तो महावाक्यरूप शब्द है तथा साधनो द्वारा शुद्ध मन उसका सहकारी है।

मे उन्हे मृगतृष्णाका जल दिखाई दिया। उस जलको सत्य मानकर चलते चलते जव पार हो गए तव उनका मुखिया अपनेको छोडकर बाकी सबको गिनने लगा। गिनतीमे नौ आनेसे रोने लगा कि 'हाय दशवाँ डूब गया।' किसी पथिक दयालु पुरुषने उससे रोनेका कारण पूछा। भगेड़ियोके उस मुखियाने कहा "हम दश जने मेला देखने चले थे। हममेसे एक जना इस सामनेवाले जलमे डूब गया है।" उस बुद्धिमान पुरुषने देखा कि सामने तो जल है नही और पूरे दश होने पर भी, नशेमे स्वयको भूलकर दशवेके लिए मुखिया रो रहा है तब उससे कहा "घबराओ मत दशवाँ है।" तब उसे सत्य वक्ता समझ कर उस भगेड़ीको दशवा स्वयं अव्यवहित होने पर भी "दशम पुरुष है" इस प्रकार 'अस्ति' (है) रूपसे बतलाए गए अव्यवहित अपने दशवे स्वरूपका भी शब्दसे परोक्ष ही ज्ञान हुआ।

और जहाँ अव्यवहित (वर्तमान तथा समीप) वस्तुका 'यह है' [जैसे 'यह गीता है'] इस प्रकार शब्द बोध कराता है वहाँ उस अव्यवहित पदार्थका शब्दसे अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान ही होता है, परोक्ष नही। जैसे जब उस भगेडियोके मुखियाने पूछा कि "दशवाँ यदि है तो कृपया बताओ कि वह कहाँ है ?" तब उस दयालु पुरुषने और नौ आदमियोको गिनते हुए अलग करके फिर जोरसे कहा कि "जो तू इन नौ आदमियोको देख रहा है वह इन सबका साक्षी दशवाँ तू है।" इस प्रकार "दशवाँ तू है" इस शब्द द्वारा बतलाए

गए अपने दशवेपनका उसको अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान होगया। क्योकि यह ज्ञान यद्यपि 'दशवॉ तू है' इस शब्दसे हुआ है फिर भी दशवाँ व्यक्ति अव्यवहित (अत्यन्त समीप) है अत प्रत्यक्ष ज्ञान ही उसका होता है। इसी प्रकार ब्रह्म यद्यपि आत्मस्वरूप है, अत अत्यन्त अव्यवहित (अत्यन्त समीप) है, फिर भी ब्रह्मके स्वरूप-बोधक 'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इत्यादि अवान्तर वाक्य ब्रह्मका अस्तित्वमात्र बतलाते है न कि उसकी आत्म-स्वरूपताको। अत उन अवान्तर वाक्योसे उस आत्मस्वरूप ब्रह्मका परोक्ष ज्ञान ही होता है।

और "दशवा तू है" इस वाक्यकी तरह श्रोताको 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य आत्मरूपसे ब्रह्मका बोध कराते हैं। इसलिए महावाक्यसे अव्यवहित ब्रह्मका परोक्ष ज्ञान नही किन्तु अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान ही होता है।

यहाँ यह रहस्य है – जैसे दशम पुरुषको मन और नेत्र द्वारा प्रत्यक्ष करने योग्य अपने दशवेपनका, मन व नेत्ररूप साधन-सामग्रीके होने पर भी अपरोक्ष बोध नही हुआ, किन्तु "दशवाँ तू है" इस वाक्यसे ही अपरोक्ष ज्ञान हुआ है इसलिए दशमके अपरोक्ष ज्ञानका प्रमाण (मुख्य साधन) तो शब्द है, मन और नेत्र उस शब्दके सहकारी हैं। उसी प्रकार ब्रह्मके साक्षात्कारका प्रमाण (मुख्य साधन) तो महावाक्यरूप शब्द है तथा साधनो द्वारा शुद्ध मन उसका सहकारी है।

**एकदेशी :–** जिस पदार्थका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसके विषयमे असभावना और विपरीत-भावना नही हुआ करती। अतः महावाक्यके श्रवण-मात्रसे ही यदि ब्रह्मका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है तो फिर संशय व भ्रान्तिके न रहनेसे वेद-विहित श्रवण, मनन व निदिध्यासन अनावश्यक होनेसे व्यर्थ हो जायेगे।

**सिद्धान्ती :–** यह आपका कथन ठीक नही; क्योकि प्रत्यक्ष दर्शन होने पर भी दूषित अन्तःकरणमे संशय व भ्रान्ति बनी रहती है। जैसे राजाको जंगलमे गए हुए अपने भर्छ नामक मन्त्रीका प्रत्यक्ष ज्ञान होनेपर भी विपरीत-भावना ( भ्रान्ति ) दूर नही हुई, उसी प्रकार महावाक्यसे ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान होनेपर भी जिसकी बुद्धिमे असभावना व विपरीत-भावनारूप दोष होते हैं, उनका दोष-रूप-कलंक-सहित ज्ञान मोक्षरूपी फलका हेतु नही होता। ऐसे सशयालु व भ्रान्त साधकको दोषकी निवृत्तिके लिए श्रवणादि करना चाहिए और जिस उत्तम साधकके हृदयमे सशयादि दोष नही हैं उसके लिए श्रवणादिकी कोई आवश्यकता नही है। अतः **अकृतोपासन** ( जिसने पूर्व उपासनादि साधनों द्वारा अपना मन शुद्ध नही किया है ऐसे साधक) के लिए वेद-विदित श्रवणादिक असंभावनादि दोषोके निवर्त्तक होनेसे सफल होनेके नाते व्यर्थ नही हैं। और उत्तम अधिकारीके हृदयमे सशयादि दोषोके न रहनेसे उसे केवल महावाक्यके श्रवण-मात्रसे ही ब्रह्मका अपरोक्ष

ज्ञान हो जाता है। पचदशीकार श्रीस्वामी विद्यारण्यजी महाराज भी इसी बातको समझाते हुए कहते है '—

"ब्रह्मापरोक्ष्य-सिद्धयर्थं महावाक्य-मितीरितम्
वाक्य-वृत्तावतो ब्रह्मापरोक्ष्ये विमति-र्नहि ॥" (७।७०)

अर्थ — वेदान्तके आचार्य भगवान् शकराचार्यजीने वाक्य-वृत्तिमे 'ब्रह्मका अपरोक्ष ( साक्षात्कार ) करनेके लिए ही महावाक्य है' ऐसा कहा है। इसलिए महावाक्यसे ब्रह्मका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जानेमे कोई विप्रतिपत्ति ( वैमत्य ) नही रहती।" इस प्रकार आचार्योंका स्पष्ट सकेत होनेपर भी जो एकदेशी महावाक्यसे परोक्ष ज्ञान मानते हैं उन्हे सकेत करते हुए श्रीपचदशीकार लिखते हैं —

"एव सति महावाक्यात् परोक्ष-ज्ञान-मीर्यते।
यैस्तेषा शास्त्र-सिद्धान्त-विज्ञानं शोभतेतराम् ॥" (७।७९)

अर्थ — इतना सब सुन चुकनेपर भी जो लोग यह कहते ही जाते है कि महावाक्यसे परोक्ष ज्ञान ही होता है उनका शास्त्र-सिद्धान्तोका ज्ञान तो बहुत बढिया है अर्थात् हसीके योग्य है।" वास्तवमे वे सिद्धान्त-रहस्यको नही जानते। इस प्रकार उनपर उपहास करते हुए श्रीविद्यारण्य स्वामीजी कहते हैं :—

"स्वतोऽपरोक्ष-जीवस्य ब्रह्मत्व-मभिवाञ्छत।
नश्येत् सिद्धाऽपरोक्षत्व-मिति युक्ति-र्महत्यहो ॥" (७।८१)

अर्थ '— सिद्धान्ती हसीमे कहता है तुम्हारी यह युक्ति बड़ी भारी युक्ति रही कि जो जीव अभी तक स्वत अपरोक्ष

( प्रत्यक्ष ) था, उसे जब ब्रह्म-भावकी इच्छा हुई तो उसकी [पहलेसे] सिद्ध अपरोक्षता भी जाती रही।" तात्पर्य यह है कि, क्योकि आत्मा ब्रह्मरूप है यह ज्ञान 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यरूप शब्दसे हुआ और 'शब्दसे जो ज्ञान होता है वह परोक्ष होता है' यह सिद्धान्त मान लेनेपर जो आत्मा पहिले प्रत्यक्ष था अब परोक्ष बन गया। अतः महा-वाक्योंको परोक्ष ( अप्रत्यक्ष ) ज्ञानका जनक मानना ठीक नही है। यदि उपर्युक्त दोषको एकदेशी इष्टापत्ति माने तो उसपर श्रीपचदशीकार कहते है :—

**"वृद्धि-मिष्टवतो मूल-मपि नष्टमिती-दृशम् ।**
**लौकिक वचन सार्थं सम्पन्न त्वत्-प्रसादत. ॥" (७।८२)**

अर्थात् तुम्हारे जैसे अविचार-शीलकी कृपासे यह लौकिक वचन सार्थक हो गया कि 'सूद चाहने वालेका मूल-धन भी नष्ट हो गया'।"

**एकदेशी :–** यदि एक बार महावाक्य सुनने-मात्रसे अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है तो फिर **"आवृत्ति-रसकृदुपदेशात्'** इस ब्रह्मसूत्र ( वेदान्त-दर्शन ) के सूत्र द्वारा भगवान् वेद-व्यासजीने बार बार श्रवणादि करनेका आदेश क्यो किया है ?

**सिद्धान्ती .–** यह हम पहले कह चुके है कि वेदोंने तथा आचार्योंने श्रवणादिका विधान उन साधकोके लिए किया है जिनका मन, पूरा शुद्ध न होनेसे असंभावना ( सशय ) व विपरीत-भावना ( भ्रान्ति ) रूपी दोषोसे युक्त होनेके कारण

महावाक्यके सुननेसे भी अपरोक्ष ज्ञान दृढ नही होता अर्थात् सशयादि रह जाते है। ऐसे साधकोके लिए भगवान् शकराचार्यजी भी श्रवणादिका विधान करते हुए कहते है —

"अह ब्रह्मेति-वाक्यार्थ-बोधो यावद् दृढीभवेत् ।
शमादि-सहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥"

अर्थ – जब तक किसीको "मै ब्रह्म हूँ" इस वाक्यके अर्थ का ज्ञान दृढ (असभावना व विपरीत-भावनासे रहित) न हो जाय, तब तक वह शमदमादिसे युक्त होकर, श्रवणादिका अभ्यास किया करे।"

बाकी उत्तम अधिकारीके लिए तो भगवान् वसिष्ठजी कहते है "हेरामजी! फूल मसलनेमे भी देरी लगती है, आत्मज्ञान होनेमे इतनी भी देरी नही लगती।" अत यह सिद्ध हुआ कि अन्य अधिकारियोको सशयादि निवृत्त करनेके लिए श्रवणादि आवश्यक है परन्तु उत्तम अधिकारीको तो महावाक्यके श्रवण-मात्रसे ही दृढ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान होजाता है।

जैसे हाथने ढक्कनरूपी प्रतिबन्धकको हटाया फिर भी आँखने हीरेको देखा यही कहा जाता है, अर्थात् हीरेके दर्शनका साधन नेत्र है हाथ नही, इसी प्रकार अपरोक्ष ज्ञानके साधन महावाक्य है श्रवणादि नही। परन्तु ज्ञानके प्रतिबन्धक संशयादि दोषोके नाशक होनेके नाते श्रवणादि भी ज्ञानके हेतु कहलाते है। और श्रवणादिकोके हेतु ( साधन ) विवेकादिक है। इसलिए विवेकादि भी ज्ञानके साधन कहलाते है। अत विवेकादि चार साधनोसे सयुक्त जो साधक है वही अधिकारी है।

## ॥ सम्बन्ध-वर्णन ॥

**दोहा :– प्रतिपादक-प्रतिपाद्यता, ग्रन्थ ब्रह्म सम्बन्ध ।**
**प्राप्य-प्रापकता कहत, फल अधिकृतको फद ॥**

सम्बन्ध :– (१) ग्रन्थका और विषयका प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भाव सम्बन्ध है । ग्रथ प्रतिपादक ( बतलानेवाला ) है और विषय प्रतिपाद्य ( बतलाने योग्य ) है ।

(२) अधिकारी और फलका प्राप्य-प्रापक-भाव सम्बन्ध है । फल प्राप्य ( पाने योग्य ) है और अधिकारी प्रापक ( पानेवाला ) है ।

(३) अधिकारीका और विचारका कर्तृ-कर्त्तव्य-भाव सम्बन्ध है । अधिकारी कर्त्ता ( करनेवाला ) है और विचार कर्त्तव्य ( करने योग्य ) है ।

(४) ग्रन्थका और ज्ञानका जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध है । विचार-द्वारा ग्रथ ज्ञानका जनक ( उत्पन्न करनेवाला ) है और ज्ञान जन्य ( उत्पन्न होनेवाला ) है ।

## विषय-वर्णन

**दोहा :– जीव ब्रह्मकी एकता, कहत विषय जन बुद्धि ।**
**तिनको जे अंतर लहै, ते मतिमन्द अबुद्धि ॥**

**टीका :–** जीव और ब्रह्मकी एकता इस ग्रन्थका विषय है । जिसका प्रतिपादन (कथन) किया जाता है उसे **विषय** कहते हैं । इस ग्रन्थमे जीव और ब्रह्मकी एकताका

प्रतिपादन किया जायगा। इसलिए वह एकता इस ग्रन्थका विषय है। समस्त वेदके वचन भी इसी एकता (आत्मा और परमात्माकी एकता) का वर्णन करते हैं। इसलिए जो लोग जीव और ब्रह्मका वास्तविक भेद कहते है वे मन्द-बुद्धि, विचार-हीन और वेदके विरोधी है।

## ॥ प्रयोजन-वर्णन ॥

**दोहा – परमानन्द स्वरूपकी, प्राप्ति प्रयोजन जानि।**
**जगत समूल अनर्थ पुनि, ह्वै ताकी अतिहानि ॥**

प्रपचका कारण अज्ञान और प्रपञ्च दोनो जन्म व मरणरूपी दु खके कारण हैं। इसलिए दोनो अनर्थ कहलाते हैं। इस-अनर्थकी निवृत्ति और परमानदकी प्राप्तिको **मोक्ष** कहते हैं। वह (मोक्ष) ग्रन्थका परम प्रयोजन है और अवान्तर प्रयोजन ज्ञान है। (१) जिसमे व्यक्तिकी अभिलाषा (इच्छा) होती है वह **परम प्रयोजन** कहलाता है, उसे **पुरुषार्थ** भी कहते है। और सभी व्यक्तियोको जिस दु खकी निवृत्तिमे और सुखकी प्राप्तिमे अभिलाषा (इच्छा) होती है, वही **मोक्ष का स्वरूप** है।

अत परम प्रयोजन मोक्ष है, ज्ञान नही, क्योकि सुखकी प्राप्ति और दु खकी निवृत्तिका साधन तो ज्ञान है परन्तु ज्ञान सुख-प्राप्तिरूप व दु ख-निवृत्तिरूप नही है। इसलिए ज्ञान अवान्तर प्रयोजन है।

(२) जिसके द्वारा परम प्रयोजनकी प्राप्ति होती है वह अवांतर प्रयोजन कहलाता है। ग्रन्थके पढनेसे ज्ञानद्वारा मुक्तिरूप परम प्रयोजनकी प्राप्ति होती है; इसलिए ज्ञान अवान्तर प्रयोजन है।

## ॥ ग्रन्थके प्रयोजनमें शंका और समाधान ॥

## ॥ *शंका-पूर्वक उत्तरका कवित्त* ॥

जीवको स्वरूप अति, आनंद कहत वेद।
ताकूं सुख-प्राप्तिको, असंभव बखानिये ॥

आगे जो अप्राप्त वस्तु, ताकी प्राप्ति संभवत।
नित्य-प्राप्त वस्तुकी तौ, प्राप्ति किम मानिये? ॥

ऐसी सका लेस आनि, कीजै न विस्वास हानि।
गुरुके प्रसादतै, कुतर्क भले भानिये ॥

करको कंकन खोयो, ऐसो भ्रम भयो जिहि।
ज्ञानतै मिलत इम, प्राप्त-प्राप्ति जानिये ॥

**शंका** :– आपने अनर्थकी निवृत्ति और परमानदकी प्राप्ति ग्रन्थका प्रयोजन कहा, सो ठीक नही है, क्योकि "प्रज्ञानमानद ब्रह्म" अर्थात् प्रज्ञान ( चेतन-स्वरूप ) जो जीव है वह आनदरूप ब्रह्म है। इस प्रकार चारों वेदोमे जीवका स्वरूप परमानद बतलाया है तथा आप इस बातको स्वीकार भी करते हैं। और जो वस्तु अप्राप्त होती है उसकी प्राप्ति बन

सकती है तथा जो वस्तु सदा प्राप्त है उसकी प्राप्ति कहना वनता नही, इसलिए सदा परमानद-स्वरूप आत्माको परमानद की प्राप्ति कहना सव प्रकारसे असभव है।

**समाधान** – प्रिय वत्स! इस शकासे ग्रन्थके प्रयोजनमे विश्वास दूर नही करना, किन्तु आत्म-विद्याके उपदेशक जो गुरुदेव है, उनकी कृपासे दृष्टान्त-द्वारा शका दूर कर देनी चाहिये। वह दृष्टान्त सुनो –

जैसे किसीके हाथमे ककन था। उसे यह भ्रम हो गया कि 'मेरा ककन खो गया' वादमे किसीके कहनेसे उसे ऐसा ज्ञान हो गया कि 'मेरा ककन तो मेरे हाथमे ही है।' तब वह कहने लगा कि "मेरा ककन मिल गया है।" इस प्रकार पहलेसे प्राप्त ककनकी भी प्राप्ति कही जाती है।

इसी प्रकार परमानद-स्वरूप आत्माके वारेमे जीवको अविद्याके कारण ऐसी भ्रान्ति होती है कि 'मेरा असली स्वरूप आत्मा परमानद स्वरूप नही है किन्तु परमानद स्वरूप तो ब्रह्म है। उस ब्रह्मका और मेरा वियोग हो गया है। उपासना करके उस ब्रह्मको मै प्राप्त कर लूगा। इस प्रकार की भ्रान्ति वहुत अज्ञानी प्राणियोको हो रही है।

**शका** – भगवन्! ऐसा तो वहुत पण्डित भी कहते है।

**समाधान** – प्रिय वत्स! ब्रह्मका वियोग कोई भी क्यो न कहे, उसे वैसा ही समझना चाहिए, क्योकि जो जीव और

ब्रह्मकी अलग सत्ता मानकर वास्तविक भेद मानते हैं, वे अज्ञानी ही कहे जाते हैं। ऐसे व्यक्तियोको पुण्य संस्कारोंके जगनेपर यदि कभी ब्रह्मज्ञानी आचार्यसे वेदान्त ग्रन्थोके श्रवणका अवसर मिल जाता है, तब उस सुने हुए अर्थका निश्चय हो जानेपर, इस प्रकार कहने लगते हैं कि 'ग्रन्थ और आचार्यकी परम कृपासे हमे परमानंदकी प्राप्ति हुई है।" उनके इस कथनका अभिप्राय यह है कि आत्मा तो परमानद-स्वरूप पहले भी था परन्तु 'मेरा आत्मा परमानद-स्वरूप है' इस प्रकार अनुभव नही हो रहा था। इसलिए अप्राप्तकी तरह था। आचार्य-द्वारा ग्रन्थके श्रवणसे परमानद-स्वरूप का भान हुआ है इसलिए परमानदकी प्राप्ति कह देते हैं। इस प्रकार **प्राप्तको भी प्राप्ति बनती है**। अतः परमानदकी प्राप्तिरूप ग्रन्थका प्रयोजन सभव है, इस विषयमे कोई भी असभावना (सशय) नही करनी चाहिए।

जैसे नित्य प्राप्तकी प्राप्ति ग्रन्थका प्रयोजन है वैसे **नित्य निवृत्तकी निवृत्ति** भी प्रयोजन सभव है। जैसे रस्सी मे सर्प नित्य निवृत्त है और रस्सीके ज्ञानसे निवृत्त होता है उसी प्रकार आत्मामे जन्म-मरणादि-दु खरूप ससार नित्य निवृत्त है अर्थात् तीनो कालोमे है ही नही, परन्तु अविद्याके कारण कल्पित प्रतीत हो रहा है। इस कल्पित बन्धनकी निवृत्ति आत्मज्ञानसे ही होती है। इसलिए नित्य निवृत्तकी निवृत्ति और नित्य प्राप्तकी प्राप्ति **ग्रन्थका प्रयोजन** है।

शका.– भगवन् ! कारण ( अज्ञान ) के सहित जगत्की निवृत्ति और परमानदकी प्राप्ति ग्रन्थका प्रयोजन आपने कहा वह सभव नही है। क्योकि निवृत्ति नाम ध्वसका है तथा ध्वस और नाश दोनोका एक ही अर्थ होता है। नाश अभावरूप है और ब्रह्मकी प्राप्ति भावरूप है। इसलिए एक मोक्षमे भावरूपता और अभावरूपता दोनो धर्मोंकी प्रतीति होती है। वे दोनो एक जगह मोक्षरूप अधिकरणमे कैसे बन सकते हैं ? क्योकि भावरूपता और अभावरूपता दोनो परस्पर दिन और रात्रिकी तरह विरोधी हैं। वे एक काल और एक वस्तुमे नही रह सकती; इसलिए ग्रन्थका प्रयोजन संभव नही है :—

## इस असंभावना (शंका) के समाधानका दोहा

अधिष्ठानतें भिन्न नहि।
जगत-निवृत्ति बखान॥
सर्प-निवृत्ती रज्जु जिम।
भये रज्जुको ज्ञान॥

समाधान :– "कल्पितकी निवृत्ति ज्ञातत्व-धर्मसे उपलक्षित अधिष्ठानरूप होती है" इस भाष्यकारके सिद्धान्ताऽनुसार कारण-सहित जगत्की निवृत्ति अधिष्ठान सामान्य चेतन ब्रह्मरूप है, ब्रह्मसे भिन्न नही। जैसे सर्पकी निवृत्ति अधिष्ठान रस्सीरूप है वैसे "समस्त कल्पित पदार्थोंकी निवृत्ति अधिष्ठानरूप

होती है, अधिष्ठानसे पृथक् नही होती।" यह भाष्यकार आचार्य शंकरका सिद्धान्त है। इसलिये अनर्थ ( अज्ञान-सहित जगत् ) की निवृत्ति ब्रह्मरूप है, क्योंकि जो सम्पूर्ण अनर्थका अधिष्ठान ब्रह्म है वह भावरूप है। इस प्रकार अनर्थकी निवृत्ति भावरूप होनेसे ग्रन्थका प्रयोजन बनता है, यह बात सिद्ध हुई।

इस प्रकार इस प्रथम तरंगमे इस ग्रन्थके अधिकारी सम्बन्ध, विषय और प्रयोजन इन चारो अनुबन्धोका सामान्य रूपसे वर्णन हुआ। अन्तमे श्रीस्वामी निश्चलदासजी महाराज इस प्रथम तरंगको पढनेवाले जिज्ञासुओको आशीर्वाद देनेके लिए अपने आचार्य श्रीदादू महाराजजीसे प्रार्थना करते हुए कहते हैं :—

**दोहा.— जो जन प्रथम तरंग यह, पढै ताहि तत्काल।**
**करहु मुक्त गुरु-मूर्ति ह्वै, दादू दीन-दयाल॥**

**अर्थ :—** हे दीनदयाल श्रीदादू महाराज! जो अधिकारी इस प्रथम तरंगको पढे, उन्हें आप बिना विलम्बके गुरुदेवका रूप धारण करके अपने उपदेशामृत-द्वारा ज्ञान प्राप्त करवा कर इस जन्म-मरणके चक्रसे मुक्त करदे।" इस दोहेमे श्रीनिश्चलदासजी महाराज व्यावहारिक दृष्टिसे अपने आचार्योंके प्रति सदा श्रद्धा-भाव बनाए रखना चाहिये ऐसा संकेत कर रहे हैं। मंगलाचरणमे "काकूं करूं प्रणाम" पारमार्थिक दृष्टिसे अपने अद्वैत-स्वरूप आत्म-तत्वको लक्ष्य करके कहा

गया है। अत. ऐसी शका नही करनी चाहिए कि श्रीस्वामी निश्चलदासजी महाराज प्रणाम करनेका खण्डन करते हैं, क्योकि उन्होने इस प्रकार कई स्थलोपर व्यावहारिक-रूपसे प्रणाम आदि किया है। जैसे श्रीविचार-सागरके छठे तरगमे श्रीगणपतिजीका स्मरण करते हुए कहते है –

दोहा –नासै विघ्न समूलतै, श्री-गनपतिको नाम।
जा चिन्तन बिन ह्वै नही, देवन हू के काम॥

आगे भगवान् विष्णु व शिवजीको प्रणाम करते हुए कहते है –

सोरठा.– असुरनको सहार, लछमी पारवती-पती।
तिन्हे प्रनाम हमार, भजतनकू संतत भजै॥

आगे शक्तिसे प्रार्थना करते हुए कहते हैं —

दोहा.– जा सक्तीकी सक्ति लहि, करै ईस यह साज।
मेरी बानीमै वसहु, ग्रन्थ सिद्धिके काज॥

आगे अपने आचार्यश्रीसे प्रार्थना कहते हुए लिखते है –

दोहा:– बध-हरन सुख-करन श्री, दादू दीन-दयाल।
पढै सुनै जो ग्रन्थ यह, ताके हरहु जजाल॥

वहाँ अन्तमे वेदान्त-शास्त्रके कर्त्ता आचार्य भगवान् श्रीवेद-व्यासजीको नमस्कार करते हुए लम्बी कविता लिखते हुए अन्तमे कहते हैं –

"करत प्रनाम ताहि, निश्चल पुकारिके॥"

इससे सिद्ध हुआ कि–"श्रीस्वामी निश्चलदासजी महाराज व्यावहारिक-रूपसे प्रणाम आदिका खडन नही करते, प्रत्युत

मंडन ही करते है। और 'गुरुमूर्ति ह्वै" इन शब्दोसे इस बातका भी सकेत कर रहे है कि इस ग्रन्थसे पूर्ण बोध तो आचार्यके मुखसे श्रवण करनेसे ही होगा। अत: जिज्ञासु-जनोको अवसर निकाल कर इस ग्रन्थका स्वाध्याय आचार्यों द्वारा करना चाहिए। ॐ शम्।



इति श्री-विचार-सागर-दर्पणे अनुबन्ध-सामान्य-निरूपण नाम प्रथमस्तरंग समाप्त.॥ १ ॥

# द्वितीयस्तरंगः

## अथ अनुबन्ध-विशेष-निरूपणम्

प्रथम तरगमे जिन चार अनुबन्धोका सामान्यरूपसे वर्णन किया था, उन्हीका इस द्वितीय तरगमे शका समाधान सहित कुछ विस्तारसे वर्णन करते हैं।

**शंका :–** आपने प्रथम तरगमें कहा कि मल विक्षेप रहित तथा चार साधन सहित पुरुष इस ग्रन्थका अधिकारी है। उन चार साधनोमें एक मुमुक्षा भी बतलाई। मुमुक्षा अर्थात् मोक्षकी इच्छा। सो मोक्षकी इच्छा किसीको भी नही होती, क्योकि मोक्षके दो अश है–(१) कारण (अज्ञान) सहित ससारकी निवृत्ति और (२) ब्रह्मकी प्राप्ति। इनमेसे कारण सहित ससारकी निवृत्ति तो कोई नही चाहता; किन्तु दु खोकी निवृत्ति सब चाहते हैं। दु ख तीन प्रकारके होते है–(१) आध्यात्मिक ( रोग, भूख इत्यादिसे दु ख ) (२) आधिभौतिक ( चोर, शेर, सर्प आदिसे दु ख ) व (३) आधिदैविक (यक्ष, राक्षस आदिसे तथा सर्दी गर्मी आदिसे उत्पन्न दु.ख)। इन तीनो दु.खोकी निवृत्ति अपने अपने उपायोसे हो जाती है।

और ब्रह्मकी प्राप्ति भी कोई नही चाहता, क्योकि

हम उसी वस्तुको प्राप्त करना चाहते हैं जिस वस्तुका हमने पहिले कभी अनुभव किया हो; परन्तु ब्रह्मका अनुभव तो किसीने किया ही नही है। अत. ब्रह्मको प्राप्त करनेकी इच्छा भी किसीको नही होगी। इससे सिद्ध हुआ कि कोई भी पुरुष न तो कारण-सहित ससारकी निवृत्ति चाहता है और न ब्रह्मको प्राप्त करना ही चाहता है, प्रत्युत ( बल्कि ) सब विषय सुखको ही चाहते हैं, न कि मोक्षको, अत. मोक्षकी इच्छा न होनेसे कोई अधिकारी नही है, इसलिए यह ग्रंथ बनाना ही निरर्थक है ?

**उत्तर :–** प्रिय वत्स ! तुमने मोक्षके प्रथम अंशपर आक्षेप करते हुए कहा कि ससारकी निवृत्ति कोई नहीं चाहता, किन्तु दु:खोंकी निवृत्ति सब चाहते हैं। और वह दु:खोंकी निवृत्ति अपने अपने उपायोसे हो जाती है। किन्तु दवा आदि उपायोंसे भी दु.खोकी निवृत्ति कभी हो जाती है, कभी नही भी होती। और यदि हो भी जाती है, तो भी सदाके लिए नही होती, तथा सब लोग यह चाहते हैं कि हमारे दु खोकी निवृत्ति ऐसी होजाय कि दु.ख फिर कभी न आए, अर्थात् सब दु:खोंकी अत्यन्त निवृत्ति ही चाहते हैं। सो जब तक जन्म मरणका चक्कर चलता रहेगा, जब तक शरीरोका धारण होता रहेगा, तव तक दु खोंकी अत्यन्त निवृत्ति नही हो सकती। और इसी जन्म मरणके चक्करको ही संसार कहते हैं। अत यह सिद्ध हुआ

कि जब तक कारण-सहित ससारकी निवृत्ति न होगी, तब तक दु खोकी अत्यन्त निवृत्ति नही हो सकती, और हम सब दु खोको निवृत्ति सदाके लिए ही चाहते हैं। दूसरे शब्दोमे यो कहना चाहिए कि हम सब कारण-सहित ससारकी अत्यन्त निवृत्ति ही चाहते है।

**शंका** – भगवन्! आपने कहा कि दु खोकी निवृत्ति तव तक नही हो सकती जव तक शरीरकी निवृत्ति नही होती, यह कैसे और यह भी कृपा करके बताइये कि शरीरकी निवृत्ति कैसे होगी?

**उत्तर** – देखिये, सब शरीर पुण्य और पापसे ही बनते हैं। देवताओके शरीरोकी उत्पत्तिमे अधिक पुण्य हेतु (कारण) पडते हैं और पशु-पक्षी आदि नीच योनियो मे अधिक पाप हेतु पडते है और मनुष्योमे भी जो उच्च है उनमे अधिक पुण्य तथा जो नीच है उनके शरीरोमे अधिक पाप कारण पडते है। तात्पर्य यह है कि सभी शरीरोमे पाप भी कारण पडते ही है, और पाप दु खोके कारण हैं। अत इससे सिद्ध हुआ कि सभी शरीरोमे दु खोको भोगना ही पडता है, अर्थात् जब तक शरीरोकी निवृत्ति नही होगी, तब तक दु खोकी निवृत्ति भी नही हो सकती। और यह शरीरकी निवृत्ति ( जन्म मरणके चक्करकी निवृत्ति ) आत्मज्ञानके बिना नही हो सकती और इस ग्रथमे आत्मज्ञानका वर्णन है, इसलिये यह ग्रथ सार्थक है।

**शका** – विना आत्मज्ञानके शरीरकी निवृत्ति नही

होगी, सो कैसे ?

उत्तर :– शरीर बनता है पुण्य पाप कर्मोंसे और पुण्य पाप बनते है राग-द्वेषसे। राग-द्वेष बनते हैं अनुकूल और प्रतिकूल ज्ञानसे ( यह मेरे सुखका साधन है, ऐसा समझनेको 'अनुकूल समझना' कहते है और इससे मुझे दुःख मिलेगा ऐसा समझनेको 'प्रतिकूल समझना' कहते हैं )। सो अनुकूल ज्ञान और प्रतिकूल ज्ञान 'भेद-ज्ञान'से उत्पन्न होता है, क्योंकि जिसको हम अपने स्वरूपसे भिन्न समझते है उसीमे अनुकूलता तथा प्रतिकूलता बन सकती है, अपने आपमे तो अनुकूलपना और प्रतिकूलपना होता ही नही है। यह भेद-ज्ञान अपने स्वरूपके अज्ञानसे उत्पन्न होता है, और वह स्वरूपका अज्ञान, बिना स्वरूपको पहचाने, दूर नही हो सकता। जैसे रस्सीका अज्ञान रस्सीके जाननेसे ही निवृत्त हो सकता है, वैसे ही अपने स्वरूपका अज्ञान भी अपने आपको पहिचाननेसे ही निवृत्त होगा और अपने आपको पहिचाननेको ही आत्मज्ञान कहते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मज्ञानसे आत्माका अज्ञान नष्ट होता है और आत्माके अज्ञानके नष्ट होनेसे भेदज्ञान ( द्वैतज्ञान ) की निवृत्ति होती है, और भेदज्ञानके नष्ट होनेसे ही अनुकूल ज्ञान और प्रतिकूल ज्ञान नष्ट होते हैं। अनुकूल और प्रतिकूल ज्ञानके नष्ट होनेसे राग-द्वेष नष्ट होते हैं। राग-द्वेषकी निवृत्तिसे पुण्य और पापकी निवृत्ति होती है। पुण्य-पापकी निवृत्ति से शरीरकी निवृत्ति होती है। अतः यह सिद्ध हुआ कि दुःखों

की निवृत्तिके लिये, जिस शरीरकी निवृत्तिकी आवश्यकता है, वह शरीरकी निवृत्ति विना आत्मज्ञानके नही हो सकती।

**शका**.— भगवन्! आपकी कृपासे यह तो समझमे आगया कि मोक्षका पहिला अश ससारकी निवृत्ति है, और उसको सव चाहते है, किन्तु ब्रह्मका जब किसीने अनुभव ही नही किया है, तो उसे कौन चाहेगा?

**उत्तर**:— हे जिज्ञासु! तुम्हारी यह शका ब्रह्मके स्वरूपको नही जाननेसे ही हो रही है। "ब्रह्म नित्य सुख-स्वरूप है," ऐसा वेदका सिद्धान्त है, और सुखका अनुभव सभीने किया है, इसलिए सभी लोग सुख-स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त करना चाहते हैं। और यह जो तुमने कहा कि सब लोग विषय-सुखको चाहते है, सो वात नही है, किन्तु सव लोग केवल सुखको ही चाहते है। वह सुख चाहे विषयोसे मिले, चाहे विना विषयोके, जैसे – सुषुप्ति और समाधिमे। और जो सुख विषयोसे मिलता है, वह तो क्षणिक है, और हम लोग तो नित्य सुख अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त करना चाहते है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सब लोग जन्म-मरण रूप ससारकी निवृत्ति और नित्य सुखरूप ब्रह्मकी प्राप्तिको चाहते हैं, और इसीको ही दूसरे शब्दोमे मोक्ष कहते हैं। उसको सब लोग चाहते है, अर्थात् सब मुमुक्षु होनेके कारण अधिकारी है, इसलिए यह ग्रथ निरर्थक नही है।

**शंका** – भगवन्! इस ग्रन्थके अधिकारी होनेसे इसका लिखना सार्थक है, यह वात तो समझमे आगई,

परन्तु आपने इस ग्रन्थका विषय, जो जीव ब्रह्मकी एकता बतलाई, वह समझमे नही आई, क्योकि जीव अविद्या, अस्मिता ( बुद्धि और आत्माके एकताकी प्रतीति अर्थात् सामान्य अहकार ) राग, द्वेष, और अभिनिवेश ( मृत्युके भयसे शरीरकी रक्षामे आग्रह ) इन पाँचों क्लेशोंवाला है, और ब्रह्म इन पाँचों क्लेशोसे रहित है । जीव परिच्छिन्न ( सीमित ) है और ब्रह्म व्यापक है । जीव अनेक हैं और ब्रह्म एक है । ऐसे बिल्कुल विरुद्ध धर्मवाले जीवका ब्रह्मसे अभेद ( एकता ) कैसे होगा ? और यदि हम हठसे जीव ब्रह्मको एक समझनेके लिए, जीवको अनेक न समझकर एक मानेगे तो एक जीवके सुखी दु खी होनेसे सभीको सुख दु खका भान होना चाहिए, और एकके मुक्त होनेसे सभी मुक्त होने चाहियें ।

उत्तर :– प्रिय वत्स ! हमारे जीव ब्रह्मकी एकताके तात्पर्यको न समझनेसे ही तुम्हे यह शका उठ रही है । हम सारे जीवकी ब्रह्मसे एकता नही करते, किन्तु जीवका जो अधिष्ठान, कूटस्थ, साक्षी भाग है, उस साक्षी और ब्रह्मकी आपसमे एकता करते है । और ये जो राग-द्वेष सुख-दु ख, बन्धन-मोक्ष है, ये सब अन्त.करणके धर्म है । इसी बातको कहते हुए स्वामी श्रीनिश्चलदासजी महाराज लिखते हैं :–

साक्षी ब्रह्मस्वरूप इक, नहीं भेद को गन्ध ।
रागद्वेष मतिके धरम, तामै मानत अन्ध ॥

और अन्त.करण अनेक है, इसलिए एकके सुखी-दु.खी होनेसें

सब सुखी-दुःखी भी नही होते।

**शंका** :— भगवन् ! आपने एकता करते समय अन्तःकरण इत्यादिको छोडकर केवल साक्षी भागसे ब्रह्मकी एकता बतलाई, सो साक्षी यद्यपि सुख-दुःखसे रहित है, किन्तु एक नही नाना है, क्योकि जैसे मेरा साक्षी मेरे अन्तःकरणके सुखको और अन्तःकरणके धर्मोंको जानता है, वही साक्षी यदि सबमे एक होता, तो सबके अन्तःकरणके धर्मोंको भी जानता। किन्तु हम देखते हैं कि सबका साक्षी अलग अलग अपने अपने अन्तःकरणके धर्मोंको जानता है। इसलिए वह एक नही अनेक हैं, और ब्रह्म एक है, ऐसा वेदका सिद्धान्त है। तो फिर साक्षी और ब्रह्मकी भी एकता कैसे हो सकती है ?

उत्तर — हे सौम्य ! **यह जानना इत्यादि अन्तःकरणके धर्म हैं, न कि साक्षीके।** साक्षी तो केवल उस वृत्तिको सत्ता व स्फूर्ति देनेवाला तथा उसका प्रकाशक है। उस वृत्तिकी उपाधिसे उस प्रकाशक चेतनका नाम साक्षी पडता है, और वृत्तिका जो नानापन तथा वस्तुको जानना इत्यादि क्रियाएँ है, उनका मिथ्या आरोप उस शुद्ध चेतनमे होनेसे हम उस शुद्ध चेतनको भ्रान्तिसे जाननेवाला तथा अनेक मानते है। जैसे महाआकाश एक है, किन्तु हम घडेकी उपाधिसे उसे घटाकाश कहते है। यदि घडे अनेक हैं, और कही लिये जारहे है, तो बच्चोको ऐसी भ्रान्ति होती है कि घटाकाश भी अनेक है और कही लिए जारहे है। किन्तु जैसे अनेकपना और लियाजानापना दोनो घड़ेके धर्म हैं और हमे

घटाकाशमे भ्रान्तिसे प्रतीत होते हैं। ठीक इसी प्रकार किसी वस्तुको जानना और नानापना ये सब अन्तःकरणकी वृत्तिके धर्म हैं, परन्तु साक्षीमे मिथ्या प्रतीत होते हैं। जाननेवाली जो अन्तःकरणकी वृत्ति है, वह सबकी भिन्न भिन्न है; क्योंकि अन्तःकरणभी सबके भिन्न भिन्न हैं, इसीलिए हम एक दूसरेके सुख-दुःखको नही जान सकते; किन्तु साक्षी जो शुद्ध चेतन है, वह तो सबमे एक है। अतः उस प्रकाशरूप एक साक्षीकी ब्रह्मसे एकता हो सकती है।

जैसे सामान्य-प्रकाश-रूप बिजली सब बल्बोमे एक है, किन्तु बल्बोकी उपाधिसे जो विशेष प्रकाश बनता है, वह भिन्न भिन्न होता है। लाल बल्बकी उपाधिसे लाल, हरेकी उपाधिसे हरा तथा सफेदकी उपाधिसे सफेद प्रकाश दीखता है और ये भिन्न भिन्न प्रकाश भिन्न भिन्न पदार्थोंको प्रकाशित करते हैं। अब यदि कोई ऐसा कहे कि सामान्य-प्रकाशरूप बिजली सब जगह एक है तो जिस समय मेरे इस मकानमे जैसा लाल प्रकाश करती है, उसी समय सभी मकानोमे मेरे यहाँ जैसा लाल प्रकाश क्यों नही होता ? तो हम कहेगे कि यद्यपि वह सामान्य प्रकाश तो सब जगह एक है, किन्तु मकानको प्रकाशित करना उसका धर्म नही है। वह तो केवल बल्बोंको सत्ता देनेवाला तथा प्रकाशित करनेवाला है। किन्तु मकानमे प्रकाश फैलानेवाले बल्ब सबके भिन्न भिन्न हैं, इसलिए एक बल्बको जलानेसे सब बल्ब नही जलते। इसी प्रकार सामान्य-चेतन-रूप साक्षीके एक होनेपर भी अन्तःकरण-रूप बल्ब सबके भिन्न भिन्न हैं और अन्तःकरणके

धर्म भी सवके भिन्न भिन्न है तथा उन धर्मोका ज्ञान भी भिन्न भिन्न होता है। जैसे वटन दवाने से पहले भी, सामान्य विजली तो मौजूद ही रहती है, किन्तु ज्यो ही वटनको दवाया जाता है त्योही वल्वके हरे स्वरूप और मकानकी वस्तुओका प्रकाश होता है, वैसे ही इस जाग्रत् अवस्था-रूपी वटनके दवनेके पहिले भी सामान्य चेतन साक्षी तो मौजूद ही रहता है, किन्तु ज्योही जाग्रत्-अवस्था-रूपी वटन दवता है, अर्थात् ज्यो ही जाग्रत् अवस्था आती है, त्योही अन्त.करणके धर्मोका तथा वाह्य ससारके पदार्थोका ज्ञान होने लगता है। यह जाग्रत् अवस्था अथवा स्वप्न-अवस्थारूपी वटन जिस जिसका, जहाँ जहाँ और जव जव दवता रहता है, उस उसको वहाँ वहाँ और तव तव ज्ञान होता रहता है, किन्तु साक्षी चेतन तो विजलीकी तरह सदैव निर्विकार तथा सामान्य-प्रकाशरूपसे स्थित (कायम) रहता है। उस साक्षी और ब्रह्मकी एकता होती है। वह साक्षी जीवका लक्ष्यार्थ है। इसी नाते हम जीव और ब्रह्मकी एकताका वर्णन करते है। वह सगत है असगत नही, अर्थात् उचित है, अनुचित नही।

शका – भगवन्! आपने परमानन्द-स्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति और जन्म-मरण-रूप ससारकी निवृत्ति इस ग्रथका प्रयोजन वतलाया था, और यह कहा था कि ससाररूपी वन्धनकी निवृत्ति आत्मज्ञानसे ही हो सकती है, जैसे रस्सीमे कल्पित सर्पकी निवृत्ति रस्सीके ज्ञानसे ही हो सकती है। किन्तु यह वात वही घट सकती है जहाँ सर्प मिथ्या हो। सच्चे सर्पकी निवृत्ति तो चाहे कितना ही रस्सीका ज्ञान करते रहो, नहीं होगी; इस

प्रकार यदि यह ससार भी मिथ्या होता तो इसकी निवृत्ति आत्मज्ञानसे हो सकती। किन्तु यह ससार तो सत्य है, इसलिए इसकी निवृत्ति किसीके ज्ञानसे नही होगी, क्योकि जैसे घडा बनानेके लिए मिट्टी, कुम्हार, चक्र डडे इत्यादि की आवश्यकता होती है, इसी प्रकार किसी भी वस्तुको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए पाच कारणोको बतलानेकी आवश्यकता पड़ती है :- (१) **सत्यवस्तुके ज्ञानजन्य सस्कार** :- जैसे सर्पकी भ्रान्ति उसीको हो सकती है, जिसने पहिले कभी सच्चा सर्प देखा हो, उसी प्रकार यदि ससारसे पहिले कोई सच्चा ससार होता तो हम मानते कि उस सच्चे ससारके ज्ञानके जो सस्कार हैं, उनसे इस ससारकी भ्राति हो रही है, किन्तु आपके मतमे तो ब्रह्मके अतिरिक्त कोई सत्य है ही नहीं, और जब इस ससारसे पहिले कोई दूसरा सत्य संसार ही नही था तो उसके सस्कार भी न होगे; तो फिर उसके (इस ससारसे पहिले किसी दूसरे सत्य ससारके) सस्कारोके न होनेसे, इस संसारकी भ्रान्ति कैसे हो सकती है ? इसलिए यह ससार मिथ्या नही, किन्तु सत्य है।

(२) **प्रमेय-दोष अर्थात् अधिष्ठानमें सादृश्य दोष**- जैसे :- रस्सी जो सर्पका अधिष्ठान है, उसमे सर्पकी भ्रान्ति इसलिए होती है कि वह भी सर्पके सदृश लम्बी टेढी रखी हुई है, किन्तु पत्थरमे कभी सर्पकी भ्रान्ति नही हो सकती। इसी प्रकार आत्मामे ससारकी भ्रान्ति हम तभी मान सकते हैं, जब आत्मा भी ससारके सदृश हो, किन्तु आत्मा और

संसार तो बिल्कुल अवकाश और प्रकाशकी तरह आपसमें विपरीत स्वभाववाले हैं। आत्मा अन्दर है और संसार बाहर है। आत्मा प्रकाशक है और संसार प्रकाश्य अर्थात् प्रकाशित होने योग्य है। इस प्रकार जब दोनोंमें एक-जैसापन नहीं है, तो फिर आत्मामें संसारकी भ्रान्ति कैसे हो सकती है ?

(३) प्रमाताका दोष अर्थात् प्रमाता (अन्तःकरण) में भय इत्यादि दोष।—जैसे डरपोक आदमीको ही सर्पकी भ्रान्ति होती है, न कि शूरवीरको।

(४) प्रमाणका दोष अर्थात् प्रमाण (नेत्र-आदि इन्द्रियों) में धुंधलापन इत्यादि दोष।—जैसे रस्सीमें सर्पकी भ्रान्ति उसीको हो सकती है जिसके नेत्रमें धुंधलापन हो, अथवा कुछ अंधेरेके कारण धुंधलापन हो। किन्तु यहाँ तो ये प्रमाता और प्रमाण दोष दोनों ही नहीं दीखते, क्योंकि अन्तःकरण तथा नेत्रादिक इन्द्रियाँ तो सृष्टिके पहिले थी ही नहीं, फिर यह सृष्टिकी भ्रान्ति किसको होती है ?

(५) अधिष्ठानके विशेषरूपका अज्ञान अर्थात् अधिष्ठानरूप-आत्माका अज्ञान।—सो आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है, उसका अज्ञान कैसे हो सकता है क्योंकि ज्ञान और अज्ञान दोनों प्रकाश और अंधकारकी तरह एक दूसरेके विरोधी हैं। और दूसरा जैसे रस्सीमें सर्पकी भ्रान्ति उसीको हो सकती है जिसको रस्सीरूपी अधिष्ठानके विशेषरूप (सूक्ष्म तन्तु, उमेठापन, बट इत्यादि रस्सीपन) का अज्ञान हो, और साथ साथ उस रस्सीके सामान्यरूप (लम्बापन, पतलापन यह-पन और है-पन)

का ज्ञान भी हो किन्तु ब्रह्ममे तो सामान्यपन और विशेषपन है ही नही; वह तो निर्विशेष है। इसलिए जब ब्रह्मका सामान्यरूपसे ज्ञान और विशेषरूपसे अज्ञान सिद्ध नही होता है तो फिर उसमे ससारकी भ्रान्ति भी सिद्ध नही हो सकती।

जब यह सिद्ध हुआ कि ससार भ्रान्तिरूप नही है, तो फिर इसकी निवृत्ति आत्माके ज्ञानसे नही हो सकती; जैसे सच्चे सर्पकी निवृत्ति रस्सीके ज्ञानसे नही हो सकती। यदि सच्चे सर्पको निवृत्त करना है तो डण्डेसे भगाना अथवा मारनारूपी कर्म करनेकी आवश्यकता है। इसी प्रकार इस सच्चे ससारसे यदि हम मोक्ष चाहते हैं तो वह कर्मसे ही हो सकता है, न कि ज्ञानसे, क्योकि मोक्षका अर्थ है दुःखोसे छूटना। सो जब तक शरीर कायम रहेगा, तब तक मोक्ष नहीं हो सकता और यह शरीर पुण्य तथा पाप कर्मोंका फल है। अब हम नये पुण्य और पाप नहीं करेंगे तो उनका आगेके लिए सम्बन्ध नही बनेगा और यदि भूलमे कुछ पाप कर्म हो भी जाएँ तो उनका प्रायश्चित्त कर लेंगे, जो प्रायश्चित्त शास्त्रने असाधारण रूपसे (खास खास) बतलाए हैं। और जो पहिले जन्मोके पाप कर्म हैं तथा जिनका हमें पता नही कि कौनसा प्रायश्चित्त करे, उनके लिए साधारण प्रायश्चित्त रामनामका जप, गंगा-स्नान आदि करनेसे वे नष्ट हो जाएंगे, तथा जो इस जन्मके और पहिले जन्मोके पुण्य कर्म है, हम उनके फलकी इच्छा न रखेगे तो वे अपने आप नष्ट हो जाएँगे।

जैसे आप लोग कहा करते हो कि निष्काम कर्म करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और सकाम कर्म करनेसे अपना अपना फल प्राप्त होता है, वैसे हम भी यदि निष्काम हो जाएँगे, तो हमे उनका फल नही मिलेगा। बाकी रहे **नित्य** और **नैमित्तिक** कर्म, जिनके नही करनेसे पाप लगता है और करनेसे कोई फल नही होता, उनको तो हम करते रहेगे, जिससे उनके नही करनेसे जो पाप लगता है, वह नही लगेगा।

और जो काम्य कर्म भिन्न भिन्न कामनाओसे किये जाते है, जिनसे हमे किसी लोक इत्यादि की प्राप्ति हो वे हम करेंगे नही। शेष ( बाकी ) जो प्रारब्ध कर्म है, उनको हम इसी जन्ममे भोग लेंगे।

इस प्रकार करनेसे जब सब पुण्य-पाप कर्म समाप्त हो जायेंगे, तब हमारा अपने आप मोक्ष हो जायगा। अतः आत्मज्ञानकी कोई आवश्यकता नही है। और आपने आत्म-ज्ञान-द्वारा इस जन्म-मरण-रूपी बन्धन की निवृत्ति, जो इस ग्रन्थका प्रयोजन (फल) बतलाया, सो गलत दीखता है, क्योकि मोक्ष ज्ञानका फल नही किन्तु कर्मका फल है।

**उत्तर** – हे जिज्ञासु! तुमने किसी वस्तुको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए जो पाँच कारण बताए और कहा कि इनके विना कोई वस्तु मिथ्या सिद्ध नही हो सकती है, सो ठीक नही, क्योकि इन पाँच कारणोके विना भी भ्रान्ति देखी जाती है। तुमने पहिला कारण बताया, **सत्य वस्तुके ज्ञानके सस्कार**; किन्तु यह नियम नही है। क्योकि हम देखते

हैं कि जिस पुरुषने सिनेमामे अथवा किसी चित्रमे कोई सर्प देखा हो, जो सत्य नही है, तो उसको भी उस मिथ्या सर्पके ज्ञानके सस्कारोसे, रस्सीमे सर्पकी भ्रान्ति हुआ करती है। यह बात दूसरी है कि वह सिनेमावाला सर्प भी किसी बाह्य सर्पका चित्र है, परन्तु यहाँ प्रसंग यह चल रहा है कि जैसे बाह्य व्यावहारिक सत्तावाले सर्पको देखनेसे सस्कार बनते हैं वैसे प्रातिभासिक सत्तावाले (प्रतीतिमात्र) मिथ्या सर्पको देखनेसे भी सस्कार बनते है और उन सस्कारोसे भी रस्सीमे सर्पकी भ्रान्ति बन सकती है। और इस मिथ्या ससारका **प्रवाह** अनादि कालसे चलता आ रहा है। जब नई सृष्टि होती है, तो पहिलेकी सृष्टिके सस्कार रहते ही हैं, जिन संस्कारोसे हमे फिर ससारके सत्यत्वकी भ्रान्ति उत्पन्न होती रहती है। जैसे इस जन्मसे पहिले जन्ममे जो मिथ्या शरीर, पुत्र, स्त्री इत्यादि **भोग-सामग्री** थी, उसमे सत्यत्व भ्रान्तिके सस्कारोसे इस जन्ममे प्राप्त हुए शरीर, पुत्र, स्त्री इत्यादि भोग सामग्रीमे भी सत्यत्वकी भ्रान्ति हो रही है। इससे यह सिद्ध होता है कि ससारको सत्य समझना भ्रान्ति है, और इस भ्रान्तिकी निवृत्ति उसके अधिष्ठानरूप आत्माके ज्ञानसे ही हो सकती है, क्योकि भ्रान्तिकी निवृत्ति अधिष्ठानके ज्ञानसे ही हुआ करती है।

और तुमने दूसरा कारण बताया **प्रमेयका दोष** अर्थात् अधिष्ठानके **सदृशपनेका** दोष। किन्तु यह भी कोई नियत कारण नही है, क्योकि हम देखते है कि सदृशताके बिना

भी भ्रान्ति हो सकती है, जैसे आत्मामे जातिकी भ्रान्ति (जैसे मैं ब्राह्मण हूँ, स्त्री हूँ इत्यादि)। आत्मामे जातिकी (ब्राह्मणपने आदिकी) सदृशता किसी भी प्रकारसे नही है तो भी भ्रान्ति होती ही है। और जैसे शखमे पीलेपनकी भ्रान्ति, मिश्रीमे कडवेपनकी भ्रान्ति और आकाशमे तम्बूपने व नीलेपनेकी भ्रान्ति होती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि, विना सादृश्य दोपके भी भ्रान्ति हो सकती है।

तीसरा कारण तुमने **प्रमाता (अन्त करण) मे भय आदि दोष** वतलाए। किन्तु यह भी नियम नही है, क्योकि हम देखते है कि शूरवीरको भी रस्सीमे साँपकी भ्रान्ति और विरक्त (लोभ-रहित) को भी सीपिमे चाँदीकी भ्रान्ति हो जाती है।

चौथा कारण वताया था **प्रमाण दोष**, अर्थात् आँख आदि इन्द्रियोमे दोप। किन्तु यह भी नियम नही है, क्योकि हम देखते है, कि सभी पुरुपोको आकाशमे नीलेपनकी तथा तम्बूके आकारकी भ्रान्ति होती है, तो क्या सबकी आँखे खराव हो गयी हैं ? किन्तु यह तो हो ही नही सकता कि सवकी आँखोमे धुन्धलापन आ जाए। इससे यह सिद्ध होता है कि **बिना इन्द्रिय-दोषके भी भ्रान्ति हो सकती है।**

पाँचवा कारण **अधिष्ठानके विशेषरूपका अज्ञान** वतलाते हुए, तुमने कहा कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इसलिये उसका अज्ञान हो नही सकता, क्योकि ज्ञानरूप आत्मा और अज्ञान दोनो परस्पर विरोधी हैं। किन्तु यह तुम्हारा कहना ठीक नही है, क्योकि जैसे लकडीमे व्यापक सामान्य अग्नि लकडीकी विरोधी नही है, किन्तु विशेषरूपसे प्रकट हुई अग्नि ही लकडीकी

विरोधी है, उसी प्रकार आत्मा अर्थात् व्यापक सामान्य चेतन अज्ञानका विरोधी नही है, किन्तु अन्त'करणकी वृत्तिके सहित चेतन (विशेष चेतन) ही अज्ञानका विरोधी है। जैसे हम देखते हैं कि सुषुप्ति अवस्थामे अज्ञान भी है और सामान्य चेतन भी साक्षीरूपसे विराजमान है, किन्तु वहाँ अन्तःकरणकी वृत्तिके न होनेके कारण विशेष चेतन है नही, जो अज्ञानको नष्ट करे। वहाँ तो केवल सामान्य चेतन है, जो अज्ञानका विरोधी नही प्रत्युत ( बल्कि ) प्रकाशक है। और यह नियम है कि व्यापक पदार्थका विरोधी हो नही सकता। जैसे जिस कमरेमे प्रकाश पूर्णरूपसे व्यापक होगा उस कमरेमे अधकार रह नही सकता। सामान्य चेतन ब्रह्म चूकि सर्वव्यापक है अतः अज्ञानका ज्ञानस्वरूप ब्रह्म यदि विरोधी होता तो अज्ञान कही रहता ही नही। अज्ञान रह रहा है इसमे अज्ञानियोका अनुभव प्रमाण है। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानस्वरूप सामान्य चेतन ब्रह्म अपनी शक्तिरूप अज्ञानका विरोधी नही है प्रत्युत ( बल्कि ) प्रकाशक है।

और तुमने यह कहा था कि "जिस वस्तुका सामान्यरूपसे ज्ञान हो और विशेषरूपसे अज्ञान हो, उसी वस्तुमे ही भ्रान्ति होती है, किन्तु आत्मामे तो सामान्यपना और विशेषपना है नही, इसलिए उसमे ससारकी भ्रान्ति नही हो सकती।" सो तुम्हारा यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि किसी भी वस्तु का जो स्वरूप अधिक समयमे और अधिक देशमे रहता है वह उस वस्तुका सामान्य-स्वरूप कहलाता है। और जो स्वरूप कम समयमे और कम देशमे रहता है, वह उस वस्तुका विशेष-

रूप कहलाता है। आत्माका जो सत् स्वरूप (है-पन) है, वह अधिक समयमे और अधिक मनुष्योको प्रतीत होता है, क्योकि हम देखते है कि ज्ञानी अथवा अज्ञानी, सभीको सदा "मैं हूँ", ऐसी अपने "है-पन" की प्रतीति तो होती ही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि यह "है-पन" (सत्-पना) आत्माका **सामान्य स्वरूप** है और उस सामान्य स्वरूपका ज्ञान सभीको रहता है। और आत्माका जो चेतन, आनन्द, नित्य शुद्ध, नित्य वुद्ध और नित्य मुक्त स्वरूप है, सो कम समयमे ( केवल ज्ञान होनेके वाद ) और कम मनुष्योको ( केवल ज्ञानियोको ही ) प्रतीत होता है, इसलिए वही आत्माका विशेप स्वरूप है। ओर उस विशेष स्वरूपका सवको ज्ञान नही है। इसलिए जो तुमने पाँचवा कारण वताया, कि अधिष्ठानके सामान्य-रूपका ज्ञान और विशेप-रूपका अज्ञान होना चाहिए, वह कारण तो यहाँ घटता है अर्थात् मौजूद है, क्योकि ससारके अधिष्ठान आत्माके सामान्य-स्वरूप (है-पन) का ज्ञान और विशेष-स्वरूप (चेतन, आनन्द आदि) का अज्ञान होनेसे आत्मामे ससारकी भ्रान्ति सिद्ध होती है। जिस वस्तुकी भ्रान्ति होती है, उसे मिथ्या कहते है तथा मिथ्या वस्तुकी निवृत्ति उसके अधिष्ठानके ज्ञानसे ही होती है इसलिए ससार की निवृत्ति आत्मज्ञानसे ही हो सकती है, न कि किसी दूसरे उपायसे। अत॰ आत्मज्ञान-द्वारा ससारकी निवृत्ति करना इस ग्रन्थका प्रयोजन (फल) ठीक ही है, गलत नही।

और जो तुमने कर्मसे मोक्षका प्रतिपादन करते हुए कहा —"मुमुक्षु पाप कर्म और सकाम कर्मोको छोड दे,

जिससे उसको नीचलोक अथवा उत्तमलोककी प्राप्ति नही होगी। और नित्य नैमित्तिक कर्मोको नही करनेसे जो पाप लगता है, वह उनके करते रहनेसे नही लगेगा। इस जन्ममे अथवा इससे पहलेके जन्मोमें जो पाप किये है, उनका साधारण और असाधारण प्रायश्चित्त करनेसे नाश हो जायगा। तथा पहिले किये हुए जो सकाम कर्म हैं उनके फलकी इच्छा छोड़ देनेसे उनका फल मिलेगा नही, इस प्रकार आत्माके ज्ञानके बिना ही जन्मका अभावरूप मोक्ष मिल जायगा।" सो तुम्हारा यह कहना भी ठीक नही है, क्योंकि **नित्य नैमित्तिक कर्मोंका भी स्वर्गरूप फल है** यह बात भाष्यकार श्रीस्वामी शकराचार्यजी महाराजने युक्ति और प्रमाणोसे सिद्ध की है। इसलिए नित्य नैमित्तिक कर्मोंको करनेसे उत्तम लोककी प्राप्ती तो होगी, परन्तु मोक्ष नही हो सकता। और यह जो तुमने कहा कि नित्य नैमित्तिक कर्म नहीं करनेसे पाप लगता है इसलिये उस पापको हटानेके लिए नित्य और नैमित्तिक कर्म करने चाहिये, सो ठीक नही है। क्योंकि नित्य नैमित्तिक कर्मोंका नही करना, यह एक प्रकारका अभाव है, और पापका उत्पन्न होना एक प्रकारका भाव है। भगवान्‌ने गीताके दूसरे अध्यायमे कहा है :— **"नासतो विद्यते भावः"** अर्थात् अभावसे कभी भावकी उत्पत्ति नही होती। इससे यह सिद्ध हुआ कि **नित्य तथा नैमित्तिक कर्मोका फल पापकी अनुत्पत्ति नहीं है किन्तु उनका स्वर्ग इत्यादि फल है, न कि मोक्ष।** और जो तुमने यह कहा कि पहिले जन्मोके सकाम कर्मोके फलकी इच्छाको छोड देनेसे,

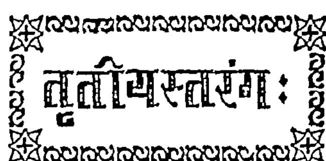
उनका फल नही मिलेगा, सो भी ठीक नही है, क्योकि यदि इच्छाके नही रहनेसे ही फल नही मिलता, तो दुःखकी इच्छा तो किसीको होती ही नही, फिर पाप कर्मोंका फल दु ख भी किसीको नही मिलना चाहिये। और "**नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प-कोटि-शतैरपि**" यह शास्त्रका सिद्धान्त है कि सैकडो कोटि कल्प वीतनेपर भी कर्म विना फल दिये नष्ट नही होता। इस शास्त्रके अनुसार भी "केवल इच्छा के न रहने मात्रसे कर्म फल नही देता", यह तुम्हारा कहना ठीक नही है।

आत्मज्ञानीके तो कर्म नष्ट हो सकते है, क्योकि कर्म, कर्त्ता, और फल ये आत्मामे वास्तवमे तो हैं ही नही, केवल अज्ञानसे ही कल्पित है। उस अज्ञानका विरोधी केवल ज्ञान है। इसलिए अज्ञानसे कल्पित जो कर्मादिक है, उनका नाश भी केवल ज्ञानसे ही होता है। जैसे सपनेमे निद्राके दोषसे जो पदार्थ प्रतीत होते है, उनका जाग्रत्मे निद्राके उड जानेसे अभाव हो जाता है। उसी प्रकार अज्ञानरूप निद्रासे प्रतीत होनेवाले जो कर्म, कर्त्ता और फल है, उनका भी ज्ञान-अवस्थारूप जाग्रत्के आनेपर, अविद्यारूप निद्राके टूट जानेसे, नाश हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानीके कर्मादिक तो ज्ञानरूपी जाग्रत् अवस्थाके आने पर नष्ट हो सकते है, किन्तु जव तक आत्मज्ञान उत्पन्न नही होगा तव तक कर्मादिकोका अभावरूप मोक्ष कभी नही हो सकता।

और जो तुमने यह कहा :— कि "निष्काम कर्म करनेसे और कोई फल नही मिलता किन्तु उससे केवल अन्त-

करणकी शुद्धि होती है, यह वात जैसे वेदान्तमे मानते है, वैसे हम भी पहले किये हुए कर्मोके फलकी इच्छा नही रखेंगे, तो हमे भी कर्मोंका फल नही मिलेगा ।" यह कथन ठीक नही है, क्योकि वेदान्तका तात्पर्य यह है कि जो निष्काम कर्म करता है उसका अन्तःकरण शुद्ध होता है और यदि अन्त करण शुद्ध होनेके वाद ज्ञान-द्वारा मोक्ष हो गया तब तो कर्म अपना फल नही देंगे । क्योकि मोक्ष होनेके बाद, सूक्ष्म शरीरका अभाव हो जाता है और जब सूक्ष्म शरीर ही नही रहता तो फिर पुण्य-पाप कर्म अपना फल सुख दुःख किसको देंगे । किन्तु यदि ज्ञान न होकर मोक्ष न हुआ, तब तो कर्म अपना फल अवश्य ही देंगे । और जो सकाम भावसे कर्म करता है उसको तो केवल कर्मका फल ही मिलेगा, न कि अन्तः-करणकी शुद्धि । इससे यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष केवल ज्ञानसे ही हो सकता है न कि कर्मसे । क्योकि निष्काम कर्म अन्त करणकी शुद्धि-द्वारा ज्ञान प्राप्त करवाकर परम्परा से मोक्षके साधन बन सकते है, किन्तु मोक्षका साक्षात् साधन तो केवल ज्ञान ही है । इसी प्रकार ग्रन्थके अधिकारी, विषय और प्रयोजन बन सकते है और इनके बननेसे जो हमने पहिले तरगमे सम्बन्ध बतलाये है, उनपर कोई शका नही हो सकती । इसलिए इस ग्रन्थका आरभ सफल है ।

इति श्रीविचारसागरदर्पणे अनुबन्ध-विशेष-निरूपणं नाम द्वितीयस्तरंग समाप्त. ॥२॥




## अथ श्रीगुरुशिष्यलक्षण
## तथा
## गुरुभक्ति-प्रकार-निरूपणम्

प्रथम तरगमे जो अधिकारीके लक्षण बताये थे, वे लक्षण जिसमे हो वही शिष्य कहलाता है। जिस प्रकार समुद्रका जल यो पीनेसे खारा लगता है और पेटमे गडबड करके दुःखी करता है, किन्तु बादलो द्वारा बरसनेके बाद वही जल मीठा हो जाता है और प्यास भी बुझा देता है। इसी प्रकार चार साधन सम्पन्न शिष्य जब इस ग्रथको गुरु-मुखसे सुनेगा, तभी आत्मशाँति प्राप्त कर सकेगा, अन्यथा नही। क्योकि इस ग्रन्थमे जो कही-कही कठिन कडियाँ आती है, उनका अपने आप अर्थ करनेसे अनर्थ भी हो सकता है। परन्तु गुरु-मुख-द्वारा सुननेसे ही उनके वास्तविक अर्थका ज्ञान प्राप्त करके, जिज्ञासु जीवन्मुक्तिका आनन्द लूट कर विदेह-मोक्ष ( कैवल्य-मोक्ष ) को प्राप्त हो सकता है।

**शका :—** भगवन्! यह तो आपने केवल शिष्यका लक्षण बतलाया और कहा कि इस ग्रन्थको गुरुमुखसे अवश्य पढना

चाहिये । किन्तु जब तक हम गुरुको पहिचानेंगे ही नही तो उसे प्राप्त कैसे करेंगे ? इसलिए कृपया यह बतलाइये कि गुरुके लक्षण क्या है तथा हम उनके पास कैसे जावे और कैसे उनके उपदेश सुने ?

उत्तर :— गुरुके लक्षण तो शास्त्रोमे अनेक कहे है किन्तु उनमे प्रधान पाँच लक्षण है ।

(१) ब्रह्म-श्रोत्रिय ( वेद पढा हुआ ) (२) ब्रह्म-निष्ठ ( ब्रह्म और आत्माके अभेद ज्ञानमे जिसकी निष्ठा हो ) (३) शिष्यकी वुद्धिमे जो पाँच प्रकारकी भेद-भ्रान्ति है [ (१) जीव ईश्वरका भेद (२) जीवोका परस्पर भेद (३) जीवोंका जडसे भेद (४) ईश्वरका जडसे भेद (५) जडका परस्पर भेद] उसको नाना युक्तियोसे दूर करनेमे समर्थ हो । (४) द्वैतको हटाकर अद्वैत, अमल (शुद्ध), असग ब्रह्मका आत्म-रूपसे साक्षात्कार करावे, और (५) वास्तवमे सारा ससार मिथ्या है, ऐसा दृढ निश्चय करानेवाला, गुरु ( आचार्य ) कहलाता है ।

आचार्य शब्दकी व्युत्पत्ति भी शास्त्रमे इस प्रकार बतलाई गई है —

**"आचिनोति च शास्त्रार्थं माचारे स्थापयत्यपि ।**
**स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन कथ्यते ॥"**

अर्थात् जो शास्त्रके अर्थ ( रहस्य ) को जानकर, उस पर चलता है, और दूसरोको भी चलाता है, वही **आचार्य** है, क्योकि स्वय शास्त्रोक्त **आचरण** करनेसे और दूसरोको वैसा **आचरण** करवानेसे ही **आचार्य** नाम पडता है ।

इस प्रकारके गुरु (आचार्य) को प्राप्त करनेके वाद, श्रद्धा से उन्हे नमस्कार इत्यादि करके अपने तन मन धनको उनके चरणोमे अर्पण करना चाहिये। [तन मन धन अर्पण करनेका तात्पर्य यह है कि गुरु जैसी आज्ञा दे, उसी प्रकार तनसे सेवा करना, मनसे उनके सद्विचारोको भली प्रकार ग्रहण करके उन्हे सर्वत्र समाजमे प्रचारित करना तथा धनको उनके आदेशानुसार सामाजिक सेवाके कार्योमे लगाना] और गुरुकी आज्ञामे उसे सदा तत्पर रहना तथा गुरुमे ईश्वरसे भी अधिक भक्ति रखकर ही उनसे वेदान्तका उपदेश सुनना चाहिए।

इति श्रीविचारसागरदर्पणे गुरु-शिष्य-लक्षण-गुरु-भक्ति-प्रकार-निरूपण नाम तृतीयस्तरंग समाप्त ॥३॥



# चतुर्थस्तरंगः

## अथ उत्तमाधिकारी-उपदेश-निरूपणम्

इस चतुर्थ तरंगसे गुरु और शिष्योके वार्तालापकी एक कथा चलती है। इस कथामे, तीन प्रकारके अधिकारी कौन कौनसे होते है और उनको कैसे उपदेश दिया जाता है यह बतलाया जायगा।

एक शुभसन्तति नामका राजा था। उसके तीन पुत्र थे। एकका नाम **तत्त्वदृष्टि** था (जिसकी सदा तत्त्वपर ही दृष्टि रहती थी)। वह उत्तम अधिकारी था। दूसरेका नाम **अदृष्टि** था जिसकी कोई खास दृष्टि ( ज्ञान ) न थी। वह मध्यम श्रेणीका अधिकारी था। तीसरेका नाम था **तर्क-दृष्टि** जिसकी हमेशा तर्कप्रधान दृष्टि रहती थी अर्थात् वह सबको तर्कसे ही देखना चाहता था वह कनिष्ठ अधिकारी था। उन तीनों पुत्रोंको एक दिन राजाने एकान्तमे बुलाकर कहाः—

### ॥ इंदव छंद ॥

**"राजसमाज तजौं सब मैं अब।**
**जानि हिये दुख ताहि असारा ॥**
**और तु लोक दुखी अपनै दुख।**
**मै भुगत्यो जग क्लेस अपारा ॥**

जे भगवान[1] प्रधान अजान[2] स-।
मान दरिद्रन ते जन सारा ॥
हेतु विचार हिये जगके भग[3]।
त्यागि लखूं निजरूप सुखारा ॥"

"अब हे पुत्रो ! मैं इस राज्यके व्यवहारसे बहुत तंग आ गया हूँ। अब इस राज्यको तुम लोग सम्हालो। मैं तो आत्मज्ञान प्राप्त करके, संसारके दुःखोंसे छूटकर, परमानन्दरूप मोक्षको प्राप्त करना चाहता हूँ" उन लड़कोंके कोई पुण्य कर्म उदित हो रहे थे व उन पुण्यकर्मोंकि प्रतापसे उन लड़कोंको ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि यदि राज्यका व्यवहार दुःखदायक है और आत्मज्ञानको प्राप्त करनेसे ही परमानन्दरूप मोक्ष प्राप्त होगा तो फिर हम सब इस दुःखरूप राज्य-बंधनमें क्यों बंधे। हम ही क्यों न चलकर किसी योग्य गुरुकी तलाश करें और उनके उपदेश-द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करके मोक्षको प्राप्त करें। ऐसा सोचकर वे तीनों गुरुकी तलाशमें निकल पड़े। तलाश करते करते उन्होंने किसी तपोवनमें गंगाके किनारेपर शिष्योंको आत्मज्ञानका उपदेश देते हुए एक **ब्रह्मनिष्ठ** तथा **ब्रह्मश्रोत्रिय** महात्माके दर्शन किए। वहाँ उनके उपदेशको सुनकर तीनोंको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ और ऐसी अटूट श्रद्धा उत्पन्न हुई कि इनसे ही हमरा कल्याण हो सकता है। ऐसा निश्चय करके वे वहीं आश्रममें गुरुसेवा करने लगे। उनको बड़ी श्रद्धासे सेवा करते हुए देखकर महात्माने उनसे वहाँ आनेका कारण पूछा। जब उनकी बातचीतसे महात्माजीने यह देखा कि ये तीनों भाई जिज्ञासु हैं, तब उनसे कहा "यदि तुम्हें कोई

१ भगवान=ऐश्वर्यवान् २ अजान=अज्ञानी ३ भग=ऐश्वर्य।

शका हो तो पूछो" । तब तत्त्वदृष्टि, जो उन सब भाइयोमे बडा था हाथ जोडकर कहने लगा कि :—

**शंका** — भगवन्! मैंने कर्म और उपासनाका अभ्यास बहुत ही किया है किन्तु मुझे तो ससारकी फासी अधिक लग रही है, अर्थात् ससारके झझट तो बढ ही रहे हैं। इसलिए मेरी यह इच्छा है कि मुझे आप कोई ऐसा रास्ता बतलावे जिससे मेरे ससारके दुःख नष्ट हो व परमानन्द प्राप्त हो।

**उत्तर** :— हे शिष्य ! वह परमानन्दकी प्राप्ति कौर जन्म-मरणरूपी दुःखके निवृत्तिकी जो इच्छा तुझे हो रही है, वह भ्रान्तिसे उत्पन्न हुई है, क्योकि तुम्हारा असली स्वरूप स्वय परमानन्द-स्वरूप ही है। तुझमे जन्म-मरण इत्यादि दुःख हैं ही नही। तू तो शुद्धचेतनरूप ब्रह्म है।

**शंका** :— प्रभो ! यदि मैं स्व यपरमानन्द-स्वरूप ही हूँ तो फिर मुझे विषयोके सगसे आनन्दका भान क्यो होता है ?

**उत्तर** :— प्रिय वत्स ! यह शका तुझे इसलिए हो रही है कि तुझे यह पता नही है कि आनन्द किसको आता है ? कब आता है ? और कहाँसे आता है ? अब सुनो। सुख और दुःख ये दोनो मनको होते हैं। जब मनकी वृत्ति किसी विषयमे तल्लीन हो जाती है अर्थात् एकाग्र हो जाती है तब सर्वत्र व्यापक व आनन्दस्वरूप आत्माका प्रतिविम्ब उसी समय मन (अन्तःकरण) मे पड़ता है। ऐसा नियम है कि जैसा विम्ब होता है वैसा ही प्रतिविम्ब पडता है, क्योकि हम देखते हैं कि यदि विम्ब काला हो तो प्रतिविम्ब भी काला, विम्ब गोरा हो तो प्रतिविम्ब भी गोरा, विम्ब जड हो तो

प्रतिविम्व भी जड, विम्व प्रकाशरूप हो तो प्रतिविम्ब भी प्रकाशरूप और विम्व आनन्दस्वरूप हो तो प्रतिविम्ब भी आनन्दस्वरूप ही पडता है। अत एव उस आनन्दस्वरूप आत्माका, जव विपयोमे एकाग्र हुए मनमे प्रतिविम्व पडता है, तव मनमे आनन्दकी झलक आती है। किन्तु वह विपयी समझता है कि यह आनन्द विपयोसे आ रहा है। परन्तु वस्तुत वह आनन्द तो प्रतिविम्वरूपसे, आत्मासे ही आता है। यदि उसी समय ही [विषय भोगते समय] किसी दु ख-जनक समाचारको सुने अथवा किसी कारण यदि हमारी वृत्ति उस विषयमे एकाग्र न होकर चचल हो जाय, तव तो उसी समय आनन्दस्वरूप आत्माका प्रतिविम्व ज्योका त्यो पडना वन्द हो जायगा और उसी समय आनन्दकी झलक न आकर दु·ख ही प्रतीत होगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि हमारा असली स्वरूप तो आनन्दस्वरूप है, किन्तु उस आनन्दकी झलक मनमे तभी आती है जव मन एकाग्र होता है। यदि विषय स्वय आनन्दस्वरूप होते तो दु खका समाचार सुनने पर भी आनन्द आता ही रहता, अथवा जव तक विषय रहते तव तक भी आनन्द आता ही रहता। किन्तु हम देखते है कि खीरसे तृप्त (धापे) हुए मनुष्यको यदि उसी समय, और दूसरी कितनी ही वढिया खीर क्यो न दी जाय, उसे आनन्द नही आएगा। और यदि विपयोमे ही आनन्द होता तो विषयोके विना कभी आनन्द आता ही नही। किन्तु हम देखते है कि एकान्तमे सुपुप्ति अवस्था (गहरी नीद) मे अथवा समाधिमे जहाँ विपयोका नाम भी

नही होता है, ऐसी अवस्थामे स्थित पुरुषको भी आनन्द आता ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि विषय स्वय आनन्दस्वरूप नही है, किन्तु अपना असली स्वरूप (आत्मा) ही आनन्दस्वरूप है।

ऐसा जिसको ज्ञान हो जाता है वह ज्ञानी पुरुष सदा अन्तर्मुख वृत्ति द्वारा अपने स्वरूपका आनन्द लेता रहता है। और विपय भोगते समय भी जो आनन्द आता हैं उसको भी वह समझता है कि यह तो मेरे स्वरूपानन्दकी ही छाया है। इसी प्रकार सदा उसकी स्वरूपाकार ही वृत्ति बनी रहती है। किन्तु कभी कभी प्रारब्ध-वश, व्यवहारमे तल्लीन होनेके कारण वह ज्ञानी अपने स्वरूपको भूल भी जाता है, अर्थात् उसको कभी कभी अपने स्वरूपका विस्मरण भी हो जाता है, उस आत्म-विस्मरणका कारण है **लेश-अज्ञान**। किन्तु यह लेश-अज्ञान उसके आत्मस्वरूपके निश्चयमे बाधक नही पडता है। जैसे सिनेमाको देखते समय कभी कभी लोग भूलसे उस खेलको थोडे समयके लिए सच्चा मानकर ताली बजाने, हसने अथवा रोने लगजाते हैं, किन्तु उस थोडे समयका हसना रोना इत्यादि उनके सिनेमाके असली स्वरूप के निश्चयमे अर्थात् यह केवल झूठा खेल-मात्र है, इस निश्चयमे बाधक नही पडता है अर्थात् उसका सिनेमाका मिथ्यात्व-निश्चय टूटता नही है। इसी प्रकार ज्ञानीको भी उस लेश-अज्ञानसे अपने स्वरूपका निश्चय टूटता नही है। परन्तु जो अज्ञानी लोग हैं वे तो हमेशा वहिर्मुख ही रहते हैं अर्थात् अपने आत्म-स्वरूपको भूले हुए ही रहते हैं। इसी

बातको बतलाते हुए श्रीनिश्चलदासजी महाराज लिखते हैं :—

"ह्वै विस्मृत व्यवहारमैं, कबहुक ज्ञानी सत ।
अज्ञानी विमुखहि रहै, यह तू जान सिद्धन्त ॥"

**शका :**— भगवन् ! आपकी कृपासे 'मैं परमानन्द-स्वरूप हूँ' यह तो मेरी समझमे आ गया । परन्तु यह जो आपने पहिले कहा, कि जन्म-मरणसे लेकर जितना भी दु खरूप ससार है वह मुझमे नही है, तो फिर किसमे है यह कृपा करके समझाइये ।

**उत्तर :**— हे शिष्य ! जैसे रस्सीमे कल्पित सर्प वास्तवमे हुआ ही नही है उसी प्रकार यह सारा जन्म-मरणरूप कल्पित ससार भी वस्तुत कही है ही नही । यह न तुझमे है, न मुझमे है, व न कही औरमे है ।

**शका :**— प्रभो ! यदि यह जन्म-मरण आदि दुःखरूप ससार कही है ही नही, तो फिरप्र त्यक्ष प्रतीत क्यो हो रहा है ?

**उत्तर :**— हे प्रिय शिष्य ! जैसे स्वप्नका ससार आकाशमे नीलापन, सीपिमे चाँदी, और रस्सीमे सर्प ये सब वास्तवमे नही होते हुए भी अपने अपने अधिष्ठान रस्सी इत्यादिके अज्ञानसे मिथ्या प्रतीत होते है, ठीक इसी प्रकार यह जन्म-मरण आदि दु खरूप ससार, वास्तवमे नही होता हुआ भी अधिष्ठानरूप आत्माके अज्ञानसे (आत्मा और ब्रह्मके अभेद को न जाननेसे) ही मिथ्या प्रतीत हो रहा है ।

**शंका :**— दयालो ! आपने संसारको मिथ्या बतलानेके लिये जो रस्सीमे सर्प इत्यादिके उदाहरण दिये, वे उदाहरण ही मुझे पूरे समझमें नही आ रहे है कि रस्सी इत्यादिमे सर्प आदिकी भ्रान्ति कैसे होती है। और जब तक ये दृष्ठान्त ही समझमे नहीं आऐंगे तब तक संसारकी मिथ्या प्रतीति कैसे होती है यह भी समझमे नही आसकता। क्योंकि रस्सीमे सर्पकी भ्रान्तिका कथन करनेवाले चार मत मैंने सुने हैं, जिनको ख्याति (प्रतीति और कथन) भी कहते है। अब उन चार मतोंसे कौनसा मत ठीक है यह मेरी समझमे नही आता।

(१) **शून्यवादी बौद्ध** तो कहते है :—"रस्सीमे तथा अन्य सब जगह सर्प अत्यन्त असत् है (बिल्कुल है ही नही)। उस अत्यन्त असत् सर्पकी रस्सीमे प्रतीति होती है"। इस कथनको **असत्-ख्याति** कहते है।

(२) **क्षणिक विज्ञानवादी बौद्ध** कहते हैं :—"यह असत्-ख्याति गलत है, क्योंकि अत्यन्त (बिल्कुल) असत् पदार्थकी भी यदि प्रतीति हुआ करती, तो वन्ध्या (बाँझ) के पुत्र और खरगोशके सींगोंकी भी प्रतीति होती। इसलिए वास्तव मे बुद्धि ही सर्पके आकारको धारण करती है अर्थात् बुद्धिमे ही सर्प है और वह बुद्धि **क्षणिक विज्ञानरूप आत्मा** है। इसलिये वस्तुतः क्षण क्षणमें बदलनेवाली बुद्धि जिसको हम आत्मा कहते है उसीकी ही सर्परूपसे प्रतीति होती है।" इस प्रकारके कथनको **आत्मख्याति** कहते है।

(३) **नैयायिक** और **वैशेषिक** कहते हैं :—"यदि

क्षणिक बुद्धिने ही सर्पका रूप धारण किया होता तो क्षण-मात्रसे अधिक समय तक प्रतीति नही होती। इसलिए यह आत्मख्याति ठीक नही है, किन्तु अन्यथा-ख्याति ही माननी चाहिये।" उनका कहना यह है :— "जैसे कभी पित्तके दोषसे ऐसा रोग हो जाता है कि मनुष्य चौगुना भोजन कर लेता है अर्थात् उसकी पाचन-शक्ति वढ जाती है, उसी प्रकार आँखोके दोषमे नजर वढ जानेके कारण जगलमे विलमे पड़ा हुआ सर्प ही नजदीक पडी हुई रस्सीमे दीखता है।" इस कथनको **अन्यथा-ख्याति** कहते है, क्योकि सर्प है एक जगह और दिखता है दूसरी जगह। इसपर **नव्य नैयायिक चिन्तामणिकार** आक्षेप (ऐतराज) करते हुए कहते है —"यदि आँखोके दोषसे, दूर जगलवाला सर्प यहाँ नजदीक रस्सीमे दीखता है, तो रास्तेके जो वृक्ष इत्यादि पदार्थ है वे क्यो नही दीखते। इसलिए यह कहना भी गलत है। वास्तवमे अन्यथा-ख्यातिका अर्थ यह है कि **वस्तु हो कुछ और दीखे कुछ**। जैसे यहाँ है रस्सी किन्तु दीखती है सर्परूपसे"।

(४) इसपर **प्राभाकर** और **साख्यमतवाले** कहते है — "यह भी ठीक नही है, क्योकि पदार्थ हो एक और ज्ञान हो दूसरेका, यह असभव है। क्योकि ज्ञान सदा **वस्तु-तन्त्र** होता है याने ज्ञान सदा ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थ) के अनुसार ही होता है, अर्थात् जैसा ज्ञेय होगा वैसा ही ज्ञान होगा। इसलिए अन्यथा-ख्यातिको न मानकर **अख्यातिको** ही मानना चाहिए।" वे अख्यातिका इस प्रकार कथन करते है :— "जिस समय रस्सीमे सर्पका व्यवहार होता है, उस समय अधकार और

भय इत्यादि दोषोके कारण दो ज्ञानोका अविवेक होनेसे अर्थात् ये दो ज्ञान परस्पर भिन्न है ऐसा ज्ञान न होनेसे हम "यह सर्प है" ऐसा व्यवहार कर बैठते है। वे दो ज्ञान हैं (१) रस्सीके सामान्य-अश अर्थात् यह-पन और है-पन (यह है) का **प्रत्यक्षज्ञान**, व (२) उसी समय पहिले देखे हुए सर्पका **स्मृतिरूप ज्ञान** (सर्पकी स्मृति)। इन दोनो ज्ञानो (रस्सीके यह-पन, और है-पनका प्रत्यक्ष तथा सर्पकी स्मृति) की भिन्नताको न जाननेसे "यह सर्प है" ऐसा व्यवहार होता है।" इस प्रकारके कथनको **अख्याति** कहते है। हे भगवन् ! इस प्रकार रस्सीमें सर्पकी प्रतीतिके विषयमे मैंने ये चार मत सुने है, अब इनमेसे कौनसा मत ठीक है, यह आप कृपा करके बताएँ।

**उत्तर** :– हे शिष्य ! ये चारो मत युक्ति-हीन तथा असगत हैं। पहिलेके तीनो मतोमे तो तुमने दोष देख ही लिए, अब इस अख्याति मतमे जो दोष हैं वे भी सुनो। एक तो वे जो यह कहते हैं :—"जिस समय रस्सीमे सर्प दीखता है उस समय सर्पकी स्मृति होती है" वह ठीक नही है, क्योकि सर्पकी स्मृतिसे कभी भय नही होता, किन्तु उस समय तो भय होता है। और भ्रमकी निवृत्ति होनेके बाद ऐसा कहा जाता है कि "मुझे रस्सीमे मिथ्या सर्प दिखाई दिया था", "मुझे सर्पकी स्मृति हुई थी" ऐसा कोई नही कहता। इसलिए उस समय सर्पकी स्मृतिको मानना ठीक नही है। और दूसरा दोष यह भी है कि "यह सर्प है" यहाँ ज्ञान एक ही प्रतीत होता है, दो नही। तीसरा दोष यह है कि एक ही समय अत.करणमें

स्मृतिरूप और प्रत्यक्षरूप ये दो ज्ञान नही हो सकते, क्योकि हम देखते है कि जव हमे किसीकी याद आती है तो उसी समय सामने रखी हुई वस्तु नही दीखती और जिस समय हम सामने किसी वस्तुका प्रत्यक्ष करते है तो उस समय हम दूसरी वाते भूल जाते है। इसलिए जव एक समय स्मृति और प्रत्यक्ष ये दो ज्ञान हो ही नही सकते तो फिर उनके अविवेकसे [विवेक ( भेद ) के अज्ञानसे] 'यह सर्प है' ऐसा व्यवहार कैसे हो सकता है ? इस प्रकार हे शिष्य ! ये चारो ख्यातियाँ गलत हैं। इसलिए सर्पकी भ्राति कैसे होती है यह समझानेके लिए मैं तुम्हे वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार **अनिर्वचनीय ख्याति** वतलाता हूँ।

जिस प्रकार अधकारमे किसी वस्तुको देखनेके लिए जव हम टार्च जलाते है तव टार्चके काँचमेसे जो प्रकाश निकलता है वह पहिले अधकारको चीरता है ( हटाता है ) फिर वस्तुको जनवाता है। इसी प्रकार किसी वस्तुको जाननेके लिए जव अतःकरणकी वृत्ति आँखोके द्वारा वाहर निकलकर वस्तु तक पहुचती है तो उस समय दो काम होते है। एक तो वृत्ति उस वस्तुके अज्ञानको हटाती है और दूसरा उस वृत्तिमे आया हुआ चिदाभास वस्तुको जनवाता है। जव वृत्ति अज्ञानको हटाती है तो उस अज्ञान के हटानेको कहते हैं **वृत्ति-व्याप्ति** और जव वृत्तिमे आया हुआ चिदाभास (फल-प्रतिविम्व) पदार्थको जनवाता है तो उस जनवानेको कहते हैं **फलव्याप्ति**। किन्तु ये वृत्तिव्याप्ति और फलव्याप्ति वही होती है जहाँ वस्तुका यथार्थ ज्ञान

होता है। परन्तु जहाँ वस्तुका यथार्थ ज्ञान न होकर, कुछ भ्रान्ति होती है ( जैसे रस्सीमे सर्पकी भ्रान्ति ) तो वहाँ मद अधकारके कारण अथवा आँखोमे धुन्धलेपनके कारण अत करणकी वृत्ति आँखोसे बाहर निकलकर रस्सी तक जाती तो है, किन्तु वहाँ रस्सीके विशेष-रूपके अज्ञानको नष्ट नही कर पाती, इसलिए रस्सीका ज्ञान नही होता, बल्कि रस्सीके स्वरूपको ढाकनेवाला अज्ञानका आवरण (पर्दा) रह ही जाता है। अज्ञान जितना भी है वह सारा चेतनके आश्रित है, यह वेदान्तका सिद्धान्त है। और वह चेतन सर्व-व्यापक होनेके कारण जितने देशमे रस्सी है उतने देशमे भी विद्यमान (मौजूद) ही है। उस चेतनको **रस्सी-उपहित-चेतन** कहते हैं। उस रस्सी-उपहित-चेतनके आश्रित जो अज्ञान है, जिसको अधकार इत्यादि दोषोके कारण वृत्ति नष्ट नही कर पाती उसमे, पहिले देखे हुए सर्पके सस्कारोके कारण, क्षोभ (परिवर्तन) होता है और उस अज्ञानका तमोगुण अश क्षुब्ध होकर (बदलकर) सर्पके आकारको धारण करता है अर्थात् उस अज्ञानका तमोगुण अश ही सर्पके रूपमे बदल जाता है। और जो अन्त.करणकी वृत्ति आँखोके साथ बाहर निकलकर रस्सी तक जाती है वह अधकार आदि दोषोके कारण रस्सीके केवल सामान्य अज्ञानको ही नष्ट कर पाती है, परन्तु विशेप-रूपका अज्ञान रह जाता है। वह रस्सीके सामान्य अंश (यह-पन व है-पन) को विपय करनेवाली जो वृत्ति अर्थात् यह कुछ लम्बीसी टेढीसी वस्तु पडी है ऐसी जो इदमाकार वृत्ति उससे उपहित चेतन ( साक्षि-चेतन ) के आश्रित अविद्या

(अज्ञान) का सत्त्वगुण अंश सर्प-ज्ञानके रूपमे परिणत होता है (बदल जाता है) अर्थात् साक्षीके आश्रित उस अज्ञानका सत्त्वगुण अंश सर्प-ज्ञानाकार परिणामको प्राप्त होता है। उस सर्प और सर्प-ज्ञानको अनिर्वचनीय, मिथ्या, कल्पित, अध्यास और भ्रांति भी कहते है।

वह भ्रांति-ज्ञान अन्तःकरणकी वृत्तिरूप तो है ही नही, क्योकि वृत्ति तो अंधकार इत्यादि दोषोके कारण बेकार हो जाती है, इसलिए उसको अज्ञानकी वृत्ति-रूप ज्ञान अर्थात् **भ्रान्ति-ज्ञान** कहते है। हे शिष्य! इस प्रकार तुमने यह सुना कि सर्पका अधिष्ठान, **रस्सी-उपहित-चेतन** है और सर्प-ज्ञानका अधिष्ठान **साक्षि-चेतन** है। अथवा यो दूसरा पक्ष समझो कि सर्प और सर्प-ज्ञानका अधिष्ठान एक **साक्षि-चेतन** ही है। क्योकि रस्सीके समीप पहुंची हुई जो अन्तःकरणकी इदमाकार-वृत्ति (यह है ऐसी वृत्ति) है, उसमे स्थित साक्षि-चेतनके आश्रित जो अविद्या है, वही सर्पाकार और सर्पके ज्ञानाकार परिणामको प्राप्त होती है।

वृत्ति-उपहित-चेतन साक्षीके आश्रित जो अज्ञान है उसका तमोगुण अंश तो सर्परूपमे पलटता है और सत्त्वगुण-अंश सर्पके ज्ञानरूपमे पलटता है, इसलिए सर्प और सर्पज्ञानका अधिष्ठान **वृत्ति-उपहित-चेतन साक्षी** ही है! उस सर्प-भ्रांतिको **अनिर्वचनीय** तो इसलिए कहते हैं कि उसका निर्वचन (कथन) सत् और असत् इन शब्दोसे हो ही नही सकता। क्योकि रस्सीके ज्ञानके बाद सर्प-भ्रान्तिकी निवृत्ति हो जाती है इसलिए उसको हम सत् भी नही कह सकते और यदि

असत् कहे तो वध्या (बाँझ) के पुत्र और खरगोशके सींगो की तरह उसकी प्रतीति ही नही होनी चाहिए, किन्तु प्रतीति तो होती है; इसलिए हम उस कल्पित सर्प और सर्पज्ञानको **अनिर्वचनीय** कहते हैं। जैसे रस्सीके अज्ञानसे सर्प और सर्प-ज्ञान ये दोनो अनिर्वचनीय उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार संसार और ससारका ज्ञान ये दोनो भी अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होते है। इसलिए ये दोनो वास्तवमें तुम्हारे असली स्वरूप (आत्मा) में हैं ही नही, केवल मिथ्या (आत्माके अज्ञानसे) ही प्रतीत हो रहे है।

वह रस्सीमे **कल्पित सर्प** और **उसका ज्ञान** दोनो अविद्या (अज्ञान) के **परिणाम** और चेतनके **विवर्त** है। जव उपादान कारण वदलकर दूसरा रूप धारण करता है, जैसे दूध जव दहीमे वदलता है, तव हम उस दहीको दूधका परिणाम कहते है, उसी प्रकार जव अज्ञान वदलकर सर्प और सर्प-ज्ञानका रूप धारण करता है, तव हम उसको (उस सर्प और सर्प-ज्ञानको) अज्ञानका **परिणाम** कहते हैं और अधिष्ठान स्वय न वदलकर यदि दूसरे रूपमें दीखे तो उस दूसरे कल्पित स्वरूपको अधिष्ठानका **विवर्त** कहते हैं, जैसे तन्तु अपने स्वरूपको न छोड़कर कपडेरूपमे दीखती हैं तो कपडा तन्तुओका **विवर्त** कहलाता है, और जैसे ज़ेवर स्वर्णके विवर्त हैं, उसी प्रकार सर्प और सर्प-ज्ञान ये दोनो रस्सी-उपहित-चेतन व साक्षीके विवर्त हैं। क्योकि सर्पकी उत्पत्ति होनेपर भी रस्सी-उपहित-चेतन व साक्षी चेतनमे कोई परिवर्तन नही होता है।

अथवा (१) उपादान-कारणके समान स्वभाव ( सत्ता ) वाला अन्यथा स्वरूप **परिणाम** कहलाता है और (२) अधिष्ठानसे विपरीत स्वभाववाला अन्यथा स्वरूप **विवर्त** कहलाता है ।

(१) जैसे उपादान-कारण अविद्या अनिर्वचनीय (कल्पित) है जैसे रस्सीमे सर्प और उसका ज्ञान भी अनिर्वचनीय (कल्पित) है । अत एव रस्सीमे कल्पित सर्प और उसका ज्ञान दोनो अविद्याके समान स्वभाववाले (अनिर्वचनीय) हैं और उन दोनोका अविद्यासे अन्यथा अर्थात् भिन्न प्रकारका स्वरूप भी है ही, क्योकि अविद्या अव्यक्त होनेसे निराकार है और सर्प आदि साकार है। इसी कारण सर्प और सर्प ज्ञानको अविद्याका **परिणाम** कहते है ।

(२) और रस्सी-उपहित-चेतन अथवा साक्षि-चेतनरूप अधिष्ठान तो सत्य है परन्तु सर्प और उसका ज्ञान ये दोनो सत्से विलक्षण ( अनिर्वचनीय ) है। इसीकारण रस्सीमे कल्पित सर्प और उसका ज्ञान दोनो अपने अधिष्ठान चेतन से ( रस्सी-उपहित-चेतन ) व साक्षि-चेतनसे विपरीत स्वभाव-वाले तथा अन्यथा-स्वरूपवाले अर्थात् निराकार चेतनमे भिन्न-स्वरूपवाले ( साकार ) होनेसे रस्सीमे कल्पित साँप व उसका ज्ञान दोनो अपने अधिष्ठान चेतनके **विवर्त** है। तो जिस प्रकार सर्प और सर्पज्ञान ये दोनो अज्ञान (रस्सी-उपहित-चेतन व साक्षीके आश्रित अज्ञान) के परिणाम और चेतन ( रस्सी-उपहित-चेतन वा साक्षि-चेतन ) के विवर्त हैं, ठीक उसी प्रकार ससार और ससारका ज्ञान, ये दोनो

**अज्ञान** (समष्टि अज्ञान अर्थात् माया) के **परिणाम** और **शुद्ध चेतनके विवर्त** हैं।

यह नियम है कि जो वस्तु अज्ञानका परिणाम और चेतनका विवर्त होती है, ( जैसे रस्सीमे सर्प और सर्पका ज्ञान, अथवा सपना और सपनेका ज्ञान ) तो वह वस्तु मिथ्या अर्थात् अधिष्ठानमे कल्पित ही हुआ करती है। और जो वस्तु अधिष्ठानमे कल्पित होती है, उस कल्पितकी सत्ता उसके अधिष्ठानकी सत्तासे भिन्न नही होती है, अर्थात् अधिष्ठानके अतिरिक्त वास्तवमे कुछ होता ही नही है। ठीक इसी प्रकार यह ससार और इसका ज्ञान ये दोनों अज्ञानके परिणाम और चेतनके विवर्त होनेके कारण मिथ्या हैं, अर्थात् अधिष्ठान, जो ब्रह्मस्वरूप आत्मा तेरा असली स्वरूप है, उसमे ये दोनो कल्पित हैं। इसलिए इस कल्पित ससार की सत्ता, अधिष्ठानकी सत्तासे, ( तेरे असली स्वरूप ब्रह्मकी सत्तासे ) कोई अलग सत्ता नही है, अर्थात् **अधिष्ठानरूप ब्रह्मके सिवाय वास्तवमें कुछ है ही नहीं।**

इसी दृष्टिसे श्रीरामचन्द्रजीको **योगवासिष्ठमें** श्रीगुरु-वसिष्ठजी महाराजने कहा है :—

**"न चोत्पन्नं न चैवाऽऽसीद्दृश्यं न च भविष्यति।**
**वर्तमानेऽपि नैवाऽस्ति परमेवाऽस्त्यवेधितम्॥"**

( योगवासिष्ठ, स्थितिप्रकरण, सर्ग ३३ श्लोक १८ )

अर्थात् हे रामजी! [पारमार्थिक दृष्टिसे आत्मामे] न तो यह दृश्य ( ससार ) उत्पन्न हुआ है, न पहले ही था,

और न आगे ही होगा, अत एव वर्तमानमे भी यह (जगत्) नही है, एकमात्र अखण्ड ब्रह्म ही है।" इसका भाव यह है कि :— हे राम ! तुम्हारे वास्तविक स्वरूपमे ( ब्रह्मस्वरूप आत्मामे ) यह ससार तीनो कालोमे बना ही नही है। यह तो केवल अज्ञानसे ही प्रतीत हो रहा है। और रस्सीमे कल्पित सर्प, जैसे रस्सीके अज्ञानसे प्रतीत होता है, व रस्सीके ज्ञानसे ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार यह सारा जन्म-मरण आदि दुःखरूप कल्पित ससार भी अपने स्वरूपके अज्ञानसे, अर्थात् आत्माके अज्ञानसे ही प्रतीत होता है और आत्माके ज्ञानसे ही निवृत्त हो जायगा। इसी बातको समझानेके लिये वेदने भी कहा है कि **"ऋते ज्ञानान्न मुक्ति."** अर्थात् बिना आत्मज्ञानके जन्म-मरण-रूपी ससारसे मुक्ति नही मिल सकती। **"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"** अर्थात् उस मोक्षरूपी अयन ( घर ) को प्राप्त करनेके लिए आत्मज्ञानके अतिरिक्त और कोई रास्ता ( साधन ) है ही नही।

**शका :**— भगवन् ! आपकी कृपासे अब मुझे यह समझमे आ गया, कि यह सारा ससार मिथ्या है। किन्तु जो वस्तु मिथ्या (कल्पित) होती है, उसका कोई न कोई आधार और अधिष्ठान भी होता ही है। इसलिए इस ससारका आधार और अधिष्ठान कौन है। यह कृपा करके मुझे बतलाइये।

**उत्तर** — हे शिष्य ! भ्रान्तिका आधार उसे कहते हैं, जिसको बिना जाने भ्रान्ति न हो सके, और जो भ्रान्तिके समय भी प्रतीत हो, तथा जो भ्रान्तिके नष्ट होनेपर भी

प्रतीत होता रहे; जैसे रस्सीका सामान्य अश (है-पन और यह-पन) रस्सीमे कल्पित साँपका आधार है। और अधिष्ठान उसको कहते है जो अश भ्रान्तिके समय प्रतीत न हो और जिसको जाननेसे भ्रान्ति नष्ट हो जाय; जैसे रस्सीका विशेष-अश (सूक्ष्म तन्तु, वट दिया हुआ इत्यादि) रस्सीमे कल्पित साँपका अधिष्ठान है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मका ( तेरे असली स्वरूप आत्माका ) सामान्य स्वरूप अस्तित्व (सत्पना अर्थात् है-पना) इस कल्पित ससारका आधार है। क्योकि "मै यज्ञदत्त हूँ" और "यह ससार सत्य है" इस प्रकार यह-पन और है-पन ( सामान्यस्वरूप ) तो भ्रान्तिके समय भी रहता है और ब्रह्मज्ञान होनेके बाद भ्रान्तिके नष्ट होनेपर भी "मैं ब्रह्म हूँ" और "यह ससार मिथ्या है" इस प्रकार यहपन और हैपन ( सामान्यस्वरूप ) तो कायम रहता ही है। और ब्रह्मका ( तेरे असली स्वरूप आत्माका ) असगपना, कूटस्थपना अर्थात् निर्विकारपना और नित्यमुक्त-पना आदि जो **विशेषस्वरूप** है वह इस कल्पित ससारका अधिष्ठान है, क्योकि इस विशेष स्वरूपको जाननेसे ही यह भ्रान्तिरूप ससार नष्ट होता है।

**शका :**– हे भगवन् ! यदि इस सारे ससारका आधार व अधिष्ठान भी मेरा असली स्वरूप आत्मा ही है, तो फिर इसका द्रष्टा मुझसे अलग कोई दूसरा होना चाहिये, जैसे कल्पित सर्पका द्रष्टा उसके आधार और अधिष्ठानरूप रस्सीसे भिन्न कोई पुरुष ही होता है।

**उत्तर** – हे शिष्य ! जहाँ अधिष्ठान जड़ होता है वही

धिष्ठानसे भिन्न और कोई दूसरा द्रष्टा माना जाता है। जैसे सर्पका अधिष्ठान जो रस्सी है वह जड है तो वहाँ रस्सीसे भिन्न किसी और चेतन पुरुष इत्यादिको द्रष्टा माना जाता है। किन्तु जहाँ अधिष्ठान स्वय चेतन होता है, वहाँ वह चेतन-अधिष्ठान ही स्वय द्रष्टा भी माना जाता है। जैसे सपनेका अधिष्ठान, जो साक्षी चेतन है, वही सपनेका द्रष्टा भी है। [यह शका और समाधान स्थूल दृष्टिसे रस्सीको सर्पका अधिष्ठान मानकर ही कह रहे है। वास्तवमे सिद्धान्तमें तो सर्पका अधिष्ठान भी **साक्षि-चेतन** ही है और वही सर्पका द्रष्टा भी है। इस प्रकार सभी कल्पित पदार्थोंका अधिष्ठान जो चेतन है वही उन सभी कल्पित पदार्थोंका द्रष्टा भी है। इसलिये वास्तवमे यह शका बनती ही नही है। ] तो इस प्रकार हे शिष्य! यह सिद्ध हुआ कि यह सारा सुख-दुःख और जन्म-मरणरूप ससार तुझमे (आत्म-स्वरूपमे) भ्रान्ति-मात्र ही है, और जो वस्तु भ्रान्ति-मात्र अर्थात् कल्पित होती है उसकी निवृत्तिकी इच्छा भी भ्रान्ति ही होती है, क्योकि कभी कोई व्यक्ति सिनेमावाले कल्पित शेरको देखकर नही डरता है और न उसे हटानेकी इच्छा ही करता है।

शका —भगवन्! आपका कहना सही है, किन्तु जैसे किसी पुरुषको प्रतिदिन यदि भयानक सपने आते है और वे यद्यपि मिथ्या ही होते हैं तो भी उनको दूर करनेके लिए जप करना अथवा पाँव इत्यादि धोकर सोना, इस प्रकार कई साधन वह पुरुष करता है। इसी प्रकार यह ससार यद्यपि

मिथ्या ही है तो भी मुझे जन्म-मरण इत्यादि दु खोका कारण प्रतीत हो रहा है इसलिए मै चाहता हूँ कि इस ससारसे मुझे मोक्ष मिल जाय । अत आप कृपा करके मोक्षका कोई उपाय बताएँ ।

**उत्तर :–** हे शिष्य ! यह तो मैंने तुझे पहिले ही बता दिया है, कि यह कल्पित ससार तेरे असली स्वरूप आत्माके अज्ञानसे ही प्रतीत हो रहा है । इसलिए इसकी निवृत्ति भी तभी होगी जब तुम अपने वास्तविक स्वरूपको पहचान लोगे ।

सो तेरे असली स्वरूपके बारेमे तो मैंने पहिले ही बतला दिया है कि "तू ही इस सारे कल्पित ससारका अधिष्ठान है और वास्तवमे तेरे असली स्वरूप आत्मामे यह ससार तीनो कालोमे बना ही नही है । और जैसे कल्पित साँप अपने अधिष्ठान रस्सीका कुछ भी बिगाड़ नही कर सकता, उसी प्रकार यह कल्पित ससार भी तेरे असली स्वरूपकी कोई हानि नही कर सकता है । तू तो सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप ब्रह्म है ।" इस प्रकार अपने असली स्वरूपको पहिचाननेको ही आत्मज्ञान कहते है व यही मोक्षका साधन है, और कोई नही ।

**शंका :–** प्रभो ! यह तो आपकी कृपासे मेरी समझमे आ गया है कि यह जन्म-मरणरूप ससार अज्ञानसे ही प्रतीत हो रहा है, और ज्ञानसे ही निवृत्त होगा । और ज्ञानका जो वास्तविक स्वरूप है वह भी मेरी समझमे आ गया है कि 'यह सारा जगत् मेरे असली स्वरूप आत्मामें कल्पित है और मैं वास्तवमे सच्चिदानन्द-स्वरूप हूँ ।' किन्तु यह समझमे नही आ रहा है कि मैं ब्रह्म कैसे हूँ, क्योकि :—

पुण्य-पापका हू मै कर्त्ता ।
जन्म-मरन औ सुखदुख धर्त्ता ।।
और अनेक-भाति जग भासै ।
चहू ज्ञान अज्ञान जु नासै ।।
जो याते विपरीत-स्वरूपा ।
ताकूँ ब्रह्म कहत मुनि-भूपा ।।
कहो एकता कैसे जानूं ?
रूप विरुद्ध हिये पहिचानूं ।।

**भाव** –हे प्रभो ! मै तो जीव हूँ और पुण्य-पापका कर्त्ता, सुखी-दु खी, जन्मने-मरनेवाला अज्ञानी और ज्ञानको चाहने वाला हूँ, और ब्रह्ममे तो न पुण्य है न पाप है, न जन्म है न मरण है, न सुख है न दु ख है, न अज्ञान है और न ज्ञानकी इच्छा ही है। इस प्रकार ब्रह्मका और मेरा स्वरूप परस्पर विरुद्ध होनेके कारण दोनोकी एकता कैसे वन सकती है ?

**उत्तर** :– हे शिष्य ! हम जीव और ब्रह्मके वाच्य-अर्थ की एकता नही करते, किन्तु उनके **लक्ष्य-अर्थ** कूटस्थ और शुद्ध ब्रह्मकी ही आपसमे एकता करते हैं। सो कूटस्थ तो ब्रह्मकी तरह पुण्य-पाप, जन्म-मरण, सुख दु ख तथा अज्ञान आदि सब धर्मोसे रहित है, इसलिए कूटस्थ और ब्रह्मकी आपसमे एकता वन सकती है ।

**शका** – भगवन् ! क्या कूटस्थ और जीवमे कोई अतर है ? यदि कोई अन्तर है तो कृपा करके वतलाइये ।

**उत्तर** '– हे शिष्य ! इन दोनोमे वास्तवमे तो कोई

अन्तर है ही नही, किन्तु अन्तःकरणकी उपाधिके भेदसे ही इनमे भी कल्पित भेद प्रतीत होता है। और केवल ये दोनो ही नही, अपितु जीव, कूटस्थ, ईश्वर और ब्रह्म ये चारो वास्तवमे शुद्ध चेतन ही हैं, अर्थात् वास्तवमे इनमें कोई भेद है ही नही, केवल माया और अविद्याकी उपाधि से ही ये चारो अलग अलग प्रतीत होते है।

**शंका** – भगवन् ! ये चारों एक होते हुए भी अलग अलग कैसे प्रतीत होते है, यह समझमे नही आता; कृपा करके उदाहरण देकर समझाइये।

**उत्तर** :– हे शिष्य ! जैसे एक ही आकाश, घडे, जल और बादलकी उपाधिसे घटाकाश, जलाकाश, मेघाकाश और महाकाश कहलाता है, उसी प्रकार **एक ही चेतन**, माया और अविद्याकी उपाधिसे जीव, कूटस्थ, ईश्वर और ब्रह्म कहलाता है।

**शका** :– भगवन् ! ये उदाहरण मेरी समझमे नही आ रहे हैं, कृपा करके इन्हे संक्षेपमे समझाइये।

**उत्तर** :– हे शिष्य ! मान लो जैसे कोई घड़ा है, उसमें हमने जल भर दिया है, तो वहाँ जलाकाश भी है और घटाकाश भी है। **घटाकाश** तो उसे कहते है, जिस आकाशनें जलसे भरे हुए घड़ेको, (जलको और घडेको दोनोको) जगह दी है। तथा (१) घटाकाश, (२) उसके आश्रित जल, (३) उस जलमे आया हुआ आकाशका प्रतिविम्ब, इन तीनोको मिला कर **जलाकाश** कहते है।

**शंका** .– भगवन् ! आपने जो जलमे आकाशका प्रतिबिंब

वतलाया वह समझमे नही आया, क्योकि प्रतिविम्व सदा रूपवाली वस्तुका ही पडा करता है, आकाश नीरूप है, उसका प्रतिविम्व कैसे पड सकता है ?

**उत्तर** —हे शिष्य ! तुमने कभी देखा होगा कि घुटने जितने जलमे भी मनुष्यसे अधिक गहराई नजर आया करती है। वह गहराई क्या है ? वह गहराई आकाशका प्रतिविम्व है। इससे यह सिद्ध होता है कि नीरूप आकाशका भी प्रतिविम्व पडा करता है। और रूप हमेशा किसी न किसी द्रव्यका ही होता है, अर्थात् द्रव्य ही रूपवाला होता है, किन्तु रूप तो स्वय नीरूप है। और हम देखते है कि जैसे द्रव्यका प्रतिविम्व पडता है, वैसे ही नीला पीला इत्यादि नीरूप रूपका भी प्रतिविम्व पडा करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे नीरूप रूपका प्रतिविम्व पडा करता है वैसे नीरूप आकाशका भी प्रतिविम्व पडता है।

**शंका** :—भगवन् ! घटाकाश और जलाकाश ये तो समझमे आगये, किन्तु ये दोनो उदाहरण चेतनके किस भागको समझानेके लिए दिये है, यह मेरी समझमे नही आया ?

**उत्तर** :—प्रिय वत्स ! घटाकाशका उदाहरण, **कूटस्थ** [साक्षी] को समझानेके लिए, और जलाकाशका उदाहरण **जीव**को समझानेके लिए दिया है। मानलो यह शरीर एक प्रकार का घडा है उसमे व्यष्टि अविद्याका परिणाम वुद्धिरूप [यहाँ वुद्धिसे सारा सूक्ष्म शरीर लिया गया है] **जल** भरा हुआ है। वुद्धिरूपी जलमे भरे हुए इस स्थूल शरीररूपी

घडेमे **घटाकाशरूपी कूटस्थ** [साक्षी चेतन] और **जलाकाशरूपी जीव** ये दोनो मौजूद है।

**कूटस्थ साक्षी-चेतन :—** जो शुद्ध चेतन, बुद्धिरूपी जलसे भरे हुए स्थूल शरीररूपी घडेका [बुद्धि (सूक्ष्म शरीर) और स्थूल शरीर इन दोनोका] अधिष्ठान है, वह **कूटस्थ** कहलाता है। कूटस्थका अर्थ है निर्विकार। जैसे कूट=ऐरन पर जितने भी ज़ेवरादि बनते है, उन सबका आधार ऐरन होता हुआ भी, वह ऐरन स्वय नही बदलता, इसी प्रकार वह शुद्ध चेतन, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दोनोका अधिष्ठान होते हुए भी उन शरीरोके विकारोसे स्वय विकृत नही होता है। इसलिए अधिष्ठान-रूप शुद्ध चेतनको **कूटस्थ** कहते है।

**जीव :—** (१) कूटस्थ ( अधिष्ठानरूप साक्षी चेतन ) (२) अविद्या अथवा अविद्याका परिणामरूप बुद्धि (सूक्ष्म शरीर) (३) उस अविद्यामे अथवा उसके परिणामरूप बुद्धिमे आया हुआ शुद्ध चेतनका प्रतिबिम्ब, इन तीनोको मिलाकर **जीव** कहते हैं।

**शका :—** भगवन्! चेतनका तो कोई रूप ही नही है, फिर उसका प्रतिबिम्ब कैसे पड सकता है ?

**उत्तर :—** हे शिष्य! यह बात तो मैंने तुम्हे आकाशका उदाहरण देकर पहिले ही समझा दी है, कि नीरूपका भी प्रतिबिम्ब पडा करता है। सो जैसे नीरूप आकाशका जलमे और नीरूप रूपका भी दर्पण इत्यादि स्वच्छ पदार्थोमे प्रतिबिम्ब पड़ा करता है उसी प्रकार नीरूप चेतन (ब्रह्म) का भी

बुद्धिमे प्रतिविम्व पडता है।

**शंका :—** प्रभो ! यह वात तो समझमे आगई कि नीरूप का भी प्रतिविम्व पडा करता है। किन्तु जिसमे प्रतिविम्व पडता है उसका तो कोई न कोई रूप होता ही है, परन्तु वुद्धिका कोई स्वरूप ही नही है। तो फिर नीरूप वुद्धिमे नीरूप चेतनका प्रतिविम्व कैसे पड सकता है ?

**उत्तर :—** इस वातको समझनेके लिए पहिले यह समझो कि प्रतिविम्व किसको कहते है। प्रतिविम्व एक प्रकारकी प्रतिक्रिया (Reaction) होती है। और यह नियम है कि जैसी क्रिया होती है वैसी ही प्रतिक्रिया हुआ करती है अर्थात् जैसा विम्व होता है वैसा ही प्रतिविम्व पडता है। नये मकानमे जव हम कोई ध्वनि अर्थात् आवाज़ करते है तो उसकी प्रतिध्वनि (Echo) आया करती है अर्थात् वह आवाज़ लौटकर फिर हमे सुनाई देती है। वह प्रतिध्वनि एक प्रकारका **शब्दका प्रतिविम्व** है। और वह प्रतिविम्व आकाशमे पडा करता है, क्योकि प्रतिध्वनि आकाशका गुण माना गया है। अव जैसे नीरूप शब्दका नीरूप आकाश मे प्रतिविम्व पडता है, उसी प्रकार नीरूप चेतनका नीरूप वुद्धिमे भी प्रतिविम्व पडा करता है। इस प्रकार हे शिष्य ! मैंने तुझे घटाकाश और जलाकाशके उदाहरण देकर, कूटस्थ (साक्षी) और जीवके स्वरूप समझाए, अव ईश्वरके स्वरूपको समझानेके लिये मैं तुझे पहिले मेघाकाश का उदाहरण समझाता हूँ।

**मेघाकाश :—** [१] मेघको अर्थात् वादलको जगह देने

वाला आकाश [२] मेघ [३] मेघमे आया हुआ आकाशका प्रतिबिम्ब ये तीनो मिलकर **मेघाकाश** कहलाते है ।

**शंका**:—भगवन् ! आकाशका जलमे तो प्रतिबिम्ब पडता है, किन्तु बादलोमे प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है ?

**उत्तर**:— हे शिष्य ! बादल जलका ही तो एक दूसरा स्वरूप है, जिसको हम भाप अथवा जलका सूक्ष्म स्वरूप कहते है । तुमने देखा होगा कि कभी कभी तुम्हे सफेद बादल चमकते हुए नज़र आते है, वह चमक बादलोकी खुदकी नही है, किन्तु उनमे आया हुआ सूर्यका प्रतिबिम्ब है । जैसे बादलोमे सूर्यका प्रकाशमय प्रतिबिम्ब पडता है, वैसे ही आकाशका गहराईरूप प्रतिबिम्ब भी पडा करता है । हे शिष्य ! ध्यान रहे कि यह मेघाकाशका उदाहरण तुम्हे ईश्वरका स्वरूप समझानेके लिये ही दिया है । अब उस ईश्वरका स्वरूप सुनो ।

**ईश्वर**:—(१) ब्रह्म [ व्यापक शुद्ध-चेतन ] (२) माया (३) उस ब्रह्मके आश्रित मायामे आया हुआ ब्रह्म [शुद्ध-चेतन] का प्रतिबिम्ब– इन तीनोको मिलाकर ईश्वर कहते हैं ।

**शंका**:— भगवन् ! जैसे आपने जीवमे तीन पदार्थ [ (१) मलिन-सत्त्वगुण-प्रधान-प्रकृति अर्थात् अविद्या, अथवा उसका परिणामरूप बुद्धि (२) कूटस्थ ( शुद्धचेतन, साक्षी ) (३) उस शुद्ध चेतनका आया हुआ अविद्यामे प्रतिबिम्ब ] बताए, उसी प्रकार ईश्वरमे भी आपने तीन ही पदार्थ [ (१) शुद्ध-सत्त्वगुण-प्रधान-प्रकृति अर्थात् माया (२) ब्रह्म (चेतन) (३) चेतनका आया हुआ मायामे प्रतिबिम्ब] बताए

हैं। किन्तु भगवन्! मुझे तो ये तीनो पदार्थ एकसे ही प्रतीत होते है। केवल इतना ही अन्तर प्रतीत होता है कि जीवकी उपाधि जो प्रकृति है, वह **मलिन सत्त्वगुण वाली** है, अर्थात् उसमे रजोगुण और तमोगुण वढे हुए है तथा सत्त्वगुण दवा हुआ है, और ईश्वरकी उपाधि जो प्रकृति है वह **शुद्ध-सत्त्वगुण-वाली** हे, अर्थात् उसमे रजोगुण और तमोगुण दवे हुए है, तथा सत्त्वगुण वढा हुआ हे। तो फिर इतने थोडेसे (प्रकृतिकी केवल मलिनता और शुद्धताके) अन्तरसे ही ईश्वर और जीवमे इतना महान् भेद क्यो माना जाता है, और ईश्वरको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतत्र इत्यादि धर्मोवाला, तथा जीवको अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, परतत्र इत्यादि धर्मोवाला क्यो माना जाता है?

**उत्तर**:— प्रिय वत्स! यद्यपि जीव और ईश्वर दोनोमे तीनो पदार्थ एकसे ही है, तथापि जीवकी उपाधि और ईश्वरकी उपाधि जो प्रकृति है, उसमे मलिनता और शुद्धता के अन्तरसे ही इन दोनोमे महान् अन्तर आगया है। जैसे एक चचल और मलिन जलसे भरी हुई कुण्डी और दूसरी स्वच्छ और स्थिर जलसे भरी हुई कुण्डीको यदि हम धूपमे रखे तो दोनोमे सूर्यका प्रतिविम्व पडेगा तो सही, किन्तु स्वच्छ तथा स्थिर जलमे पडकर, उस जलके असली स्वरूप को मिटाकर अपने जैसा गोल प्रकाशमय वना लेगा, या दूसरे शव्दोमे यो कहना चाहिये कि वह स्वच्छ और स्थिर जलमे आया हुआ सूर्यका प्रतिविम्व उस जलको अपने वशमे करलेगा। और मलिन तथा चचल जलमे पडा हुआ प्रति-

बिम्ब अपने असली स्वरूपको मिटाकर, उस जल जैसा मलिन तथा चचल अर्थात् जर्रा ज़र्रा हो जायगा। दूसरे शब्दोमे यों कहना चाहिए कि वह मलिन और चचल जल अपनेमे आए हुए सूर्यके प्रतिबिम्बको अपने जैसा बना लेगा अर्थात् उसे अपने वशमे कर लेगा।

तो जिस प्रकार एक ही सूर्यका प्रतिबिम्ब मलिन जलके अन्दर पडकर उसके वशमे हो जाता है और स्वच्छ तथा स्थिर जलमे पडकर उल्टा उसे वशमे करलेता है, ठीक उसी प्रकार एक ही शुद्ध-चेतनका प्रतिबिम्ब मलिन प्रकृति अर्थात् अविद्यामे पड़कर उस अविद्याके वशमे हो जाता है। इसलिए उसे परतन्त्र, अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् इत्यादि धर्मोंवाला **जीव** कहते है। और वही शुद्ध-चेतनका प्रतिबिम्ब, शुद्ध-प्रकृति अर्थात् मायामे पडकर उसे अपने जैसा बनाकर सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन व सहार करता है, अर्थात् उस मायाको अपने वशमें कर लेता है। इसीलिए उसे मायाका प्रेरक, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् इत्यादि धर्मों वाला **ईश्वर** कहते हैं। किन्तु हे शिष्य! इन दोनोमें यह बात ध्यानमे रखने योग्य है कि अल्पज्ञ होना, पुण्य-पाप कर्मोको करना, उसका फल सुख-दु ख भोगना और अपनेमे बन्धन-मोक्षको मानना, ये सब धर्म जीवके तीन हिस्सोमेसे जो प्रतिविम्बका हिस्सा है अर्थात् जो अविद्या अथवा अविद्याके परिणामरूप **बुद्धिमें आया हुआ चिदाभास** है, उसके धर्म है। और सर्वज्ञ होना, सर्वशक्तिमान् होना, पुण्य-पाप कर्मोका सुख-दुःख फल देना इत्यादि सब धर्म,

ईश्वरके तीन हिस्सोमेसे जो मायामे आया हुआ प्रतिविम्व का हिस्सा है, उसके अर्थात् **मायामे आए हुए चिदाभासके** हैं। किन्तु इन दोनोके अधिष्ठान जो कूटस्थ और शुद्ध चेतन [ब्रह्म] है, वे दोनो एक तथा सव धर्मोसे रहित है।

इस प्रकार हे शिष्य ! मैंने तुम्हे घटाकाश, जलाकाश व मेघाकाशके उदाहरणोसे कूटस्थ, जीव व ईश्वरके स्वरूप समझाए, अव महाकाशका उदाहरण देकर तुम्हे ब्रह्मका स्वरूप समझाता हूँ। जैसे महाकाश, घडेमे, वादलमे, मकानमे, और उनसे वाहर अर्थात् सव जगह एक रस व्यापक है, उसी प्रकार ब्रह्म भी जीवमे, ईश्वरमे, तथा उनसे वाहर अर्थात् मायामे और मायासे वाहर सव जगह, एक रस, निर्विकार रूपसे व्यापक है। और जैसे घटाकाश तथा महाकाश वस्तुत: एक ही है, वैसे ही कूटस्थ और ब्रह्म भी वास्तवमे एक ही है। इसीलिए जव जीव और ईश्वरकी एकता कही जाती है, तव उनके तीनो हिस्सोको न लेकर केवल जो शुद्ध-चेतनका हिस्सा, कूटस्थ तथा ब्रह्मरूप है, उन दोनोकी ही आपसमे एकता की जाती है।

**शका** :— भगवन् ! यदि जीव और ब्रह्म दोनो एक ही हैं, तो फिर वेदोमे जो कर्म और उपासनाका विधान आया है, वह सव निष्फल हो जायगा। क्योकि जीवको यदि ब्रह्म स्वरूप ही मानले, तो फिर जीव कर्म किसके लिये करेगा ? और परमात्माके अलग न होनेसे जीव उपासना किसकी करेगा ? और ब्रह्मको यदि जीव-स्वरूप मानले तो फिर

जीवको कर्मोका फल कौन देगा ? तथा वेदोके अन्दर ऐसा प्रसग भी आया है :—

**"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**
**समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।**
**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-**
**नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥"**

[ अथर्ववेदके मन्त्रभागके अन्तर्गत मुण्डक उपनिषद्के ३ मु० के १ ख० का १ मन्त्र ]

अर्थात् साथ साथ रहनेवाले तथा समान आख्यानवाले अर्थात् जिनकी अभिव्यक्तिका कारण समान है ऐसे दो पक्षी एक ही वृक्षका आश्रय करके रहते है । उनमे एक तो स्वादिष्ट (मधुर) पिप्पल (कर्मफल) का भोग करता है और दूसरा भोग न करके केवल देखता रहता है ।"

**भाव यह है कि** :— एक बुद्धिरूपी वृक्षपर दो पक्षी बैठे है एक तो कर्म करता है, और उसका फल सुख-दु ख भोगता है, दूसरा अकर्ता, भोग-रहित, निर्विकार, असग तथा भोगनेवाले पक्षीको प्रकाशित करनेवाला है ।' वेदके इस कथनसे भी ऐसा प्रतीत होता है कि भोगनेवाला जो जीव है, वह भोग-रहित परमात्मासे भिन्न है, तो फिर आप जीव और ब्रह्मकी एकता कैसे कहते है ?

**उत्तर** :— हे शिष्य ! यह जो वेदोमे दो पक्षियोका वर्णन आया है, वह कूटस्थ और आभासके बारेमे आया है, न कि जीव और ब्रह्मके बारेमे । और यह तो मैंने तुझे पहिले ही बतला दिया है कि जितने भी कर्म करना और

फल भोगना इत्यादि धर्म है, वे सव जीवके आभासके हिस्सेमे है, न कि कूटस्थके हिस्सेमे। कूटस्थ तो सव धर्मो से रहित व केवल साक्षी-मात्र है। सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और सहार करना, जीवोको अपने अपने कर्मोका फल देना इत्यादि सव धर्म भी ईश्वरके आभासके हिस्सेमे है न कि शुद्ध-चेतन ब्रह्मके हिस्सेमे, क्योकि शुद्ध-चेतन ब्रह्म तो सब धर्मोसे रहित, निर्विकार और ईश्वरका भी केवल साक्षी-स्वरूप ही है। अतः एकता सदा जीव-साक्षी और ईश्वर-साक्षीकी ही आपसमे की जाती है, न कि माया और अविद्या अथवा उसके परिणामरूप बुद्धिमे आए हुए चिदाभास की। जीव और ईश्वरके चिदाभास तो परस्पर भिन्न हैं, इसलिए वेदोमे कर्म और उपासनाका कथन भी सही है। क्योकि कर्म और उपासना करनेवाला बुद्धिमे आया हुआ चिदाभास दूसरा है और फल देनेवाला तथा उपास्य (उपासना करने योग्य ) मायामे आया हुआ चिदाभास दूसरा है। और वेदोने कर्म करने व फल देनेके वारेमे जो कथन किया है वह जीव तथा ईश्वरके आभास-अशको लक्ष्य करके ही किया है तथा अकर्ता, अभोक्ता, उदासीन, साक्षी और शुद्ध-चेतनका जो कथन किया है, वह ब्रह्ममे अभिन्न कूटस्थको लक्ष्य करके ही किया है। जव वेद कहता है "तत्त्वमसि" अर्थात् तू ब्रह्म है तो उस समय तू शब्दसे वेदका अभिप्राय जीवका नही है, किन्तु कूटस्थका है। क्योकि तेरा असली स्वरूप कूटस्थ (साक्षी) है, सो कूटस्थ और ब्रह्म दोनो एक है। उनका जो भेद तुम्हे प्रतीत हो

रहा है, वह केवल अविद्या अथवा अविद्याके परिणाम स्थूल-शरीर और सूक्ष्म-शरीरकी उपाधिसे ही प्रतीत हो रहा है। इसलिए

**"अह ब्रह्म" नहिं जौलौं जानै।**
**तौलौं दीन दुखित भय मानै॥**

अर्थात् हे शिष्य! "मैं (साक्षी) ब्रह्म हूँ" ऐसा जब तक तुम नही जानोगे, तब तक अपनेको दीन और दुःखी मानते रहोगे। इसलिए यदि तुम इस जन्म-मरणरूपी ससारके भयसे मुक्त होना चाहते हो, तो अपने असली स्वरूपको पहिचानो।

**शका :—** गुरुजी! अब कृपा करके यह बताइये कि 'मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान किसको होता है। आपके कथनानुसार मुझे जीवके दो प्रधान-भाग समझमे आए हैं। एक **कूटस्थ** (साक्षी-चेतन), दूसरा उसका अविद्या अथवा अविद्याके परिणामरूप बुद्धिमे आया हुआ आभास, जिसे **चिदाभास** भी कहते हैं। अब यह समझमे नही आ रहा है कि यह ज्ञान कूटस्थको होता है या चिदाभास को होता है? यदि कूटस्थको होता है तो क्या पहिले कूटस्थमे अज्ञान था? यदि अज्ञान मान करके फिर ज्ञान मानेगे तो कूटस्थ विकारी सिद्ध हो जायगा। और कूटस्थमे "मैं ब्रह्म हूँ" यह कहना भी नही बन सकता; क्योकि कहना सुनना इत्यादि सब क्रियाएँ सूक्ष्म-शरीरमे आए हुए चिदाभासकी ही हुआ करती हैं। यदि यह कहे कि ज्ञान चिदाभासको होता है तो यह भी नही बन सकता। क्योकि चिदाभास

तो मिथ्या है, क्योंकि जब तक अविद्या है तभी तक उसमे चिदाभास भी रहता है, और जब मोक्ष अवस्थामे अविद्याका अत्यन्त-अभाव हो जाता है तो वहाँ चिदाभास भी नही रहता, केवल शुद्ध-चेतन ही रहता है। वह शुद्ध चेतन अविद्याके रहनेपर अथवा नही रहनेपर भी कायम रहता है, इसलिए सत् है, और चिदाभास अविद्याके नष्ट होने पर नही रहता इसलिए **मिथ्या** है। सो मिथ्या चिदाभास यदि अपनेको कहे कि "मैं ब्रह्म हूँ" तो वह ज्ञान मिथ्या ज्ञान कहलाएगा, फिर उस मिथ्या ज्ञानसे मोक्ष कैसे मिल सकता है ? इसलिए हे भगवन्! इस दासपर कृपा करके समझाइएगा कि "मैं ब्रह्म हूँ", यह ज्ञान किसको होता है ?

**उत्तर :—** हे शिष्य! इस बातको समझानेके लिए मैं तुम्हे चिदाभासकी सात अवस्थाएँ बतलाता हूँ। वे ये हैं (१) अज्ञान (२) आवरण (३) भ्रान्ति अथवा शोक (४) परोक्ष ज्ञान (५) अपरोक्ष ज्ञान (६) भ्रान्ति-नाश अथवा शोक-नाश और (७) अतिहर्ष अथवा निरकुश-तृप्ति।

(१) **अज्ञान :—** अपने स्वरूपको नही पहिचानना। इस अज्ञानके कारण ही "मैं ब्रह्म को नही जानता" ऐसा लोग कहा करते है।

(२) **आवरण :—** आवरण कहते है पर्देको, जो अज्ञान का कार्य है। क्योकि उक्त अज्ञानके कारण ही लोग ऐसा कहा करते हैं कि "कूटस्थ (ब्रह्म) न तो है ही और न प्रतीत ही होता है।" ऐसा व्यवहार (कहना) अज्ञानकी दो शक्तियोके कारण ही हुआ करता है। एक असत्त्वापादक-

शक्ति और दूसरी अभानापादक-शक्ति ।

[क] "ब्रह्म है ही नही" ऐसी प्रतीति करानेवाली जो शक्ति है वह, **असत्त्वापादक-शक्ति** कहलाती है ।

[ख] "ब्रह्मका भान [प्रत्यक्ष-ज्ञान] नही होता है" ऐसी प्रतीति करानेवाली जो शक्ति है वह **अभानापादक-शक्ति** कहलाती है । इन दोनो शक्तियोको मिलाकर **आवरण** कहते है ।

(३) **भ्रान्ति अथवा शोक** — उस अज्ञानके आवरणसे अपने असली स्वरूप कूटस्थमे जन्म-मरण, दुःख-सुख इत्यादि ससारके माननेको अर्थात् मैं (कूटस्थ-साक्षी) कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ, जन्मता हूँ, मरता हूँ, इस प्रकार माननेको **भ्रांति** अथवा **शोक** कहते है ।

(४) **परोक्ष ज्ञान** :— "ब्रह्म है" ऐसे जाननेको कहते हैं ब्रह्मका **परोक्ष-ज्ञान** । इस ज्ञानसे "ब्रह्म नही है", यह अज्ञान की असत्त्वापादक-शक्ति नष्ट होती है ।

(५) **अपरोक्ष-ज्ञान** :— मैं (कूटस्थ) ब्रह्म हूँ अर्थात् मेरा असली स्वरूप ब्रह्म है, इस प्रकारके ज्ञानको ब्रह्मका **अपरोक्ष-ज्ञान** कहते है । इस ज्ञानसे 'मुझे ब्रह्मका भान (प्रत्यक्ष) नही हो रहा है", यह अज्ञानकी अभानापादक-शक्ति अर्थात् आवरणका अभानापादक अश नष्ट होता है ।

(६) **भ्रांति-नाश अथवा शोक-नाश** :— ब्रह्मके अपरोक्ष ज्ञान होनेके वाद अर्थात् अपने असली स्वरूपको पहिचानने के वाद, मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं जन्मता हूँ, मैं मरता हूँ इस प्रकारकी भ्रांति नष्ट हो जाती है । इसीको भ्रांति-नाश, शोक-नाश, विक्षेप-नाश, ससार-नाश

इत्यादि शब्दोसे कहा करते है।

(७) **अतिहर्ष अथवा निरंकुश-तृप्ति** — जब भ्रान्ति नष्ट हो जाती है तब ज्ञानीको यह निश्चय हो जाता है कि मैं (मेरा असली स्वरूप साक्षी) जन्म-मरण सुख-दु ख इत्यादि सब धर्मोसे रहित, असग, निर्विकार, अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म हूँ। ऐसा निश्चय होनेके बाद ज्ञानीको जो महान् आनन्दका अनुभव होता है, उसको अतिहर्ष अथवा निरकुश-तृप्ति (असीम तृप्ति) कहते है। क्योकि उसका (ज्ञानीकी तृप्तिका) नाप-तौल नही हो सकता। हे शिष्य! ये ऊपर कही हुई सातो अवस्थाएँ चिदाभास-अशकी है न कि शुद्ध चेतन (कूटस्थ-साक्षी) की। और इन सातो अवस्थाओमे ज्ञान भी आगया। इसलिए तुमने जो यह पूछा था कि "**मै ब्रह्म हूँ**" यह अपरोक्ष-ज्ञान किसको होता है", उसका उत्तर तो तुम्हे मिल गया कि "मै ब्रह्म हूँ" यह अपरोक्ष-ज्ञान चिदाभासको ही होता है न कि कूटस्थको।

**शंका**:— मेरी शका तो पूरी हल हुई ही नही, क्योकि आपने कहा था कि कूटस्थ और ब्रह्म तो दोनो एक ही हैं किन्तु आभास (चिदाभास) ब्रह्मसे न्यारा है, क्योकि ब्रह्म सत्य है और चिदाभास मिथ्या है। वह मिथ्या चिदाभास यदि अपने आपको कहे कि "मैं ब्रह्म हूँ" तो वह भ्रान्ति कहलाएगी। अब उस भ्रान्तिको यदि आप ब्रह्मज्ञान कहेगे तो ठीक नही है, क्योकि भ्रान्तिसे कभी मोक्ष नही हो सकता। इसलिए कृपया यह समझाइये कि "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान किसको होता है।

**उत्तर** — हे शिष्य! 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान तो बुद्धि-सहित

चिदाभासको ही होता है और "मैं ब्रह्म हूँ" यह कहता भी चिदाभास ही है। किन्तु उस समय अपने असली स्वरूप कूटस्थको लक्ष्य करके ही कहता है। जैसे दर्पणमे चमकता हुआ विशेष-प्रकाश यदि कहे कि "मैं सूर्य हूँ" तब यह समझना चाहिये कि वह दर्पणमे आया हुआ प्रतिबिम्ब-रूप विशेष-प्रकाश अपने विशेष-स्वरूपका बाध करके (उस विशेष चमकको मिथ्या समझ करके) और अपने असली स्वरूप (बिम्ब सूर्य) को लक्ष्य करके ही कहता है कि "मैं सूर्य हूँ।"

अथवा जब कोई पुरुष अपने मुखको दर्पणमे देखकर कहता है कि "मैं अब मोटा हो गया हूँ" तो क्या वह दर्पणवाले मुखको मोटा कह रहा है ? नही। क्योकि वह पुरुष यह समझता है कि मेरा मुख तो मेरी गर्दनपर है और दर्पणमे केवल उसका प्रतिबिम्ब ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि जब वह पुरुष अपने मुखके प्रतिबिम्बको देखकर कहता है कि "मैं मोटा होगया हूँ" तो उस समय वह प्रतिबिंब-रूप उस मुखको बाध करके (उस प्रतिविम्बित मुखको मिथ्या समझ करके, कुछ महत्त्व न देकर) अपने गर्दनवाले विम्बरूप असली मुखको ही लक्ष्य करके कहता है। इस प्रकार प्रतिबिंब को वाध करके अर्थात् मिथ्या समझकरके, विम्बको सत्य समझकर शेष रखना भी एक प्रकारकी एकता मानी जाती है। इस प्रकारकी एकताको—**वाध-एकता, वाध-अभेद** अथवा **वाध-सामानाधिकरण्य** भी कहते हैं। क्योकि यह एकता (प्रतिविम्ब और विम्बकी एकता) प्रतिविम्बको वाध कर और प्रतिविम्बका असली स्वरूप विम्ब समझ करके ही

की जाती है। इस प्रकार चिदाभास और ब्रह्मकी भी आपस मे **बाध-एकता** ही मानी जाती है। क्योकि जब चिदाभास कहता है कि "मैं ब्रह्म हूँ" तो उस समय अपने आभास-रूपको बाध करके, अपने असली स्वरूप बिम्बरूप कूटस्थ (ब्रह्म)को लक्ष्य करके ही कहता है कि "मैं ब्रह्म हूँ।"

और जब हम साक्षी (कूटस्थ) की ब्रह्मसे एकता करते है तो उस एकताको **मुख्य-सामानाधिकरण्य, मुख्य-अभेद** अथवा **मुख्य-एकता** भी कहते है। क्योकि वह एकता किसीका बाध न करके ही की जाती है। और कूटस्थ तथा चिदाभास ये दोनो "अहम्" शब्दके अर्थ है, अर्थात् "अहम्" शब्दका उच्चारण करते समय इन दोनोका एक ही साथ भान होता है। इसलिए ज्ञानी जब "अहं ब्रह्मास्मि" अर्थात् "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा कहता है तो उस समय 'मैं' शब्दका उच्चारण करते ही उसे कूटस्थ व आभास इन दोनोका भान हो जाता है और इन दोनोकी ही वह ब्रह्मसे एकता करता है। परन्तु "अहम्" शब्दके अर्थ कूटस्थकी जो ब्रह्मसे एकता होती है वह सीधी एकता होनेके कारण **मुख्य-एकता** कहलाती है। और अहं शब्दके अर्थ, चिदाभासकी जो ब्रह्मसे एकता होती है, उसमे आभासका बाध होनेके कारण वह **बाध-एकता** कहलाती है। तो हे शिष्य! अपने आभास स्वरूपका बाध करके व अपने असली स्वरूप कूटस्थको लक्ष्य करके, "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान चिदाभासको किस प्रकार होता है, यह तुम्हारी समझमे अब आगया होगा।

**शंका :—** भगवन्! यह तो मेरी समझमे आगया कि

चिदाभासको ही "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान होता है किन्तु यह जो आपने कहा कि 'मैं' शब्दका उच्चारण करते समय चिदाभास और कूटस्थ (साक्षी) का एक ही साथ भान होता है, इसमे मुझे यह कृपा करके समझाइये कि इन दोनोका भान (ज्ञान) अपने आपही होता है या और किसीके द्वारा होता है।

**उत्तर :—** हे शिष्य ! अन्त.करण-सहित-चिदाभासका भान तो साक्षी द्वारा होता है, किन्तु साक्षी स्वय-प्रकाश है इसलिए उसका भान तो अपने आप ही होता है न कि वृत्ति-द्वारा। वृत्ति तो केवल आवरणरूप अज्ञानको ही नष्ट करती है। जैसे अधकारमे कूण्डेसे ढकी हुई मणिका डण्डेसे कूण्डेको फोडनेके बाद, बिना किसी दीपक इत्यादिकी सहायताके ही अपने आप प्रकाश हो जाता है, इसी प्रकार अज्ञानसे ढके हुए अपने असली स्वरूप साक्षीका "अह ब्रह्मास्मि" इस वृत्ति-रूपी डण्डेसे अज्ञानरूपी कूण्डेको फोड़नेके बाद, बिना किसीकी (वृत्ति इत्यादिकी) सहायताके ही अपने आप प्रकाश हो जाता है, क्योकि साक्षी स्वय-प्रकाश है। किन्तु जो वस्तु स्वय-प्रकाश नही होती, जैसे घडा इत्यादि जड पदार्थ, तो उनको जनवानेके लिए केवल वृत्तिसे अज्ञानको ही नष्ट करनेकी आवश्यकता नही है प्रत्युत (वल्कि) चिदाभासकी सहायता भी आवश्यक है।

जैसे अंधकारमें कूण्डेसे ढके हुए मिट्टीके वर्तनको डण्डेसे कूण्डेको फोडनेके वाद भी विना किसी प्रकाशकी सहायताके हम नही देख सकते है। क्योकि वहाँ दो काम होते है (१) डंडेसे ढक्कनको फोड़ना (२) दीपक इत्यादिके प्रकाश-द्वारा

मिट्टीके वर्तनको जनवाना। इसी प्रकार जितनी भी जड-वस्तुएँ है उनको जनवानेके लिए पहिले वृत्ति अज्ञानको नष्ट करती है फिर उस वृत्तिमे आया हुआ चेतनका आभास उस जड वस्तु को जनवाता है। इस प्रकारके जनवानेको प्रत्यक्ष-ज्ञान कहते हैं। आत्माके प्रत्यक्षमे तो केवल अज्ञानके आवरणको दूर करनेके लिए वृत्तिकी ही आवश्यकता पडती है, न कि चिदाभासकी। क्योकि आत्मा स्वय-प्रकाश होनेके कारण चिदाभासका उसके साक्षात्कारमे कोई उपयोग नही होता। किन्तु आत्मासे भिन्न जितनी भी अनात्म जड वस्तुएँ है उन सबके प्रत्यक्ष-ज्ञानमे वृत्ति-व्याप्ति (वृत्तिसे अज्ञानको नष्ट करना) और फल-व्याप्ति (चिदाभासका उस वस्तुको जनवाना) इन दोनोकी आवश्यकता पडती है।

**शका**:—भगवन्! जिस प्रकार प्रत्यक्ष-ज्ञान भी एक प्रकारका ज्ञान है, उसी प्रकार और कितने ज्ञान हैं यह कृपा करके बतलाइये।

**उत्तर**:—हे शिष्य! कुल छ· प्रकारके ज्ञान होते हैं। (१) प्रत्यक्ष (२) अनुमिति (३) शाब्द (४) उपमिति (५) अर्थापत्ति और (६) अभाव। इनको छ· प्रकारकी प्रमा भी कहते है। प्रमा अर्थात् वह यथार्थ-ज्ञान जो स्मृति भी न हो और जिसके अर्थका कभी बाध भी न हो सके अर्थात् जो कभी झूठा सिद्ध न हो सके। और उस प्रमा-ज्ञानके करणको कहते है प्रमाण। करण कहते हैं असाधारण कारणको। कारण दो प्रकारके होते हैं। (१) साधारण कारण (२) असाधारण कारण। जो सब कार्योका कारण होता है वह साधारण कारण कहलाता

है । जैसे धर्म, अधर्म, ईश्वर इत्यादि, सब कार्योंके प्रति कारण हैं इसलिए वे साधारण कारण कहलाते हैं । और जो सब कार्योंके प्रति कारण न हो, केवल किसी विशेष कार्यका ही कारण हो, वह **असाधारण कारण** कहलाता है । जैसे कुम्हारका डण्डा सब कार्योंका तो कारण नही है केवल घडा इत्यादि जो कार्य-विशेष हैं, उनका ही कारण है । इसलिए डण्डा घडेका असाधारण कारण अर्थात् करण कहलाता है । अतः जितने प्रमा-ज्ञान मैंने तुम्हे बतलाये है उनके असाधारण कारणो (करणो) को प्रमाण कहते हैं ।

**शंका** – गुरुजी ! वे प्रमाण कितने हैं और कौन कौन से होते है यह कृपा करके बताएँ ।

**उत्तर** – हे शिष्य ! जिस प्रकार प्रमा-ज्ञान छः प्रकार के होते है वैसे प्रमाण भी छः प्रकारके होते है ।

(१) प्रत्यक्ष प्रमाण (२) अनुमान प्रमाण (३) शब्द प्रमाण (४) उपमान प्रमाण (५) अर्थापत्ति प्रमाण और (६) अनुपलब्धि प्रमाण ।

(१) **प्रत्यक्ष प्रमाण** – जो चार्वाक है (जो आकाशकें विना बाकी वायु, तेज, जल और पृथ्वी इन चार भूतोको माननेवाले तथा शरीरको ही आत्मा माननेवाले है) वे एक प्रत्यक्ष प्रमाणको ही स्वीकार करते हैं । प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं प्रत्यक्ष ज्ञानके करण (साधन) को । प्रत्यक्ष ज्ञान सभी विषयोका हुआ करता है, जैसे शब्दका प्रत्यक्ष, स्पर्शका प्रत्यक्ष, रूपका प्रत्यक्ष, रसका प्रत्यक्ष और गंध इत्यादिका प्रत्यक्ष । इन प्रत्यक्षोंके करण (प्रमाण) भी अलग अलग

होते हैं जैसे शब्दके प्रत्यक्षका प्रमाण श्रोत्र-इन्द्रिय (कान) व रूपके प्रत्यक्षका प्रमाण (नयन) नेत्र-इन्द्रिय। इसी प्रकार सभी इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाती हैं।

(२) **अनुमान प्रमाण** :— वैशेषिक-शास्त्रके कर्ता कणाद जिसको कणभुक् भी कहते हैं वे और सुगत मतके अनुयायी अर्थात् बौद्ध मतवाले कहते हैं कि प्रत्यक्षके अतिरिक्त एक दूसरा अनुमान प्रमाण भी होता है। क्योंकि पहाड़मेंसे धुएँको निकलता हुआ देखकर हम बिना अग्निके देखे ही पहाड़में अग्निका अनुमान लगा लेते हैं। तथा भोजनको दूरसे देखकर ही ऐसा अनुमान लगा लेते हैं कि इस भोजनसे हमें तृप्ति हो जायगी। और ऐसा अनुमान लगाने के बाद ही हम भोजनमें प्रवृत्त हुआ करते हैं। इसलिए दूसरा अनुमान प्रमाण भी मानना आवश्यक है।

(३) **शब्द प्रमाण** :— सांख्य-शास्त्रके कर्ता जो कपिल हैं, उनके मतका अनुसरण करनेवाले तीसरा शब्द प्रमाण भी मानते हैं। वे कहते हैं कि यदि शब्द प्रमाण हम नहीं मानेंगे तो विदेशोंमें होनेवाली घटनाओंका, जिनका हम प्रत्यक्ष अथवा अनुमान भी नहीं कर सकते, कैसे पता लग सकता है। क्योंकि उन घटनाओंका पता तो रेडियो, टेलीग्राम, वायरलेस अथवा वहाँसे आये हुए किसी मनुष्यके शब्दोंको सुननेसे ही लगा करता है। इसलिए तीसरा शब्द प्रमाण भी मानना आवश्यक है।

(४) **उपमान प्रमाण** :— न्याय-शास्त्रके कर्ता गौतमके मत को माननेवाले चौथा उपमान प्रमाण भी मानते हैं। वे कहते

है कि जिस पुरुषने गवय (रोज)को नही देखा हो किन्तु किसी बनवासी पुरुषसे ऐसा सुन रक्खा हो कि "गऊ जैसी शक्लका रोज होता है", वह पुरुष यदि कभी बनमे चला जाय और रोजको देखले, तो उसी समय उसे बनवासी पुरुपके कहे हुए शब्द याद आते हैं। और उन शब्दोके याद आते ही उस पुरुष को यह ज्ञान हो जाता है कि "यह पशु रोज है"। इसी ज्ञानको **उपमिति ज्ञान** कहते है। और इस ज्ञानके करण (असाधारण कारण) को अर्थात् गवयमे गो सादृश्यके ज्ञानको ("यह पशु गौ जैसा है" इस ज्ञानको) उपमान प्रमाण कहते हैं। अतः यदि केवल प्रत्यक्ष आदि तीन प्रमाण ही होते तो फिर उपमिति-ज्ञान नही होना चाहिए। इसलिए इन तीनोके अतिरिक्त चौथा **उपमान प्रमाण** भी मानना आवश्यक है।

(५) **अर्थापत्ति प्रमाण** :– पूर्व-मीमाँसाके एकदेशी जो भट्ट के शिष्य प्रभाकर हैं, वे पाँचवाँ अर्थापत्ति प्रमाण भी मानते है। वे कहते है, कि यदि कोई मोटा ताजा पुरुष ऐसा कहे "मैं कभी भोजन ही नही करता हूँ" तो उसके कहनेपर कोई विश्वास नही करेगा। क्योकि उसकी मोटाई और स्फूर्तिको देखकर, ऐसा ज्ञान हो जाता है कि 'यह पुरुप यदि दिनमे भोजन नही करता है तो रात्रीमे कही न कही छिपकर अवश्य भोजन करता ही है।' वह रात्रिके भोजनका ज्ञान, प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, और उपमान इन चारो प्रमाणोसे तो हो ही नही सकता, केवल उसकी मोटाईको देखकर ही हो सकता है। उस मोटाईके ज्ञानको, जिससे रात्रिके भोजनका ज्ञान होता है, **अर्थापत्ति प्रमाण** कहते है, इसलिए उन चारो प्रमाणोके

अतिरिक्त यह पाँचवाँ अर्थापत्ति प्रमाण भी मानना आवश्यक है।

(६) **अनुपलब्धि प्रमाण** :— पूर्व-मीमाँसक जो भट्ट हैं वे छठा अनुपलब्धि प्रमाण भी मानते है और वेदान्त-दर्शनमे भी छहो ही प्रमाण अगीकार किये गए है। अनुपलब्धि प्रमाणको सिद्ध करनेके लिये वे इस प्रकार उदाहरण द्वारा समझाते हुए कहते है, कि किसी पिताने अपने लडकेको कमरेमे गीताकी पुस्तक लानेके लिए भेजा। वहाँ वह पुस्तक नही थी। उस लडकेने वापिस आकर कहा "पिताजी! वहाँ तो पुस्तक है ही नही"। पिताजीने पूछा "पुस्तकके अभाव (नही होने) को तुमने कैसे जाना"? पुत्रने उत्तर दिया "पिताजी! उस पुस्तककी अनुपलब्धि (अप्रतीति अर्थात् नही दीखने) से ही मैंने उस पुस्तकके अभावको जाना"। इससे सिद्ध हुआ कि किसी वस्तुके अभावका ज्ञान उस वस्तुकी अनुपलब्धि (अप्रतीति) द्वारा ही हुआ करता है। इसलिए **अनुपलब्धि प्रमाण** भी मानना आवश्यक है। यो कुल छ प्रमाण माने जाते है।

**शका** :— भगवन्! आपने जो ये छः प्रमाण बतलाए, उनमे प्रत्यक्ष ज्ञानका प्रमाण (साधन) ज्ञान-इन्द्रियोको बतलाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान, इन्द्रियो द्वारा उत्पन्न होता है। किन्तु आपके मत (वेदान्त मत) मे तो ज्ञानको आत्माका स्वरूप माना जाता है और उस आत्म-स्वरूप ज्ञानकी कभी उत्पत्ति व नाश तो होता ही नही है, तो फिर ज्ञानकी उत्पत्तिमे इन्द्रियाँ करण (साधन) कैसे बन सकती है?

**उत्तर** :—हे शिष्य ! इस ज्ञान शब्दसे मेरा तात्पर्य आत्म-स्वरूप ज्ञानसे नही है किन्तु वृत्ति-रूप ज्ञानसे है। क्योकि वेदान्त-मतमे वृत्तिको भी वस्तुके ज्ञानकी उत्पादक होनेके नाते **ज्ञान** कहते है। इस वृत्ति-रूप ज्ञानके करण (साधन) इन्द्रियाँ है, क्योकि वृत्ति, ज्ञान-इन्द्रियो द्वारा ही बाहर निकला करती है। इसीलिये ज्ञान-इन्द्रियोको **प्रत्यक्ष प्रमाण** कहा जाता है।

**शंका** —भगवन् ! आपके मतमे तो ज्ञान एक ही माना जाता है फिर आपने वृत्ति-ज्ञान और आत्म-स्वरूप-ज्ञान ये दो ज्ञान कैसे बताए ?

**उत्तर** —हे शिष्य ! वास्तवमे तो ज्ञान (चेतन) एक ही है, किन्तु अन्त करण, वृत्ति और विषयकी उपाधिसे वह चार प्रकारका माना जाता है। (१) प्रमाता-चेतन (२) प्रमाण-चेतन (३) प्रमिति-चेतन अथवा प्रमा-चेतन और (४) प्रमेय-चेतन अथवा विषय-चेतन। अब चेतनके इन चार प्रकारोको समझानेके लिए मैं तुम्हे पहिले वेदान्त-मतानुसार प्रत्यक्ष-ज्ञान की विधि बतलाता हूँ।

जब किसी घटादिक वस्तुका प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है तब अन्त करणकी वृत्ति आँख आदि ज्ञान-इन्द्रियोके साथ उस ज्ञेय वस्तु तक पहुँच करके उस वस्तुको व्याप्त करके, उसके समान आकारको धारण करके अज्ञानको (उस ज्ञेय वस्तुसे अवच्छिन्न-चेतनके आश्रित अज्ञानको) नष्ट करती है, तव (वृत्ति और विषयके आपसमे मिलनेपर अर्थात् वृत्ति व विषय दोनो उपाधियोके एक देशमे होनेपर वृत्ति-अवच्छिन्न-

चेतन व विषय-अवच्छिन्न-चेतन दोनोका अभेद होता है और तभी उस ज्ञेय वस्तुका **प्रत्यक्ष ज्ञान** होता है।

इस प्रकार जहाँ जहाँ विषयका प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है वहाँ वहाँ यही प्रक्रिया मानी जानी है और यही वेदान्त-मतानुसार प्रत्यक्ष-ज्ञानकी विधि है।

हे शिष्य ! अब यह ध्यानमे रखने योग्य बात है कि जो सामान्य-चेतन (ब्रह्म) है, वह सर्वत्र व्यापक होनेके कारण, अन्तःकरणमे भी है व ज्ञानेन्द्रियोके साथ विषय तक पहुँची हुई, अन्तःकरणका परिणामरूप जो वृत्ति है, उसमे भी है, फिर वह वृत्ति जब विषयके समान आकारको धारण कर लेती है तो उस विषयाकार वृत्तिमे भी मौजूद है और वह वृत्ति जिस विषयको जनवानेके लिए ज्ञानेन्द्रियोके साथ वहाँ पहुँचती है, उस विषयमे भी व्यापक है अर्थात् वह एक ही चेतन सबमे व्यापक है, किन्तु उन अन्तःकरण आदि भिन्न भिन्न उपाधियोके कारण उस एक चेतनके नाम भी भिन्न भिन्न पड जाते है जैसे :—

(१) **प्रमाता-चेतन** —शरीरके अन्दर जो आभास-सहित-अन्तःकरण है उससे अवच्छिन्न चेतन अर्थात् जो अन्तःकरण-विशिष्ट-चेतन है, वह **प्रमाता** (ज्ञाता) कहलाता है।

(२) **प्रमाण-चेतन** —जैसे पानीसे भरी हुई टकीमेंसे जल, छिद्र-द्वारा बाहर निकलकर, लम्बे नालेका आकार धारण करके बगीचेकी क्यारीमे जाता है और क्यारीमे जाकर उसीके आकारवाला बन जाता है, उसी प्रकार जब चिदाभास-सहित-अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियोके साथ नालाकार

वृत्तिके रूपमे बाहर निकलकर ज्ञेय (जानने योग्य) वस्तु तक पहुँचता है, तब उस वृत्तिसे अवच्छिन्न चेतनको अर्थात् जितने हिस्सेमे वृत्ति है उतने हिस्सेवाले सामान्य चेतनको **प्रमाण-चेतन** कहते हैं।

(३) **प्रमिति-चेतन :—** जैसे जल, क्यारी तक पहुँच करके, उसे व्याप्त करनेके बाद उस क्यारीके समान आकार को धारण कर लेता है। उसी प्रकार जब वह वृत्तिरूपमे आया हुआ साभास अन्तःकरण अर्थात् आभास-सहित अन्तः-करणका परिमाणरूप आभास-सहित-वृत्ति, ज्ञेय-वस्तु तक पहुँच करके, उसको व्याप्त करनेके बाद, उस ज्ञेय-वस्तुके समान आकारको प्राप्त कर लेती है, (जब वृत्ति उस ज्ञेय वस्तुको विषय करती है, अर्थात् जब उस ज्ञेय-वस्तुका प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है) तब उस ज्ञेय-वस्तुके समान आकार को धारण करनेवाली वृत्तिसे अवच्छिन्न चेतनको अर्थात् उस विषयाकार वृत्तिमे आरूढ चेतनको **प्रमिति-चेतन, प्रमा-चेतन** अथवा **यथार्थ-ज्ञान** भी कहते है ।

(४) **प्रमेय-चेतन :—** ज्ञेय (जानने योग्य) वस्तुओंसे अवच्छिन्न जो चेतन है, वह **प्रमेय-चेतन** अथवा **विषय-चेतन** कहलाता है ।

यद्यपि चेतन-रूप प्रमा तो नित्य है, वह कभी आँख इत्यादि ज्ञान-इन्द्रियोकी सहायतासे उत्पन्न नही हो सकती अर्थात् आँख इत्यादि ज्ञान-इन्द्रियाँ उस चेतन-रूप प्रमाकी करण (असाधारण कारण) नही बन सकती, किन्तु यहाँ प्रमा शब्दका तात्पर्य शुद्ध-चेतनसे नही है, अपितु विषय-आकार-वृत्ति-

अवच्छिन्न-चेतनसे है और वृत्ति ज्ञानेन्द्रियोंके साथ ही विषय तक पहुँचा करती है, अर्थात् वृत्तिकी करण ( साधन ) ज्ञानेन्द्रियाँ ही है। इसलिए विषयाकार-वृत्ति-अवच्छिन्न-चेतन-रूप प्रमाकी करण भी ज्ञान-इन्द्रियाँ मानी जाती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष-प्रमाकी करण होनेके नाते, **ज्ञान-इन्द्रियोको प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता** है। ऊपर कहे हुए प्रकारसे कुल छः प्रमाण सिद्ध होते है।

हे शिष्य! ऊपर जो मैंने तुम्हे चेतनके ४ भेद सुनाये, उनमे जो प्रमाता-चेतन बतलाया है उसीको कर्त्ता भोक्ता तथा जीव भी कहते है। इस प्रमाताके विषयमें अवच्छेद-वाद और आभास-वादमे कुछ मतभेद (अन्तर) है। अवच्छेद-वादवाले कहते है कि अन्त करण-विशिष्ट जो चेतन है, अर्थात् जिस चेतनका अन्तःकरण विशेषण है, वह चेतन **प्रमाता** है और वही कर्त्ता भोक्ता है तथा अन्तःकरण-उपहित जो चेतन है अर्थात् जिस चेतनका अन्तःकरण उपाधि है, वह चेतन **साक्षी** है। इसी प्रकार एक ही अन्तःकरण प्रमाताका तो विशेपण है और साक्षीकी उपाधि है।

**शंका** :— भगवन्! विशेषण और उपाधिका कृपा करके अर्थ बतलाइये?

**उत्तर** :— हे शिष्य! जिसका अपने आश्रयके [illegible] प्रवेश हो अर्थात् अपने आश्रयके साथमें सम्बन्ध हो [illegible] दूसरे पदार्थोंसे अपने आश्रयको भिन्न करे [illegible] **विशेषण** कहते हैं। जैसे :— नीला घड़ा [illegible] क्योंकि उस नीलेपनका अपने आश्रय [illegible]

अर्थात् उस नीलेपनका नीले घडेसे सम्बन्ध है और वह नीला-पन लाल पीले इत्यादि घडोसे नीले घडेको भिन्न करके जनवाता है, इसलिए नीलेपनको नीले घडेका विशेषण कहते हैं। इसी प्रकार प्रमाताका विशेषण अन्त करण है, क्योंकि प्रमाताके स्वरूपमे अन्त करणका प्रवेश है, अर्थात् प्रमाताके कार्योंसे (धर्मोंसे) अन्तःकरणका सम्बन्ध है और अन्तःकरण प्रमाताके स्वरूपको प्रमेय-चेतन (विषय-चेतन) से भिन्न करके जनवाता है। इसलिये **अन्तःकरण प्रमाताका विशेषण कहलाता** है।

**उपाधि** :— जिस वस्तुका अपने आश्रयके स्वरूपमे प्रवेश न हो, अर्थात् जिसका अपने आश्रयके कार्योंसे (धर्मोंसे) कोई सम्बन्ध न हो और जो दूसरे पदार्थोंसे अपने आश्रयको भिन्न करके जनवाए, उसे **उपाधि** कहते हैं। जैसे :— घटाकाशकी उपाधि घडा है, क्योकि उस घडेका अपने आश्रय आकाशमे कोई प्रवेश नही है, अर्थात् उस घडेका अपने आश्रय आकाशके कार्योंसे [किसी पदार्थको अवकाश देना (जगह देना) इत्यादि कार्योंसे] व प्रतिध्वनि (Echo) इत्यादि गुणोसे कोई सम्बन्ध नही है और वह घडा उस घटाकाशको, व्यापक महाकाशसे भिन्न करके भी जनवाता है। इसलिए वह घडा घटाकाश की उपाधि है।

इसी प्रकार अन्त करण-उपहित-चेतन (साक्षी) की उपाधि अन्तःकरण है। क्योकि अन्तःकरणका अपने आश्रय (अधिष्ठान) साक्षीके स्वरूपमे कोई प्रवेश नही है, अर्थात् अन्तःकरणका अपने आश्रय-रूप साक्षीके धर्मोंसे (नित्य-शुद्ध-

बुद्ध-मुक्त असग निर्विकार सत् चित् आनद आदि धर्मोंसे) कोई सम्बन्ध नहीं है और वह अन्तःकरण साक्षीके स्वरूपको प्रमेय-चेतन (विषय-चेतन) से भिन्न करके भी जनवाता है, इसलिए **अन्तःकरण साक्षीकी उपाधि कहलाता है।**

और आभास-वादवाले कहते है कि यद्यपि एक ही अन्त करण प्रमाताका विशेषण और साक्षीकी उपाधि है, किन्तु अन्त करणको अकेला न मान करके आभास-सहित ही मानना चाहिए। क्योंकि जहाँ अन्तःकरण होगा वहाँ उसमे चेतनका आभास भी अवश्य पडेगा। इसलिए यो कहना चाहिये कि आभास-सहित-अन्त करण-विशिष्ट-चेतन, अर्थात् साभास-अन्त करण जिसका विशेषण है वह चेतन, **प्रमाता** (जीव) है। और आभास-सहित-अन्त करण-उपहित-चेतन, अर्थात् साभास-अन्त करण जिसकी उपाधि है वह चेतन **साक्षी** है।

**शंका** —भगवन्! मै इन दोनो मतोमेसे किसको ठीक मानूँ? अर्थात् अवच्छेद-वादानुसार अन्त करण-विशिष्ट-चेतनको जीव, तथा अन्त करण-उपहित-चेतनको साक्षी मानूँ? अथवा आभास-वादानुसार साभास-अन्त करण-विशिष्ट-चेतन को जीव, तथा साभास-अन्त करण-उपहित-चेतनको साक्षी मानूँ?

**उत्तर** —हे शिष्य! वैसे तो दोनो मतोमे प्रमाता-चेतन को विशेष्य (अन्त करणरूपी विशेषणवाला) मानकर उसमे जन्म-मरण आदि ससार नही मानते है। क्योंकि वे कहते है कि विशेषणके धर्मोका विशिष्टमे (विशेषण-सहितमे)

भी व्यवहार (प्रतीति और कथन) हुआ करता है। जैसे किसीने डण्डेसे घडेको फोड दिया। यह देख कर लड़केने अपने पितासे कहा "पिताजी ! अब घडा नष्ट हो गया, तो उसमे जो घटाकाश था वह भी नष्ट हो गया होगा" ? तब पिताने कहा "हे पुत्र ! यह नाश हुआ है घडेरूपी विशेषणका और तुझे प्रतीत हो रहा है घटाकाशरूपी विशिष्ट (विशेष्य) मे, [ यहाँ घडा विशेषण है और घटाकाश विशिष्ट है ]। क्योकि विशेषणके धर्म विशिष्टमे भी प्रतीत हुआ करते है। जैसे हरा रग है बल्बरूपी विशेषणका और प्रतीत होता है बल्ब-विशिष्ट-प्रकाशमे। इसी प्रकार वास्तवमे जन्म-मरणादि ससार है विशेषणमे (अन्त.करण अथवा साभास-अन्तःकरणमे) किन्तु भ्रान्तिसे उसका व्यवहार (प्रतीति और कथन) होता है, विशिष्ट-चेतन (प्रमाता) मे।

परन्तु दोनो वादोमेसे आभास-वाद को ही श्रेष्ठ माना जाता है, क्योकि (१) मन्द-बुद्धिवाले जिज्ञासुओको वह जल्दी समझमे आ जाता है। इस दृष्टिसे (सरलताकी दृष्टिसे) भाष्यकार श्रीस्वामी शकराचार्यजीने भी आभास-वादको ही अगीकार किया है।

(२) पचदशीकार श्रीविद्यारण्यस्वामीजीने अवच्छेद-वाद मे कुछ दोष भी बतलाए हैं। वे कहते है कि जैसे काँच और ढक्कन दोनो यद्यपि मिट्टीसे ही बनते हैं, किन्तु काँच स्वच्छ है इसलिए उसमे तो मुख आदिका आभास (प्रतिबिम्ब) पडता है और ढक्कन स्वच्छ नही है, इसलिए उसमे किसी

का भी आभास नही पडता । इसी प्रकार अन्त करण सत्त्व-गुणका कार्य होनेसे स्वच्छ है, इसलिए उसमे तो चेतनका आभास पडता है। किन्तु स्थूल-शरीर और घटादिक पदार्थ तमोगुणके कार्य होनेसे स्वच्छ नही है, इसलिए उनमे चेतनका आभास नही पडता ।

अब यदि अवच्छेद-वादानुसार **आभास-रहित**-अन्तःकरण-विशिष्ट-चेतनको प्रमाता मानेगे तो **आभास-रहित**-घट अथवा स्थूल-शरीरसे विशिष्ट-चेतन भी प्रमाता होना चाहिये । क्योकि जैसे अन्तःकरण पञ्चभूतोका कार्य है, वैसे घडा अथवा स्थूल-शरीरादिक जड पदार्थ भी पाँच भूतोके ही कार्य है। किन्तु घट अथवा स्थूल शरीर इत्यादिसे विशिष्ट-चेतन, प्रमाता (ज्ञाता) नही है। यह बात तो प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसलिए अन्त करणको **अवच्छेद-वादानुसार** आभास-रहित न मान करके, **आभास-वादानुसार** आभास-सहित ही मानना चाहिए ।

(३) अवच्छेद-वादके अनुसार अन्त करणमे चेतनके आभासको नही माननेसे यह प्रश्न उठता है कि, जैसे अन्त करण भूतोका कार्य है, वैसे घडा, मकान, स्थूल शरीर इत्यादि भी तो भूतोके कार्य है और जैसे सामान्य चेतन अन्त करणमे व्यापक है, वैसे सर्वव्यापक होनेके नाते वह घडे, मकान, स्थूल शरीर इत्यादिमे भी व्यापक है। तो फिर जहाँ अन्त करण है, उसे चेतन कहते है ( जैसे चलते फिरते मनुष्यको ) और जहाँ अन्त करण नही है, उसे जड कहते हैं ( जैसे घडे, मकान, मुर्दे इत्यादिको ) सो क्यो ? इस प्रश्नका उत्तर तो केवल आभास-वाद ही दे सकता

है कि जहाँ अन्तःकरण है, वहाँ सामान्य-चेतनके साथ साथ उसमे चेतनके आभासके पडनेसे अनिर्वचनीय ( मिथ्या ) विशेष-चेतना भी उत्पन्न होती है। और जहाँ अन्तःकरण नही है, वहाँ चेतनके आभासके न पडनेके कारण केवल सामान्य-चेतन तो है, किन्तु विशेष-चेतना उत्पन्न नही होती।

इसलिए जहाँ, अन्तःकरणके होनेसे उसमे आभासके कारण विशेष-चेतना उत्पन्न होती है, उसे लोकमे **चेतन** कहते है और जहाँ अन्तःकरण न होनेके कारण आभास के अभावसे विशेष-चेतना उत्पन्न नही होती, उसे **जड़** कहते है। इसलिए आभास-सहित-अन्तःकरण-**विशिष्ट**-चेतन **प्रमाता** (जीव) है और आभास-सहित-अन्तःकरण-**उपहित**-चेतन **साक्षी** है, यह जो आभास-वाद है वही श्रेष्ठ माना जाता है।

हे शिष्य! जैसे तुमने आभास-वादानुसार अन्तःकरण को आभास-सहित सुना, इसी प्रकार जो अन्त करणकी वृत्ति ज्ञेय वस्तु तक पहुँचती है, वह भी आभास-सहित ही होती है। उस आभास-सहित वृत्तिसे विशिष्ट-चेतनको **प्रमाण-चेतन** कहते है। वह साभास-वृत्ति जब ज्ञेय ( जानने योग्य ) वस्तुके आकारको धारण कर लेती है, तब उस ज्ञेय वस्तु के आकारवाली आभास-सहित-वृत्तिसे विशिष्ट-चेतनको **प्रमा-चेतन**, **प्रमिति-चेतन** अथवा **यथार्थ-ज्ञान** भी कहते है।

किन्तु यह जो मैंने तुझे प्रमा-चेतन अर्थात् यथार्थ-ज्ञानका प्रकार वतलाया है, वह वाहरके पदार्थोके प्रत्यक्षके वारेमे ही है। क्योकि जव वाहरके पदार्थोका ज्ञान करना होता है, तभी वृत्ति ज्ञानेन्द्रियोके साथ वाहर निकला करती

है। किन्तु जब शरीरके अन्दर ब्रह्म-स्वरूप आत्माका प्रत्यक्ष करना होता है, तब अन्त:करणकी वृत्ति बाहर नही निकलती, अपितु शरीरके अन्दर ही वृत्ति आत्माकार हुआ करती है। अर्थात् उस समय वह वृत्ति आत्माके आश्रित अज्ञान को ही केवल दूर करती है और आत्मा स्वयम्प्रकाश होनेके कारण अनावृत होनेपर अपने आप प्रकाशमान होता है। अर्थात् जैसे जड वस्तुओके ज्ञानमे पहिले वृत्ति अज्ञानको नष्ट करती है, फिर वृत्तिमे आया हुआ चिदाभास उस वस्तुको जनवाता है, वैसे आत्माके ज्ञानमे नही होता। वहाँ तो जिस क्षणमे वृत्ति अज्ञानको नष्ट करती है, उसी क्षण आत्माका अपने आप प्रकाश होने लग जाता है, अर्थात् उसे प्रकाशित करने (जनवाने) के लिए चिदाभास की कोई आवश्यकता नही है, क्योकि आत्मा स्वय-प्रकाश है। इसी दृष्टिसे शास्त्रमे कहा है कि आत्म-ज्ञानमे वृत्ति-व्याप्ति तो होती है, अर्थात् वृत्ति अज्ञानको नष्ट तो करती है, किन्तु फल-व्याप्ति नही होती अर्थात् जैसे दर्पणमे आया हुआ सूर्यका आभास सूर्यको प्रकाशित नही करता उसी प्रकार वृत्तिमे आया हुआ चिदाभास आत्माको प्रकाशित नही करता।

हे शिष्य! ब्रह्मस्वरूप साक्षी (आत्मा) का, स्वय-प्रकाश-रूपसे भान (प्रत्यक्ष) किस प्रकार होता है, यह तो अब तुम्हारी समझमे आगया होगा।

शका — भगवन्! आपने तो यह कहा कि ब्रह्मरूप आत्माके प्रत्यक्ष-दर्शनके लिए वृत्ति इन्द्रियो द्वारा बाहर नही

निकलती किन्तु जब अन्तर्मुख हो कर अज्ञानको तोड करके ब्रह्मको निरावरण कर लेती है, तब उसी स्वय-प्रकाश ब्रह्मका स्वय (अपने आप) ही भान होता है।

परन्तु पुराणोमे तो भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तथा श्रीकृष्णचन्द्रजी इत्यादि अवतारोका ब्रह्मरूपसे वर्णन आया है और जब राम-कृष्ण-आदिकोके शरीर ब्रह्मरूप थे, तो उनके दर्शनके लिये आँख इत्यादि इन्द्रियोकी सहायता मानना आवश्यक है, फिर आप कैसे कहते हैं कि ब्रह्म-दर्शनके लिए वृत्तिके अन्तर्मुख होनेकी आवश्यकता है, न कि इन्द्रियोकी ?

**उत्तर :**— हे शिष्य ! पुराणोमे जो रामकृष्णादिकोका ब्रह्मरूपसे वर्णन आया है, वह उनके शरीरोकी दृष्टिसे नहीं किन्तु उनके असली स्वरूप (अधिष्ठान) शुद्ध-चेतनकी दृष्टिसे ही आया है।

**शका** — भगवन् ! यो तो सभीका असली स्वरूप (अधिष्ठान) शुद्ध चेतन ब्रह्म है अर्थात् अधिष्ठानकी दृष्टिसे तो सारा ससार [मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी] ब्रह्म-स्वरूप है, फिर रामकृष्णादिकोमे और हम साधारण प्राणियोमे अन्तर ही क्या हुआ ? यदि कोई अन्तर नही है तो पुराणोमे जैसे रामकृष्णादिकोका ब्रह्मरूपसे वर्णन आया है, वैसे उनके साथ रहनेवाले और प्राणियोका भी ब्रह्मरूपसे वर्णन क्यो नही आया ? इसलिए यह मानना चाहिये कि रामकृष्णादिकोके शरीर ही ब्रह्मरूप थे।

**उत्तर** — हे शिष्य ! ब्रह्मका तो कभी अन्त होता ही नहीं

है। वेदने भी कहा है "**सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म**" अर्थात् ब्रह्म सत् है, ज्ञान-स्वरूप है और अनन्त है अर्थात् उसका कभी अन्त ही नही होता। इसलिये रामकृष्णादिकोके शरीर ही यदि ब्रह्म होते तो उनका कभी अन्त नही होता। और–

**"भिद्यते हृदय-ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व-संशयाः।**
**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥"**

(मु०उ०२।२।८)

यह श्रुति भी कहती है —"उस परावर ब्रह्मका साक्षात्कार करलेनेपर, इस ब्रह्म-ज्ञानीके हृदयकी ग्रन्थि टूट जाती है, सारे सशय कट जाते है, तथा समस्त कर्म क्षीण हो जाते है।"

इस वेदके कथनानुसार, ब्रह्मके दर्शनके बाद तो सभी सशय नष्ट हो जाते है और कृष्णादिकोके शरीर ही यदि ब्रह्म होते, तो अर्जुनादिकोको उनके दर्शनके बाद, सशय न रहते। और सभी लोग उनके शरीरोके देखने मात्रसे ही ब्रह्म-ज्ञानी बन जाते, फिर गीता इत्यादि सुनानेकी कोई आवश्यकता ही न थी। किन्तु भगवान्‌ने गीता इत्यादिका उपदेश, ब्रह्म-ज्ञान करवानेके लिए अर्जुनको अपने श्रीमुखसे ही किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि रामकृष्णादिकोके शरीर ब्रह्मरूप नही थे।

**शका**:— भगवन्! वेदान्त-मतमे तो "**सर्वं खल्विद ब्रह्म**" अर्थात् यह सब (सारा ससार) ब्रह्मरूप है। यदि सारा ससार ब्रह्मरूप है तो फिर रामकृष्णादिकोके शरीर ब्रह्म-रूप कैसे नही है?

**उत्तर**:— हे शिष्य! वेदान्तने जो सारे ससारको

ब्रह्म-रूप कहा है वह नाम-रूपका बाध करके अर्थात् नाम-रूपको मिथ्या सिद्ध करके और अधिष्ठान शुद्ध चेतनको लक्ष्य करके ही कहा है।

जैसे किसी सर्राफके पास यदि शुद्ध सोनेका बना हुआ चूहा और ताँबे मिश्रित सोनेका बना हुआ गणेश लेजाकर यह पूछा जाय कि इन दोनोमे किसका मूल्य अधिक है ? तो वह सर्राफ चूहेका ही मूल्य अधिक बताएगा। यदि उससे पूछा जाय कि गणेशको आपने चूहेसे कम कैसे बताया ? तो वह उत्तर देगा "मूल्य बतलाते समय मेरी दृष्टि गणेश और चूहेपर नही थी, किन्तु केवल सोनेपर ही थी अर्थात् उस समय मैं गणेश और चूहेके नाम-रूपोका बाध करके केवल उनके अधिष्ठान सोनेको ही देख रहा था।" इसी प्रकार वेदान्ती (ब्रह्म-ज्ञानी) भी जब यह कहता है "यह सारा ससार ब्रह्म है" तब यह समझना चाहिये कि वह ससारके नामरूपको बाधकर व ससारके अधिष्ठान शुद्ध चेतन ब्रह्मको लक्ष्य करके ही कह रहा है।

इस प्रकार हे शिष्य ! यदि तुम राम-कृष्णादिकोके शरीरोका बाध करके, फिर ब्रह्म कहोगे तो भी ठीक नही, क्योकि यों तो सभी शरीर नामरूपका बाध करके ब्रह्म कहला सकते है। यदि विना बाध किये ही राम-कृष्णादिकोंके शरीरोको ब्रह्म कहोगे तो भी ठीक नही है, क्योकि दूसरोंके शरीरोकी तरह हाथ पाँव आदि अवयवों वाले, रूपवाले, व क्रियावाले शरीरका निरवयव, नीरूप,

अक्रिय ब्रह्मसे अभेद नही बन सकता ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि राम-कृष्णादिक अवतारोके शरीर ब्रह्म-रूप नही होते किन्तु मायिक ही ( मायासे रचे हुए ही ) होते है। और पुराणोमे जहाँ राम-कृष्णादिको की ब्रह्म-रूपताका वर्णन आया है, वहाँ शरीरका तो नाम ही नही है। इसलिए यह समझना चाहिये कि पुराणोका अभिप्राय राम-कृष्णादिकोके असली स्वरूपको ब्रह्म बतलानेमे है, न कि उनके शरीरोको ।

**शंका** :— प्रभो ! आपकी कृपासे यह तो समझमे आगया कि राम-कृष्णादिकोके शरीर ब्रह्म नही थे। किन्तु यह शका तो मेरी रह ही गई कि जैसे कृष्णादिकोके शरीर ब्रह्म-रूप नही थे, वैसे उनके साथ रहनेवालोके भी शरीर ब्रह्म-रूप नही थे, फिर पुराणोने ऐसी क्या विशेषता देखी कि जो कृष्णादिको का तो ब्रह्म शब्दसे वर्णन किया और दूसरोका ब्रह्म शब्दसे वर्णन नही किया ?

**उत्तर** —हे शिष्य ! राम-कृष्णादिकोके शरीर तो अवतारी-शरीर थे और दूसरोके अवतारी-शरीर नही थे। इसी विशेषताको लक्ष्य करके ही, पुराणोने राम-कृष्णादिकोका ब्रह्म-शब्दसे कीर्तन किया है ।

**शंका** — भगवन् ! अवतारी-शरीरमे और साधारण प्राणियोके शरीरोमे कोई भेद तो दीखता ही नही है, फिर हम कैसे समझें कि कृष्णादिकोके शरीर तो अवतारी थे और अर्जुनादिकोके शरीर अवतारी नही थे ?

**उत्तर** — हे शिष्य ! यह तो कोई नियम नही है कि

जहाँ तुम्हे कोई भेद नही दीखता है वहाँ भेद है ही नही, क्योकि ऐसे भी कई स्थल होते हैं, जहाँ भेद होता हुआ भी नही दीखता। जैसे हम ऊचे मकानके ऊपर हरे रगका बडा हजार वॉट्स (Wotts) का गोल बल्ब जलता हुआ देखते हैं, तो वह हमे चन्द्रमाकी तरह चमकता हुआ नजर आता है। दिखनेमे तो वह गोल, हरा बल्ब और चन्द्रमा दोनो एक जैसे और एक जितने ही होते है, किन्तु वास्तवमे उन दोनो मे महान् अन्तर है। ठीक इसी प्रकार अवतारी पुरुषोंके शरीर व साधारण पुरुषोके शरीर दिखनेमे तो एक जैसे ही हैं, किन्तु वास्तवमे उनमे महान् भेद है।

**शंका :—** भगवन् ! अवतारी शरीरोमे और साधारण शरीरोमें क्या भेद है यह कृपा करके बतलाइये ?

**उत्तर :—** हे अनघ ! उनमे प्रधानतया तीन प्रकारका भेद है। (१) जीवोके शरीर अपने पूर्व-जन्मोमे किये हुए पुण्य-पाप कर्मोंके ( प्रारब्ध-कर्मोंके ) फल हैं (२) वे पाँच भूतोके कार्य है और (३) जीवोको शरीर-स्त्री-पुत्रादिक अनात्म-पदार्थोंमे अज्ञानके कारण, अह-मम-अध्यास अर्थात् मैं और मेरे-पनकी भ्रांति रहती है और वह भ्रांति गुरुके उपदेशसे आत्म-ज्ञान होनेके बाद ही नष्ट होती है।

किन्तु **राम-कृष्णादिकोके शरीर** अपने ( पूर्व जन्मोमे किए हुए ) कर्मोके फल नही हैं, क्योकि उनका पूर्व-जन्म तो शास्त्र कहता ही नही है। जब उनका पूर्व-जन्म था ही नही, तो फिर उन्होने कब कर्म किये जिन कर्मोके फलस्वरूप उनके शरीर माने जाएँ।

**शङ्का :—** भगवन् ! यदि राम-कृष्णादिकोके शरीर उनके अपने कर्मोंके फल नही है, तो फिर उन शरीरोकी उत्पत्ति कैसे हुई । क्योकि हम देखते है कि विना किसी कारणके कोई कार्य वनता ही नही है तो फिर उनके शरीरोकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? क्योकि वेदान्तका यह सिद्धान्त है कि ज्ञानियोके कर्म नष्ट हो जाते है, इसलिए उन्हे आगे शरीर नही मिलता, उनके प्राण यही लीन हो जाते है, अर्थात् वे मुक्त हो जाते है । तो भगवन् ! इस सिद्धान्तसे यह समझमे आता है कि शरीर विना कर्मोंके नही मिलता, अर्थात् सव शरीर कर्मोंके ही फल है । ऐसी दशामे यदि राम-कृष्णादिको के शरीर अपने कर्मोंके फल नहीं है, तो फिर किन कर्मोंके फल हैं, यह कृपा करके वतलाइये ।

**उत्तर —** हे शिष्य ! कर्म-विज्ञान हमे यह वतलाता है कि सुख पुण्य-कर्मोका फल और दु ख पाप-कर्मोका फल है । विना पुण्य-पापके किसीको, कभी सुख दु'ख नही मिल सकते । और हम देखते है कि अवतारोके शरीरोंमे साधु पुरुषोको (सत् पुरुषोको) तो सुख मिलता है और दुष्टोको दु ख मिलता है । जो शरीर जिनके सुख-दु'खका हेतु होता है, वह शरीर उनके पुण्य-पापसे वना हुआ माना जाता है । इसलिए —

(१) अवतारोके शरीर साधु-पुरुषोंके (सज्जनोंके) सुखके हेतु होनेके कारण, उन साधु-पुरुषोके पुण्य कर्मोंके फल है । और

(२) असुरादिक असाधु-पुरुषोंके (दुष्टोंके) दु खके हेतु

होनेके कारण, उन दुष्ट पुरुषोंके पाप कर्मोंके फल हैं अर्थात् राम-कृष्णादिकोंके शरीर अपने पुण्य-पाप कर्मोंके फल नही हैं, क्योकि उनको कभी अपने शरीरसे स्वयको सुख दुःखका भोग नही माना जाता। इससे यह सिद्ध हुआ कि साधु-असाधु पुरुषोके सुख-दु.खके हेतु होनेके कारण अवतारी शरीर उन साधु-असाधु पुरुषोके पुण्य-पाप कर्मोंके ही फल हैं।

**शंका :—** भगवन्! यह तो समझमे आगया कि अवतारोंके शरीरोंसे सज्जनोको सुख और दुष्टोको दु.ख मिलता है, इसलिए वे उनके पुण्य-पाप कर्मोंके ही फल हैं। किन्तु यह जो आपने कहा कि उनको स्वय सुख-दुःख नही मिलता है, इसलिए उनके शरीरोमे उनके अपने कोई पुण्य-पाप कर्म कारण नही पडते, यह समझमे नही आया, क्योकि रामायण आदि ग्रन्थोमे श्रीरामचन्द्र आदि अवतारी पुरुषोके बनवास आदि दुःखोका वर्णन आया है। फिर आप कैसे कहते हैं कि अवतारी पुरुषोको स्वयको कोई सुख-दुःख नही होता?

**उत्तर :—** हे शिष्य! यदि कोई रामलीलाके नाटकका सचालक, स्वय श्रीरामचन्द्रजीका अभिनय ( ऐक्टिङ्ग ) करते समय लक्ष्मणको भाई कहता है, सीताके चुराये जानेपर दुःख प्रकट करता है और रावणको शत्रुकी तरह मारता है, तो इस प्रकार वह राम-वेष-धारी वहाँ खेलमे बनवास जानेपर, सीताके चुराये जानेपर, अथवा रावणको मार करके सीताको लेकर, अयोध्यामे राज-सिंहासनपर बैठना इत्यादि अभिनय करते समय, क्या वास्तवमे सुखी दु खी होता है?

**शिष्य :—** भगवन्! उस राम-वेष-धारी पुरुषको अभिनय

करते समय तो सुख-दु ख इसीलिए नही होते क्योकि वह उस सारे रामलीला खेलको केवल अभिनय-मात्र (लीला-मात्र) ही समझता है और उन सीता-लक्ष्मण-आदि अभिनायकोसे (पार्ट लेनेवालोसे) वह अपना वास्तविक सम्बन्ध नही समझता ।

**गुरुजी**'— हे शिष्य ! बस इसी प्रकार श्रीरामचन्द्र-आदि अवतार भी अपने सभी कार्योको लीला-मात्र (अभिनय-मात्र) ही समझते है । केवल अपनी मर्यादा-द्वारा दूसरोको मर्यादा सिखानेके लिए ही वे व्यवहार करते हैं, न कि किसीसे अपना वास्तविक सम्बन्ध समझकर । क्योकि यह नियम है कि जहाँ वास्तविक सम्बन्ध माना जाता है, वहाँ मोह अवश्य उत्पन्न होता है और मोह उत्पन्न होनेसे, दूसरे विकार उत्पन्न होकर पुरुषको अपनी मर्यादासे गिरा देते हैं। किन्तु श्रीरामचन्द्र आदि तो मर्यादा-पुरुषोत्तम कहलाते है, अर्थात् उन्होने तो हमे मर्यादाका पाठ पढाया है । इससे यह सिद्ध होता है कि उनका किसीमे मोह नही था और व्यवहार करते समय किसीसे वास्तविक सम्बन्ध नही समझते थे, इसलिए उनको व्यवहार करते समय कोई सुख दु.ख नही होता था ।

यह तो तुमने ऊपर सुना ही था कि अवतारोके शरीर साधु-असाधु-पुरुषोके पुण्य-पाप कर्मोसे ही बनते है, इसलिए उनके शरीरोसे सज्जनोको सुख और दुष्टोंको दु ख मिलता है । अत यदि श्रीरामचन्द्रजी वनमे जाना इत्यादि लीला (अभिनय) न करते, तो महात्मा, तपस्वी आदि साधु जनोको वनमे दर्शन इत्यादिका सुख कैसे मिलता ? और जो दुष्ट-जन महात्माओको दु ख देते थे, उनको दु ख कैसे मिलता

अर्थात् वे कैसे मारे जाते ? यदि रावण-द्वारा सीता-हरण आदि लीला ( अभिनय ) न रचते तो रावण आदि दुष्ट-जनोंका ( अपने अभिमानमे आकर दूसरोको दुःख देनेवालोका ) नाश किस वहाने करते, क्योकि बिना किसी कारणके किसीको दण्ड देना भी तो मर्यादाके विरुद्ध है।

हे शिष्य ! इससे यह सिद्ध हुआ कि अवतारी पुरुषोका जितना भी व्यवहार है, वह केवल लीलामात्र ( अभिनय-मात्र ) ही है और उनके व्यवहारसे उन्हे कोई सुख-दुःख नही होता, किन्तु सज्जनोको सुख और दुष्टोको दुःख मिलता है। इसलिए उनके शरीर उनके अपने पुण्य-पाप कर्मोंके फल-स्वरूप नही है किन्तु साधु-पुरुषोके पुण्य कर्मोंके तथा दुष्ट-पुरुषोके पाप कर्मोंके ही फल-स्वरूप है।

(२) जैसे साधारण पुरुषोके शरीर पाँच भूतोके कार्य होते है, वैसे रामकृष्णादिकोके शरीर पॉच भूतोके कार्य नही माने जाते, अर्थात् साधारण पुरुषोकी तरह अवतारो के हाड, माँस, रक्त आदि सात धातुओके वने हुए शरीर नही होते, किन्तु चेतनके आश्रित मायाके ही साक्षात् परिणाम ( कार्य ) होते हैं। क्योकि यदि पचीकृत-भूतोके परिणाम होते, तो कृष्णचन्द्रजीके शरीरको जब माता यशोदा बाँधने लगी तब वे बाँधने मे आ जाते, फिर जब अपनेको स्वय अपनी लीलासे बँधवा लिया, तो फिर विना छुडाये नही छूटते। किन्तु श्रीमद्भागवतमे आया है कि वे उस समय दो ऋषियोंको वृक्ष-योनिसे मुक्त करके, फिर अपने आप

ही विना छुडाये छूट गए। इससे यह सिद्ध होता है कि उनका शरीर पाँच-भौतिक नही था, किन्तु मायिक ( सकल्प से खडा किया हुआ ) था। भगवान्ने स्वय गीतामे कहा है :—

**"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।**
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम् ॥४-७॥"**

अर्थात् जब जब वर्णाश्रम-धर्मावलम्बियोके अभ्युदय और निःश्रेयस ( मोक्ष ) के हेतु वैदिक धर्मका ह्रास होता है, तब तब मैं धर्म-रक्षण और अधर्म-विनाशके योग्य शरीर को धारण करता हूँ।

और आगे ८ वे श्लोकमे ऊपर कही हुई बातको पुष्ट करते हुए कहा है —

**"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।**
**धर्म-सस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥"**

अर्थात् सज्जनोकी रक्षाके लिए, असज्जन पापियोके विनाशके लिये और धर्मकी स्थापनाके लिये मैं प्रत्येक युग मे अवतार लेता हूँ अर्थात् प्रकट होता हूँ।

आगे (९) श्लोकमे

**"जन्म कर्म च मे दिव्य-मेव यो वेत्ति तत्त्वत।**
**त्यक्त्वा देह पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥"**

अर्थात् 'हे अर्जुन! मेरा जन्म ( प्रकट होना ) और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है। इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है, वह शरीरको त्याग कर फिर जन्मको प्राप्त नही होता किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है।"

इस श्लोकमे भगवान्‌ने अपने जन्मको दिव्य कह कर यह सिद्ध किया है कि उनका शरीर साधारण प्राणियोकी तरह पाँच-भौतिक नही है किन्तु अलौकिक है, अर्थात् मायिक ( केवल मायासे खडा किया हुआ ) है।

इस बातको स्पष्ट शब्दोमे अपने श्रीमुखसे पहिले ही चौथे अध्यायके (६) श्लोकमे समझाते हुए भगवान् कहते हैं :—

**"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।**
**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्म-मायया ॥६॥"**

अर्थात् मेरा जन्म प्राकृत ( साधारण ) मनुष्योके सदृश नही है। मैं अविनाशी स्वरूप, अजन्मा ( जन्म-रहित ) होते हुए भी तथा समस्त भूत प्राणियोका ईश्वर होनेपर भी, अपनी त्रिगुणात्मिका मायाको अपने वशमे करके, **अपनी योग-मायासे** ( लीलासे ) शरीरधारीकी तरह जन्म लेनेके सदृश प्रकट होता हूँ। अन्य लोगोकी तरह वास्तव में जन्म नही लेता।" इस श्लोकसे तो भगवान्‌ने स्पष्ट कर दिया है कि उनका जन्म लेना अर्थात् शरीर धारण करना, मायिक है वास्तविक ( पाँच-भौतिक ) नही है।

**शका** — भगवन् ! तो फिर जो अवतारी पुरुष है, उनके शरीर मायिक होनेके कारण उनपर भौतिक-पदार्थों का असर भी नही होता होगा ?

**उत्तर :—** हाँ ! उनके शरीरोपर भौतिक पदार्थोका असर नही होता है। जैसे रज्जु-बन्धन तथा कस-द्वारा भेजी हुई दूतीके स्तन-पान करते समय उनपर विषका असर नही हुआ था। जैसे युद्धमे अर्जुनका जो मायिक रथ था,

उसको पहिले कई अग्नि-बाण इत्यादि लगे किन्तु नही जला और युद्ध समाप्त होते ही सकल्प समाप्त होनेपर अपने आप ही जल गया, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी अथवा श्रीकृष्णचन्द्रजीको युद्धमे कभी कोई घाव इत्यादि नही हुए और फिर सकल्प पूरे होनेपर श्रीकृष्णजीने एक बाणकी लीला-मात्रसे ही शरीरको छोड दिया। इत्यादि कई उदाहरणों से सिद्ध होता है कि उनका शरीर भौतिक नही था, किन्तु मायिक (सकल्प-मात्र) ही था।

जैसे सृष्टिके आदिमे जब प्राणियोके कर्म अपना भोग देनेके लिये सम्मुख होते है, तब माया-विशिष्ट-चेतन आप्तकाम ईश्वरमे भी प्राणियोके कर्मोंके अनुसार "मै जगत्की उत्पत्ति करूँ" ऐसा सकल्प होता है। इस सकल्पसे जगत्की सृष्टि (उत्पत्ति) होती है। वैसे सृष्टिके बाद भी "मैं जगत्का पालन करूँ" अर्थात् सबको अपने अपने कर्मोंके अनुसार सुख-दुःख मिले, ऐसा ईश्वरका सकल्प होता है। उस पालन-सकल्पके बीचमे, उपासक पुरुषोकी उपासनाके बलसे ईश्वरको ऐसा सकल्प होता है कि "रामकृष्णादिक नाम-सहित मूर्ति सबको प्रतीत हो" उस ईश्वरीय सकल्पसे विशेष नाम-रूप-रहित ईश्वरमे रामकृष्णादिक नाम-सहित पीताम्बरधर श्यामसुन्दर आदि विग्रहरूपकी उत्पत्ति होती है। वह विग्रह केवल माया-मात्र (सकल्प-मात्र) ही होता है। उस विग्रह (मूर्ति) का दर्शन वास्तवमे मायाका ही दर्शन है। मोक्ष-धर्ममे भी कहा है :—

**"माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ।
सर्व-भूत-गुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि ॥"**

अर्थात् हे नारद ! सब भूत-गुणोसे युक्त जिस मुझको तुम देखते हो, यह तो मेरी रची हुई माया है, मुझे तो तुम इन चर्म-चक्षुओसे देख ही नही सकते । अर्थात् जो मैं तुम्हे शरीर-रूपसे दिख रहा हूँ, यह मेरा दर्शन नही किन्तु मेरी मायाका ही दर्शन है ।" इससे भी भगवान्‌ने अपने अवतारी शरीरको **मायिक शरीर** ही सिद्ध किया है ।

तथा अध्यात्म-रामायणके बालकाण्डके प्रथम सर्गमे शिवजी पार्वतीजीसे कहते है :—

**"अत्र ते कथयिष्यामि रहस्यमपि दुर्लभम् ।
सीता-राम-मरुत्सूनु-सवादं मोक्ष-साधनम् ॥२५॥**

**अर्थः**— हे पार्वति ! इस विषयमे मैं तुम्हे सीता, राम और हनुमान्‌जीका मोक्षका साधनरूप सवाद सुनाता हूँ जो अत्यन्त गोपनीय और परम दुर्लभ है ॥२५॥ पूर्वकालमे रामावतारके समय जब श्रीरामचन्द्रजी देवताओके कण्टकरूप रावणको सन्तान, सेना और वाहनो के सहित युद्धमे मारकर सीता, सुग्रीव और लक्ष्मणके सहित हनुमान् आदि वानरोसे घिरे हुए अयोध्यापुरीमे आए ॥२६-२७॥ और वहाँ आकर राज्याभिषेक होनेपर वशिष्ठ आदि महात्माओसे घिरकर करोड़ो सूर्योकी प्रभा धारणकर जव सिंहासनपर विराजमान हुए ॥२८॥ उस समय जो सेवाके समस्त कार्य कर चुका है और उनका कोई वदला नही चाहता है ऐसे भोगेच्छा-रहित महामति हनुमान्‌जीको

**ज्ञानाभिलाषासे** अपने सम्मुख हाथ जोडे खडे देखकर श्रीरामचन्द्रजीने सीताजीसे ऐसा कहा—"सीते ! यह हनुमान् हम दोनोमे अत्यन्त भक्ति रखता है और निष्पाप है, अत एव **ज्ञानका सुयोग्य पात्र है। अत तुम इसे मेरे तत्त्वका उपदेश करो"** ॥२९-३०॥ तव लोक-विमोहिनी जनक-नन्दिनी सीताजी श्रीरामचन्द्रजीसे 'वहुत अच्छा' कहकर शरणागत हनुमान्को भगवान् रामका निश्चित तत्त्व वताने लगी ॥३१॥

**राम विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्द-मद्वयम् ।**
**सर्वोपाधि-विनिर्मुक्तं सत्ता-मात्र-मगोचरम् ॥३२॥**
**आनन्द निर्मल शान्त निर्विकार निरञ्जनम् ।**
**सर्व-व्यापिन-मात्मानं स्वप्रकाश-मकल्मषम् ॥३३॥**

सीताजीने कहा—"वत्स हनुमन् ! तुम रामको अद्वितीय सच्चिदानदघन परब्रह्म समझो, ये नि.सदेह समस्त उपाधियो से रहित, सत्तामात्र, मन तथा इन्द्रियोके अविषय, आनन्दघन, निर्मल, शान्त, निर्विकार, निरञ्जन, स्वयप्रकाश और पापहीन सर्वव्यापक आत्मस्वरूप है ॥३२-३३॥

**मा विद्धि मूल-प्रकृति सर्ग-स्थित्यन्त-कारिणीम् ।**
**तस्य सन्निधि-मात्रेण सृजामीद-मतन्द्रिता ॥३४॥**

और मुझे ससारकी उत्पत्ति, स्थिति और अन्त करने-वाली मूल-प्रकृति जानो। मै ही निरालस्य होकर उनकी सन्निधि-मात्रसे इस विश्वकी रचना किया करती हूँ ॥३४॥

**तत्-सान्निध्यान्-मया सृष्ट तस्मिन्नारोप्यतेऽबुधै ।**
**अयोध्या-नगरे जन्म रघुवशेऽतिनिर्मले ॥३५॥**

इनकी सन्निधि-मात्रसे की हुई मेरी रचनाको वुद्धि-हीन

लोग इनमे (ब्रह्मस्वरूप राममे) आरोपित कर लेते हैं। अत एव, अयोध्यापुरीमे अत्यन्त पवित्र रघुकुलमे इनका जन्म लेना ॥३५॥ फिर विश्वामित्रजीकी सहायता करना, उनके यज्ञकी रक्षा करना, अहल्याको शापमुक्त करना, श्रीमहादेवजीके धनुषको तोडना ॥३६॥ तत्पश्चात् मेरा पाणि-ग्रहण करना, परशुरामजीका गर्व-खण्डन करना तथा बारह वर्षतक मेरे साथ अयोध्यापुरीमे रहना ॥३७॥ फिर दण्डकारण्यमे जाना, विराधका वध करना, माया-मृगरूप मारीचका मारा जाना, मायामयी सीताका हरा जाना ॥३८॥ तदनन्तर जटायु और कबन्धका मुक्त होना, शबरी-द्वारा भगवान्का पूजित होना और सुग्रीवसे मित्रता होना ॥३९॥ फिर बालिका वध करना, सीताजीकी खोज करना, समुद्रका पुल बँधवाना और लङ्कापुरीको घेर लेना ॥४०॥ तथा पुत्रोके सहित दुरात्मा रावणको युद्धमे मारना एव विभीषणको लङ्काका राज्य देकर पुष्पक-विमान-द्वारा मेरे साथ अयोध्या लौट आना, फिर श्रीरामजीका राज्यपदपर अभिषिक्त होना ॥४१॥

**एवमादीनि कर्माणि मयैवाऽऽचरितान्यपि ।**
**आरोपयन्ति रामेऽस्मिन्निर्विकारेऽखिलात्मनि ॥४२॥**

इस प्रकारके समस्त कर्म यद्यपि मेरे (माया-द्वारा) ही किए हुए है तो भी अज्ञानी लोग उन्हे इन निर्विकार सर्वात्मा परब्रह्म राममे आरोपित करते है ॥४२॥

**रामो न गच्छति न तिष्ठति नानुशोच-**
**त्याकांक्षते त्यजति नो न करोति किञ्चित् ।**

**आनन्द-मूर्ति-रचल परिणाम-हीनो**
**माया-गुणाननुगतो हि तथा विभाति ॥४३॥**

ये ( अधिष्ठानरूप ) राम तो [वास्तवमे] न चलते हैं, न ठहरते हैं, न शोक करते है, न इच्छा करते हैं, न त्यागते है और न कोई अन्य क्रिया ही करते है। ये आनन्दस्वरूप, अविचल और परिवर्तनसे रहित हैं, केवल मायाके गुणोमे व्याप्त होनेके कारण ही ये वैसे ( नामरूपादिक प्रपञ्चके रूपमे ) भासते है अर्थात् ये ( ब्रह्मरूप राम ) स्वरूपत निर्विकार व निराकार होते हुए भी जिन जिन मायाके गुणोमे विशेपरूपसे प्रवेश करते हैं अर्थात् वे सामान्य-चेतन जव जिन जिन मायाके गुणोसे मिल कर विशेप-चेतनरूपसे प्रकट होते हैं तव उस उस रूपसे भासते हैं अर्थात् प्रतीत होते हैं ॥४३॥"

माता सीताजीके इस कथनसे भी सिद्ध होता है कि जो रामकृष्णादिक अवतारी पुरुषोके शरीर दीखते है, वे सव मायिक हैं अर्थात् माया-मात्र हैं तथा साधारण प्राणियोकी तरह पाँचभौतिक नही है।

भाष्यकार श्रीस्वामी शकराचार्यजीने भी गीता-भाष्यमे लिखा है :—"जीवोपर अनुग्रह करके, शरीर-धारीकी तरह मायाके वलसे, परमात्मा कृष्णरूपमे प्रतीत होते है। वे जन्मादिक-रहित है। उनका वसुदेव-द्वारा देवकीसे जन्म भी मायासे ही प्रतीत होता है।" इस प्रकार श्रीभाष्यकारने भी कृष्ण-शरीरको मायाका कार्य कहा है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि पाँच भूतोमे अवतारोके शरीरो की उत्पत्ति नही होती, किन्तु उनके शरीरोका उपादान-करण

साक्षात् माया है ।

(३) जैसे जीवोको शरीरादिक अनात्म-पदार्थोमे 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं यज्ञदत्त हूँ' इस प्रकार **आत्म-भ्राँति** होती है, वैसे रामकृष्णादिक अवतारोंको नही होती । क्योकि जीवोकी उपाधि जो अविद्या है, वह **मलिन-सत्त्व-गुणवाली** है, और रामकृष्णादिक अवतारोकी उपाधि जो माया है वह **शुद्ध-सत्त्व-गुणवाली** है । इसलिए जीवोको अविद्या (अज्ञान) के कारण भ्राति और रामकृष्णादिकोको मायाके कारण सर्वज्ञता होती है ।

और जैसे जीवोको अज्ञानसे उत्पन्न हुए आवरणको ( ब्रह्मका न तो भान होता है और न वह है ही, इस अज्ञानके पर्देको ) और शरीर-स्त्री-पुत्रादिकोमे 'मैं और मेरेपन' की भ्रान्तिको नष्ट करनेके लिए, गुरुसे महावाक्यके उपदेश-द्वारा आत्म-ज्ञान प्राप्त करनेकी आवश्यकता है, वैसे रामकृष्णादिकोको आवरण और भ्राँतिको नष्ट करनेके लिए गुरु-द्वारा महावाक्यके उपदेशसे जन्य ज्ञानकी आवश्यकता नही है । क्योकि उनको अज्ञान न होनेके कारण आवरण और भ्राँति ही नही होती, जिनको नष्ट करनेके लिए ज्ञानकी आवश्यकता पडे । उन्हे तो शुद्ध-सत्त्वगुणवाली **मायाकी वृत्तिरूप आत्माका ज्ञान**, उपदेशादिकके बिना स्वत ही सिद्ध होता है ।

और जो श्रीरामचन्द्रजीने श्रीवशिष्ठजीको तथा श्रीकृष्णजीने श्रीसदीपनजीको गुरु माना है, वह केवल लोक-मर्यादाको सिखानेके लिए ही, क्योकि भगवान्‌ने स्वय गीतामे

कहा है :—

**"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्-तत्तदेवेतरो जनः ।**
**स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥३-२१॥"**

अर्थात् "श्रेष्ठ पुरुष जो जो कर्म करता है, दूसरे लोग उसके अनुयायी होकर उस उस कर्मके अनुसार ही आचारण किया करते है। तथा वह श्रेष्ठ पुरुष जिस जिस लौकिक अथवा वैदिक प्रथाको प्रामाणिक मानता है, लोग उसीके अनुसार ही चलते हैं अर्थात् उसीको प्रमाण मानते हैं। और आगे यह भी कहा है :—

**"न मे पार्थास्ति कर्तव्य त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।**
**नाऽनवाप्त-मवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥३-२२॥"**

अर्थात् "हे पार्थ! तीनो लोकोमे मेरे लिए कुछ भी कर्तव्य नही है, अर्थात् मुझे कुछ भी करना नही है, क्योकि मुझे कोई भी अप्राप्त वस्तु प्राप्त नही करनी है तो भी दूसरोको शिक्षा देनेके लिए मैं कर्म करता ही रहता हूँ।"

भगवान्के इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि उन अवतारी पुरुषोको ज्ञान प्राप्त करनेके लिए गुरु आदिकी आवश्यकता नही होते हुए भी दूसरोको मर्यादा सिखानेके लिए उन्होने गुरु आदि किये।

इस प्रकार हे शिष्य! ये जो मैंने तुम्हे साधारण प्राणियोके शरीरोसे अवतारी शरीरोमे प्रधानतया तीन प्रकारकी विशेषताएँ बताई है, ये सब पूर्णरूपसे पूर्ण-अवतारी शरीरोमे ही समझना।

**शंका**.— भगवन् ! क्या अवतार भी कई प्रकारके होते है, जो आप पूर्ण अवतारका नाम ले रहे हैं। यदि अवतार कई प्रकारके होते हैं, तो कृपा करके अवतार शब्दका अर्थ और अवतारोंके भेद बताएँ।

**उत्तर**.— हे शिष्य ! अवतार शब्दका अर्थ है अवतरण होना अर्थात् किन्ही विशेष कलाओके साथ प्रकट होना।

**शंका**:— हे दयालो ! यो तो सभी प्राणियोमे कोई न कोई विशेष कला होती है। हम देखते है कि पशु पक्षियो में भी जन्मसे ही तैरना और उडना आदि कलाएँ मौजूद है। तथा आजकलके वैज्ञानिक लोग ऐसे ऐसे आश्चर्य-जनक कार्य करके दिखाते है, जो साधारण लोग नही कर सकते; तो क्या हम उन्हे भी अवतार माने ?

**उत्तर**.— हे शिष्य ! यद्यपि उनमे विशेष कलाए मानी जाती है; तथापि जिनमे आठ कलाओके अन्दर अन्दर कलाओका विकास होता है, उन्हे साधारण प्राणी कहते है और जिनमे नवसे लेकर सोलह कलाओ तकका विकास होता है उन्हे अवतार कहते है।

अवतार शब्द, **अव** और **तार** इन दो शब्दोसे मिलकर बना है। अवति = रक्षति इति अव.। आर्थात् जो सुखोकी और सुखोके कारण सनातन धर्मकी रक्षा करता है, वह है **अव**। तारयति = ससार-सागरात् पार तारयति इति तार·। अर्थात् जो दुःखोसे तथा दुःखोके कारण अधर्मसे छुडाकर (अधर्म को बढानेवाले दुष्टोका नाश करके) ससार सागरसे जिज्ञासुओको तारता है (ससार सागरसे पारकर देता है)

वह है **तार** ।

उपर्युक्त प्रकारकी विशेष-शक्ति (कला) तो ईश्वरीय अवतारोमे ही होती है, इसलिए उनको ही अवतार कहते हैं ।

हे शिष्य ! वे अवतार प्रधानतया दो प्रकारके होते हैं । (१) **नित्य-अवतार** (२) **नैमित्तिक-अवतार** ।

**नित्य-अवतार** — नित्य अर्थात् सदा ही जिन ईश्वरीय शक्तियोका अवतरण (प्रकट होना) होता रहता है, उन्हें नित्य-अवतार कहते है । वे नित्य-अवतार फिर तीन प्रकार के हैं । (१) प्रेरक-अवतार (२) आवेशक-अवतार (३) उपदेशक-अवतार ।

(१) **प्रेरक-अवतार** :— जो ईश्वरीय-विशेष-शक्ति अलक्षित-रूप (अज्ञातरूप) से सदा हृदयमे शुभ कार्य करनेकी तथा अशुभसे रोकनेकी प्रेरणा करती रहती है, उसे प्रेरक-अवतार कहते हैं । जिसे **आत्म-पुराण** आदि शास्त्रोमे **विवेक** नामसे कहा गया है । क्योकि विवेक सदा हमें शुभ कार्यों मे लगानेके लिये और अशुभ कार्य करते समय अन्दरसे रोकनेके लिए, अव्यक्तरूपसे प्रेरणा करता रहता है । इसलिए उस विवेकरूपसे प्रकट हुई एक प्रकारकी ईश्वरीय-शक्तिको **प्रेरक-नित्य-अवतार** कहते हैं ।

(२) **आवेशक-अवतार** — जो ईश्वरीय-विशेष-शक्ति किसी समय स्थूल शरीरमे आवेश (प्रवेश) करके ऊँची तथा शुभ वातोका उपदेश करती है, उसे आवेशक-अवतार कहते हैं । जैसे यजुर्वेदके बृहदारण्यक उपनिषद्मे लिखा है कि श्रीपतञ्जलि ऋषिकी कन्यामे दिव्य गन्धर्वने आवेश

(प्रवेश) करके सूत्रात्माका वास्तविक स्वरूप बतलाया था। और जैसे ब्रह्माजीके वाहन (सवारी) रूप हँसमे उस विशेष शक्तिने आवेश करके सनकादिकोंको उपदेश दिया था। इसी प्रकार लोकमे भी कभी-कभी देखा जाता है कि किसी की बुद्धि कम होते हुए भी किसी विशेष अनुष्ठानके कारण सरस्वती इत्यादिरूपसे जब उसमे वह ईश्वरीय-दिव्य-शक्ति प्रवेश करती है, तब वह पुरुष गुप्त तथा अलौकिक बाते लोगोको बताने लग जाता है। इसलिए इस प्रकारकी विशेष-शक्तिको **आवेशक-नित्य-अवतार** कहते है।

**उपदेशक-अवतार**:—जो सन्त महात्मा व ऋषि-जन आचार्यरूपसे सत्य मार्गका उपदेश करके तथा स्वय धर्मपर चलकर, साधारण-जन-समूहको अधर्मसे बचाकर, धर्मपर चलाते हैं, वे उपदेशक-नित्य-अवतार कहलाते हैं। जैसे श्रीस्वामी शकराचार्य, श्रीवेदव्यास आदि जो सच्चे संत तथा आचार्य हो गये है, वे सब **उपदेशक-नित्य-अवतार** हैं।

**शका**:— भगवन्! आचार्य भी उन्ही परमात्माकी विशेष शक्तिके ही अवतरण (अवतार) हैं, इसमे कोई शास्त्रका प्रमाण है क्या?

**उत्तर**:— हे शिष्य! शास्त्र कहता है:—

**"परिपक्व-मला ये तानुत्सादन-हेतु-शक्ति-पातेन।**
**योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाऽऽचार्य-मूर्तिस्थः॥"**

अर्थात् वे परमात्मा ही स्वय आचार्यकी मूर्ति धारण करके जिन जिज्ञासुओके मल पक जाते हैं ( कर्म और उपासनासे जिनके पाप कर्म और विक्षेप शिथिल हो जाते

हैं ) उसके जन्म-मरणके कारणरूप पाप-पुण्य कर्मोंको मूल से (अज्ञान-सहित) नष्ट करनेवाली ज्ञान-शक्तिको, दीक्षा (उपदेश) द्वारा देकर, परतत्त्व ब्रह्ममे मिला देते है अर्थात् मुक्त कर देते हैं ।

यह शास्त्र इसमे प्रमाण है कि वे परमात्मा ही स्वय अपनी विशेप-शक्ति-द्वारा आचार्यरूप धारण करके जिज्ञासु-जनोका कल्याण करते है । जब वह ईश्वरीय-विशेप-शक्ति इस प्रकार आचार्य (गुरु) रूपसे प्रकट होती है, तव उसे **उपदेशक-नित्य-अवतार** कहते है । इस प्रकार हे शिप्य ! ये तीन प्रकारके **नित्य-अवतार** मैने तुम्हे वतलाए ।

**शका**:—भगवन् ! नैमित्तिक अवतार किसे कहते हैं और वे कितने प्रकारके है, यह भी कृपा करके वतलाइये ।

**उत्तर**:—हे शिष्य ! जो ईश्वरीय-शक्ति किसी रूपमे किसी निमित्तपर अर्थात् किसी विशेप-कारण-वशात् किसी समय प्रकट होती है, उसे नैमित्तिक अवतार कहते है । जैसे कभी कुछ दुष्ट लोग देवताओके वरदान इत्यादिके कारण इतने प्रवल हो जाते हैं कि वे किसी उपदेश आदि से वशमे नही आते, अर्थात् उनकी दुष्टताके साम्राज्यको वे नित्य-अवतार नही हटा सकते, तव उनका नाश करनेके निमित्त जो ईश्वरीय-विशेप-शक्ति प्रकट होती है, उसे **नैमित्तिक अवतार** कहते हैं । जैसे हिरण्य-कशिपुके नाशके निमित्त नृसिह-अवतार हुए, रावणको नष्ट करनेके लिए श्रीराम और कस इत्यादि दुष्टोको नष्ट करनेके लिए श्रीकृष्णचन्द्र इत्यादि अवतार हुए, वे सब **नैमित्तिक अवतार** कहलाते हैं ।

हे शिष्य ! नैमित्तिक-अवतार भी तीन प्रकारके होते हैं। (१) पूर्ण-अवतार (२) अश-अवतार (३) कला-अवतार।

(१) **पूर्ण-अवतार**:— जो अवतार सोलह कलाओसे सम्पूर्ण हो, उसे पूर्णावतार कहते है—जैसे श्रीकृष्ण भगवान् हुए है।

(२) **अशावतार**:— जो ईश्वरीय-विशेष-शक्ति आठ कलाओसे ऊपर और पन्द्रह कलाओके अन्दर किसी रूपमे प्रकट होती है, उसे **अंश-अवतार** कहते है—जैसे ऋषभदेव, धन्वन्तरि, नारद, परशुराम इत्यादि।

**कलावतार**:— जो ईश्वरीय-विशेष-शक्ति अशावतारोकी अपेक्षा कुछ कम स्वरूपमे प्रकट होती है, उसे कला-अवतार कहते हैं। जैसे ऋषि-गण, मनु-गण, देवता-गण, प्रजापति-गण, इत्यादि जो देवताओके स्वरूपान्तर हैं, उन्हे **कला-अवतार, अशांशी-अवतार** तथा **अमुख्य-अवतार** भी कहते है।

हे शिष्य ! इस प्रकार मुख्यरूपसे मैंने तुम्हे छः प्रकारके अवतार बताए। यो तो शास्त्रोमे कई प्रकारके अवतार बताए गए हैं। जैसे—लीलावतार, विशेषावतार, अवशेषा-वतार इत्यादि। पचोपासनाके अनुसार भी महा-विष्णुके अवतार, महादेवके अवतार, महा-सूर्यके अवतार, महा-शक्तिके अवतार, महा-गणेशके अवतार, इस प्रकार वरुण देवता इत्यादिके, कई प्रकारके अवतार माने जाते है। किन्तु हे शिष्य ! इन सबका वर्णन करनेसे विस्तार हो जायगा। तुम्हे तो इतना समझना चाहिये कि, जब वह ईश्वरीय शक्ति उपासकोकी प्रेरणासे किसी न किसी शरीर इत्यादि

रूपसे प्रकट होती है, तब उस ईश्वरीय-विशेष-शक्तिके प्रकट होनेको **अवतार** कहते है। इसलिए अवतारोके शरीरो मे तथा साधारण प्राणियोके शरीरोमे भेद मानते है और इसी भेदको लक्ष्य करके ही पुराणोने अवतारोका तो ब्रह्म शब्दसे वर्णन किया है व उनके साथ रहनेवाले साधारण प्राणियोका ब्रह्म शब्दसे वर्णन नही किया है। हे शिष्य! अब तुम्हे समझमे आगया होगा कि ये अवतारोके शरीर यद्यपि साधारण प्राणियोके शरीरोसे विलक्षण हैं अर्थात् भौतिक नही किन्तु मायिक (मायाके रचे हुए अर्थात् सकल्प-मात्र) है तथापि वे ब्रह्म नही है।

और वह जो तुमने शका की थी कि– यदि ब्रह्म आँख इत्यादि इन्द्रियोसे नही दिखता है तो फिर रामकृष्णादिक अवतारोके शरीर आँख आदि इन्द्रियोसे कैसे दिखते थे? वह तुम्हारी शका हल हो गई। अब तुम्हे यह समझमे आगया कि वह दर्शन ब्रह्म-दर्शन नही था केवल रामकृष्णा-दिकोके मायिक शरीरोका ही दर्शन था। ब्रह्म-दर्शनके लिए तो वृत्तिको इन्द्रियो द्वारा बाहर निकलनेकी ( बहिर्मुख होनेकी अर्थात् अनात्माकार होनेकी) कोई आवश्यकता नही है, किन्तु जब वृत्ति अन्तर्मुख होकर, अज्ञानको नष्ट करके, ब्रह्मको निरावरण कर लेती है, तब उसी समय उस स्वय-प्रकाश ब्रह्मका अपने आप ही भान ( प्रत्यक्ष ) होता है।

**शका** —भगवन्! ऐसा देखा जाता है कि जब भी किसी विषयका (शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गध आदिका) प्रत्यक्ष होता है, तब उसी समय अन्त करणकी वृत्ति आँख आदि ज्ञान-इन्द्रियो

द्वारा बाहर निकलती है। यदि ज्ञान-इन्द्रियाँ न हो तो प्रत्यक्ष-ज्ञान कभी हो ही नही सकता, क्योकि जिसके आँख आदि इन्द्रियाँ नही हैं उसे रूप आदिका प्रत्यक्ष-ज्ञान भी नही होता है। किन्तु आप कहते है कि ब्रह्म-ज्ञानमे वृत्ति इन्द्रियो द्वारा बाहर नही निकलती, इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मका ज्ञान अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) नही किन्तु परोक्ष ही होता है और आप यह भी कहा करते हैं कि ब्रह्मका ज्ञान गुरु-मुख-द्वारा महावाक्यका उपदेश सुननेसे ही होता है। वह उपदेश एक प्रकारका शब्द है और शब्दसे जो ज्ञान हुआ करता है वह परोक्ष ही होता है न कि प्रत्यक्ष। जैसे किसीने यदि ताज-महलका नाम सुना हो तो केवल सुननेसे ही उसे ताजमहलका प्रत्यक्ष-ज्ञान थोडे ही होता है। तो फिर भगवन् ! 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योके सुननेसे ब्रह्मका प्रत्यक्ष-ज्ञान कैसे हो सकता है ?

**उत्तर :—** हे शिष्य ! इन्द्रियोकी सहायताके बिना प्रत्यक्ष-ज्ञान नही हो सकता, यह कोई नियम नही है, क्योकि सुख-दु खका ज्ञान बिना इन्द्रियोकी सहायताके ही होता है और वह प्रत्यक्ष-ज्ञान ही है। इसलिए इन्द्रिय-सबन्धसे प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है, ऐसा न मानकर यह मानना चाहिए कि जहाँ विपय से अन्तःकरणकी वृत्तिका सम्वन्ध होनेके वाद वृत्ति विषयाकार होती है, वही प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है। क्योकि जब वृत्ति विपयसे मिलती है तव वृत्ति-उपहित-चेतन और विषय-उपहित-चेतन दोनो का अभेद हो जाता है। इसलिए वेदान्तमे **विषय-चेतनकावृत्ति-चेतनसे अभेद** ही प्रत्यक्ष-ज्ञानका प्रयोजक (हेतु) कहा गया है।

**वह अभेद** :— (१) कही इन्द्रिय-द्वारा होता है—जैसे रूपके प्रत्यक्षमे वृत्ति आँख इन्द्रिय द्वारा वाहर निकलकर जव रूप-विपयसे मिलती है तव उस वृत्ति-उपहित-चेतन तथा रूप-विपय-उपहित-चेतन दोनोका अभेद (एकीभाव) होता है और तभी रूपका प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है।

(२) कही इन्द्रियादि-वाह्य-निमित्तके विना ही शरीरके अन्दर उत्पन्न हुई वृत्ति-द्वारा होता है—जैसे सुख दु खके प्रत्यक्षमे अन्त करणकी वृत्ति, इन्द्रियादि-रूप दूसरे किसी वाह्य साधनके विना ही जव सुख-दुःखके आकारवाली हो जाती है, तव उस वृत्ति-उपहित-चेतन तथा सुख-दु ख-विपय-उपहित-चेतन दोनोका अभेद होता है और तभी सुख दु खका प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है। [उस सुख-दु खाकार अन्त करणकी वृत्तिमे आरूढ साक्षी-चेतन उस सुख-दुःखको प्रकाशता है, इसलिए सुख-दु खको साक्षी-भास्य कहते है]

और (३) कही शब्द से होता है—जैसे दस आदमी किसी नदीके पार उतरे। उतरकर अपने आदमियोको गिनने लगे। गिननेवाला अपनेको छोडकर शेप नौको गिन लेता था। परिणाम मे वे नदीके किनारे वैठकर दसवेको रो रहे थे कि हाय! दसवाँ डूव गया। तव कोई आप्त पुरुष ( यथार्थ-वक्ता सज्जन ) वहाँ आया और उसने नौको गिननेके वाद उस दसवेसे कहा कि "अरे! जिस दसवेंके लिए तू रो रहा है वह दसवाँ तू ही तो है" वस ये शब्द सुनते ही उसे उसी क्षण अपने दसवेंका प्रत्यक्ष-ज्ञान हो गया और कहने लगा "अरे! कितनी भूल थी, जिस दसवेंको मैं खोज रहा था वह दसवाँ मैं ही तो हूँ।"

जिस प्रकार "दसवाँ तू है" ये शब्द जब उस दसवेंने सुने, उसी समय उसके अन्त करणकी वृत्तिका दसवेंसे सम्बन्ध होनेके बाद वृत्ति दशमाकार बनी और तभी दसवेंका प्रत्यक्ष-ज्ञान हुआ, क्योकि उस समय वृत्ति-चेतन और दसवाँरूप विषय-चेतनका अभेद हुआ था।

ठीक इसी प्रकार हे शिष्य! जब शुद्ध-अन्त करण जिज्ञासु गुरु-मुखसे 'तत्त्वमसि' अर्थात् "तू ( साक्षी ) ब्रह्म है" यह महावाक्यरूप शब्द सुनता है तब उसी समय उसके असली स्वरूप ( साक्षीरूप ब्रह्म ) से वृत्तिका सम्बन्ध होनेसे वृत्तिके ब्रह्माकार होनेके बाद अर्थात् वृत्तिका ब्रह्मको विषय करनेके बाद, [जैसे हम जब मलिन ( मलसे ढके हुए ) वस्त्रको साबुनसे साफ करते हैं तब वह साबुन मलको नष्ट करता है और उस वस्त्रका असली स्वरूप सफेदी अपने आप चमकती है, उसी प्रकार जब हम अज्ञानसे ढके हुए अपने असली स्वरूप साक्षीरूप ब्रह्मको 'अह ब्रह्मास्मि' इस वृत्तिरूप साबुनसे प्रत्यक्ष करते है तब वह साबुनरूप वृत्ति अज्ञानरूपी मलको नष्ट करती है और उस स्वय-प्रकाश ब्रह्मका अपने आप प्रकाश होता है। इस प्रकार वृत्ति-द्वारा ब्रह्मका आवरण भग करना ही वृत्तिका ब्रह्मको विपय करना है] ब्रह्मका प्रत्यक्ष होता है, क्योकि उस समय वृत्ति-चेतनका और ब्रह्म-चेतनका अभेद होता है।

वास्तवमे चेतनका स्वरूपसे तो कोई भेद है ही नहीं किन्तु विपय और वृत्तिरूप उपाधिका किया हुआ भेद है;

(जैसे दो घडोमे आया हुआ आकाश वास्तवमे तो एक ही है किन्तु दो घड़ोकी उपाधिसे दो घटाकाशरूपसे दिखता है ) क्योकि वह वृत्ति तथा विषयरूप उपाधि जब भिन्न भिन्न देशमे स्थित होती है तब उस उपाधिवाले ( उपहित ) चेतनका भेद कहा जाता है ।

जब वृत्ति विषयाकार होती है तब दोनो उपाधियाँ ( वृत्ति और विषय ) एक देशमे स्थित होती हैं इसलिए उस समय उस उपाधिवाले विषय-चेतन और वृत्ति-चेतनका अभेद कहा जाता है और वह विषय-चेतनसे वृत्ति-चेतनका अभेद ही ( एकीभाव ही ) प्रत्यक्ष-ज्ञानका प्रयोजक है । उस प्रत्यक्ष-ज्ञानको अपरोक्ष-ज्ञान और साक्षात्कार भी कहते हैं ।

हे शिष्य ! अब तुम्हे समझमे आ गया होगा कि प्रत्यक्ष-ज्ञान बिना इन्द्रियोके भी होता है—जैसे **सुख-दुःखका प्रत्यक्ष-ज्ञान** और शब्दके श्रवणसे भी प्रत्यक्ष होता है —जैसे दसवेको 'दसवाँ तू है, इस शब्दको सुननेसे अपने दसवेपनका **प्रत्यक्ष-ज्ञान** हुआ था । इसलिए हे शिष्य ! गुरुद्वारा "तत्त्वमसि" महावाक्यको सुननेसे जब वृत्ति अन्तर्मुख होती है तब उस समय बिना इन्द्रियोकी सहायताके ही अपने असली स्वरूप ब्रह्मका प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है ।

जब उस तत्त्वदृष्टि नामक उत्तमाधिकारीने इस प्रकार गुरुमुखसे अपने असली स्वरूपका ब्रह्मरूपसे वर्णन सुना तब अज्ञान नष्ट होनेसे उसे अपने असली स्वरूप **ब्रह्मरूप साक्षीका** प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ और इस प्रकार 'अहं

ब्रह्मास्मि' ऐसे अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान होनेके बाद वह संशय और विपरीत भावनाओसे रहित शान्त मनसे उस ब्रह्मानन्द (स्वरूपानन्द) का आनन्द लेने लगा।

इति श्रीविचारसागरदर्पणेउ त्तमाधिकारी-उपदेश-निरूपणं नाम चतुर्थस्तरंगः समाप्त.





## * पंचमस्तरंगः *

### अथ श्रीगुरुवेदादि-व्यावहारिक-प्रतिपादनम्
अथवा
### —मध्यमाधिकारी-साधन-निरूपणम्—

इस प्रकार गुरु-मुख-द्वारा उपदेश सुनकर वडा भाई उत्तमाधिकारी तत्त्वदृष्टि तो शका-रहित होकर शान्त हो गया किन्तु मध्यमाधिकारी **अदृष्टिको** तृप्ति नही हुई। तव वह गुरुजीको हाथ जोडकर, शका करनेकी आज्ञा माँग कर कहने लगा —

**शका**:— भगवन्! आपने कहा, "गुरु-मुख-द्वारा वेदके वचनोको ( वेदान्तको ) सुननेसे अद्वैत ब्रह्मका साक्षात्कार होता है और जिसको ब्रह्मका साक्षात्कार [ अपरोक्ष ( प्रत्यक्ष ) ज्ञान ] होता है, वही इस जन्ममरणादि दु:खरूप ससारसे मुक्त हो जाता है।" इस प्रकार आपने वेद और गुरु ज्ञान-द्वारा मोक्षके साधन वताए किन्तु यह मेरी समझमे

नही आया, क्योकि वेद और गुरु मोक्षके साधन बन ही नही सकते ।

**गुरुजी** :— हे शिष्य ! तुमने यह कैसे समझा कि वेद और गुरु मोक्षके साधन नही बन सकते ?

**शिष्य (अदृष्टि)** :— भगवन् ! पहले मुझे आप यह बताए कि गुरु और वेद सत्य हैं या असत्य । यदि आप गुरु और वेदको सत्य मानते हैं, तो आपके अद्वैत सिद्धान्तकी हानि होती है, क्योंकि वेदान्तके अद्वैत-सिद्धान्ताऽनुसार **एक ब्रह्म ही सत्य है शेष सब मिथ्या है** ।

इसलिए आपको गुरु और वेदको भी मिथ्या ही मानना पडेगा । यदि गुरु और वेद मिथ्या हैं तो वे कभी मोक्षके साधन नही बन सकते, क्योकि मोक्ष कहते हैं जन्ममरणादि दुःखोके नाशको ( दुःखोसे छूटनेको ) और जो वस्तु स्वय मिथ्या है वह कभी किसीका नाश नही कर सकती; जैसे मृगतृष्णाका जल मिथ्या है तो वह कभी प्यासको नष्ट नही कर सकता । इसलिए "गुरु और वेद दोनो ज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष दिलाते हैं" यह आपका कहना मुझे दोष-रहित प्रतीत नही होता ।

इन दोषोके कारण ही मध्वाचार्य आदि द्वैतवादियोने श्रीस्वामी शकराचार्यजीके माने हुए इस अद्वैत सिद्धान्तको ग्रहण नही किया, ऐसा प्रतीत होता है ।

**गुरुजी** :— हे शिष्य ! यह तुम्हारा कहना ठीक नही है, क्योकि श्रीस्वामी शकराचार्यजीका माना हुआ अद्वैत मत ही प्रामाणिक है । यदि मध्वाचार्य आदि द्वैत-वादियोको इस अद्वैत-

वादमे दोप प्रतीत हुए तो वह उनकी बुद्धिकी कमजोरी थी, क्योकि वेदव्यास जैसे वेदोके ज्ञाताने भी इस अद्वैत वादको ही स्वीकार किया है। श्रीशकराचार्यजीके वारेमे तो उन्होने (भगवान् वेदव्यासजीने) स्वय वायुपुराण औरकूर्मपुराण आदि पुराणोमे यह लिखा है :— "जव कलियुगमे वेदके अर्थ से अनभिज्ञ लोग वेदके अर्थको नाना प्रकारसे करने लगेंगे तव कृपालु भगवान् शिवजी **श्रीशकरके** नामसे अवतार लेकर, वद्रिनाथकी मूर्तिका देवनदी गगामेसे उद्धार, स्वस्थानमे स्थापन, नास्तिक-मतका खण्डन तथा **वेदका यथार्थ व्याख्यान** करेंगे।"

श्रीवेदव्यासजीके इन वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि श्रीगकराचार्यजीका माना हुआ अद्वैत मत ही **प्रमाण** (यथार्थ ज्ञानको उत्पन्न करनेवाला) है और मध्वादिकोका द्वैत मत ( भेदमत ) अप्रमाण है, अर्थात् यथार्थ-ज्ञानको उत्पन्न करनेवाला नही है।

आदि कवि सर्वज्ञ ऋपि श्रीवाल्मीकजीने भी, उत्तर-रामायण 'योगवासिष्ठ' नामक ग्रथमे 'दृष्टि-सृष्टि-वाद' के रूप मे अद्वैतमतका ही प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार हे शिष्य ! सर्वज्ञ ऋपिमुनियोके वचनोंके विरुद्ध द्वैतवादको दोप-सहित और अप्रमाण ही समझना चाहिये और युक्तियो ( दलीलो ) के आगे भी यह द्वैतवाद नही ठहर सकता, इस वातको श्रीहर्पमिश्रादि आचार्योंने 'खण्डन-खण्ड-खाद्य' तथा 'भेद-धिक्कार' आदि ग्रथोमे अच्छी तरहसे स्पप्ट किया है।

वेदके वचनोसे भी यह द्वैतमत विरुद्ध है; क्योकि कठ उपनिषद्मे आया है —

**"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"**(कठ०उ०२।१।१०)

अर्थात् जो पुरुप इस ससारमे नानापने ( अनेकपनेको ) [ अर्थात् वास्तविक रूपसे अद्वैतको न समझकर द्वैतको ] देखता है, वह मुत्युसे मुत्युको प्राप्त होता है अर्थात् जन्म मरण के चक्रसे नही छूटता ।

"**द्वितीयाद् वै भयं भवति**" अर्थात् द्वितीयसे ही भय होता है ।

"**अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्**" अर्थात् वह ( ब्रह्म ) दूसरा है और मैं ( साक्षी ) दूसरा हूँ, इस प्रकार जो जानता है वह वास्तवमे नहीं जानता, वह ( द्वैतवादी ) देवताओके पशुकी तरह ही है ।

इसलिए हे शिष्य ! वेदव्यासजी, वाल्मीकजी और वेदके वचनोसे विरुद्ध, तथा युक्तियोके आगे नही ठहरनेवाले द्वैत वादको अप्रमाण समझकर छोड़ ही देना चाहिये, और ऋषि-मुनि-गण तथा वेदके बताए हुए, इस अद्वैतवादको ही प्रमाण समझकर स्वीकार करना चाहिये ।

यह निश्चय करलो कि जब तक तुम्हारे हृदयमें द्वैत-भावना ( भेद-भावना ) रहेगी तब तक जन्ममरणके चक्र और भय इत्यादि दुःखोसे नही छूटोगे। यह द्वैत-भावना अद्वैत ब्रह्मका साक्षात्कार होने नही देगी, क्योकि ये द्वैतवादियोके वचन जिज्ञासु-जनोके कोमल हृदयोमे ऐसे सस्कार डाल देते हैं कि जिनसे अद्वैत ब्रह्मका साक्षात्कार

होनेपर भी संशय उत्पन्न होते ही रहते है। हे शिष्य! इस बातको समझानेके लिए मैं तुम्हे एक कहानी सुनाता हूँ।

किसी राजाका प्रधान मन्त्री जिसका नाम भर्छु था वह वडा बुद्धिमान् और आज्ञाकारी था। उसपर राजाका बड़ा प्रेम था। इसलिए दूसरे मन्त्री भर्छुसे ईर्ष्या करते थे। एक वार उन मन्त्रियोने आपसमे मिलकर, किसी उपाय ( तरकीव ) से राजासे आज्ञा दिलवाकर, भर्छुको डाकुओके पीछे उन्हे मारनेके लिए भिजवा दिया। उधर राजाको पीछेसे उन सवने मिलकर कहा कि वह भर्छु डाकुओंसे लडते लडते मर गया। यह सुनकर राजाको वडा दुःख हुआ। फिर उन मन्त्रियोके कहनेपर राजाने दूसरे किसीको प्रधान मन्त्री वना दिया और वहाँ जव भर्छु डाकुओको मारकर लौटने लगा तव उसे पता लगा कि राजाने किसी दूसरेको प्रधान मन्त्री वना लिया है और उन मन्त्रियोने उसे मारनेका प्रवन्ध भी कर लिया है। तव उसे (भर्छुको) वैराग्य उत्पन्न हुआ और सोचने लगा कि "जव मन्त्रियोका मेरेसे कोई स्वार्थ सिद्ध नही हो सका प्रत्युत मैं उनके स्वार्थमे वाधक हुआ तभी वे मुझे मारनेका प्रयत्न करने लगे। यह उनका दोष नही वास्तवमे यह सारा ससार ही स्वार्थी है। श्रीतुलसीदासजीने सही कहा है —

"सुर नर मुनि जनकी यह रीति।
स्वारथ लाग करैं सव प्रीति॥"

स्त्री भी जो पतिको प्रेम करती है वह अपने स्वार्थके लिए और पति जो स्त्रीसे प्रेम करता है, वह भी अपने स्वार्थके लिए ही।

इसी प्रकार मित्रगण पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक सभी अपने अपने स्वार्थसे ही एक दूसरेको प्रेम करते हैं। जो देशभक्त अथवा प्रभुभक्त हैं वे भी शुद्ध स्वार्थी हैं, क्योकि उन्हे भक्तिसे अन्दरमे शान्ति और **आनन्दकी** लहरे उत्पन्न होती हैं, अर्थात् वे भी उस अन्दरकी शान्ति और आनन्दके स्वार्थसे ही भक्ति करते हैं।

**शंका**:— भगवन्! श्रीतुलसीदासजीने तो मुनि शब्दका भी प्रयोग किया है, तो क्या जो मुनिजन परोपकारी महात्मा है वे भी स्वार्थी हैं?

**उत्तर**:—हे शिष्य! हाँ वे भी स्वार्थी हैं, किन्तु उनका स्वार्थ साधारण स्वार्थी लोगों जैसा निकृष्ट स्वार्थ नही है, अपितु शुद्ध स्वार्थ है, क्योकि वे परोपकारी मुनि-जन दयालु होते है। जब वे किसीको दुःखी देखते हैं तो स्वय भी दुःखी हो जाते है, अर्थात् दूसरेको दुःखी देखकर उनके हृदयमे काँटा चुभने लगता है और उस काँटे (दुःख) को वे तभी दूर कर सकते है जब कि दूसरोंके दुःखको दूर करें। इसीलिये (अपने दुःखको दूर करनेके लिये ही) वे दूसरोके दुःखको दूर करनेका प्रयत्न करते हैं। जिसे लौकिक भाषामे परोपकार तथा दार्शनिक भाषामे **शुद्ध-स्वार्थ** कहते हैं।

इस प्रकार हे शिष्य! उस भछुको किसी पुण्य विशेषके उदय होनेपर इस प्रकारकी वैराग्यकी भावनाएँ उत्पन्न होने लगी और वह मनमें कहने लगा कि "जिन स्त्री, पुत्र, धन आदिक पदार्थोको मैं सुखरूप समझता था और नित्यसुखका

साधन समझकर उन्हे प्राप्त करके अपनेको कृतकृत्य माना करता था, वह सब भ्रान्ति ही थी। क्योकि आज तक मुझे उनमेसे बाह्य सुखके स्वरूपमे दुःख-ही मिलता रहा और मैं अज्ञानके कारण उस दु खको सुख, अपवित्रको पवित्र, अनित्यको नित्य और अनात्माको आत्माही (स्थूलशरीर आदि अनात्म पदार्थों को अपना स्वरूप समझना—"जैसे मैं ब्राह्मण हूँ, मैं यज्ञदत्त हूँ इत्यादि) समझ रहा था।"

**शंका** — भगवन्! ये स्त्री, पुत्र, धन आदिक विषय-पदार्थ दु खरूप कैसे हैं?

**उत्तर** — हे शिष्य! ये भोग्य पदार्थ चार प्रकारसे दु ख देनेवाले है। (१) परिणाम-दु ख (२) ताप-दु ख (३) सस्कार-दु.ख और (४) गुण-वृत्ति-विरोध-दु'ख।

(१) **परिणाम-दुःख** — परिणाममे अर्थात् अन्तमे उन भोगो का फल दु खरूप है। भर्तृजीने भी कहा है कि "**भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता.**" अर्थात् हमने सोचा कि हम भोग्य पदार्थोको भोग रहे है किन्तु परिणाममे हम ही भुग गये, भोग तो ससारमे ज्यो के त्यो मौजूद है। तथा "**भोगे रोग-भयम्**" भोगोमे रोगोका भय रहता ही है, क्योकि भोगोके परिणाम रोग ही होते है।

**शंका** — भगवन्! भोग्य पदार्थोको मात्रासे भोगनेपर तो वे रोगोको उत्पन्न नही करते?

**उत्तर** :— हे शिष्य! रोग ( दु ख ) केवल शारीरिक ही नही होते किन्तु मानसिक भी होते है। जब भोग्य पदार्थ अप्राप्त होते है तो उनके प्राप्तिकी इच्छा मनको सताती है, यह भी एक प्रकारका रोग अर्थात् दु ख है, जब पदार्थ

मिल जाता है तब, यह भोग्य जल्दी नष्ट न हो, वहुत समय तक मेरे पास रहे, इस प्रकारका चिन्ता-रूप-दु.ख रहता है और जब वह भोग्य पदार्थ नष्ट हो जाता है [सभी भोग्य पदार्थ क्षणिक होनेके नाते नष्ट होते ही हैं] तव तो उस भोगीको महान् दु ख होता है। इस प्रकार ये सब भोग्य पदार्थ सदा दु खरूप ही होते है और 'हम भोग्य पदार्थोंको मात्रासे (थोड़ेमे) भोगेगे' यह केवल मनकी दलीलमात्र है। क्योकि साधारणतः मनका ढाँचा कुछ ऐसा बना हुआ है कि जब भोगकी मनमे इच्छा होती है और उस इच्छाकी पूर्ति करनेकी भ्रान्तिसे यदि मनको वह भोग्य पदार्थ दिया जाता है, तो वह इच्छा पूर्ण नही होती प्रत्युत ( वल्कि ) जैसे अग्निमे हवन-सामग्री डालनेसे एक वार अग्नि कुछ मन्द होकर, धु वा करके फिर दुगुनी प्रज्वलित हो जाती है, वैसे ही वह इच्छा उस समय कुछ दब कर फिर दुगुनी बढ जाती है। यो बढते बढते वह इच्छा तृष्णाका रूप धारण कर लेती है। जहाँ तृष्णा उत्पन्न होती है वहाँ प्रमाद, पाप इत्यादि उसके भाई भी आजाते हैं। जब इनका कुटुम्ब बढने लगता है तब तृष्णासे बात चीत करनेके लिये उसकी सखी चिन्ता भी आकर उस भोगीके हृदयमे डेरा जमाती है और फिर वे सब मिलकर उस भोगीके हृदयमे एक विशाल दारुण दुःखरूप देवताकी स्थापना करते हैं। फिर वहाँ रात दिन पातकों (पापो) का पाठ पढा जाता है, दूसरोंको लूटने तथा दु ख पहुँचाकर अपनेको सुखी करनेकी भावनाओके भजन गाये जाते हैं, मलिन असद्विचार वहाँ

अपना रौद्र-रस-पूर्ण विकराल नगा नृत्य दिखाकर, कुप्रवृत्तियो को ( जो दर्शक है ) उत्तेजित करते हैं, इस प्रकार उस भोगीके हृदयमे कलियुगका पूर्णाधिकार हो जाता है और भोगी यदि आरम्भमे ही अपनी इच्छाओपर सतोपका जल छिडक देता है तो धीरे धीरे वह भोग्य पदार्थोंको भोगनेकी इच्छा-रूप-अग्नि शान्त हो जाती है। क्योकि हम देखते है कि जितना हम भोग्योसे दूर रहते है उतनी ही उनकी इच्छा कम होती है और जितना हम भोग्योके समीप रहते हैं ( भोगते हैं ) उतनी वह इच्छा-अग्नि वढकर अन्तमे दु ख देती है। इसीलिए इन विपयभोगोको **परिणाम** (अन्त) **में** दु'**खरूप** माना जाता है।

(२) **ताप-दु'ख** — भोग्य पदार्थोंके रहते समय अन्दरमे सताप अर्थात् ईर्ष्यारूप जलन उत्पन्न होती है, क्योकि भोगी जव अपनेसे दूसरेके पास अविक मात्रामे व अच्छे अच्छे भोग्य पदार्थ देखता है तव सूक्ष्मरूपसे मनमे ईर्ष्या उत्पन्न होती है और **ईर्ष्यासे स्वभाव चिडचिड़ा वनकर, क्रोध उत्पन्न** होता है। तथा प्राप्त हुए भोग्य पदार्थोंके नाशके भयमे उनकी रक्षा करनेकी चिन्ता भी रहती है। ये मव एक प्रकारके सताप है और इन सवको मिलाकर **ताप-दु ख** कहते हैं।

(३) **संस्कार-दु ख** — पहिलेके भोगे हुए जो स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रिय पदार्थ होते हैं, उनके नष्ट होनेपर, उनके सस्कारोसे उत्पन्न हुई उन भोग्य पदार्थोंकी स्मृति (याद) मे जो दु'ख होता है उसे **सस्कार-दु ख** कहते हैं। और

(४) **गुण-वृत्ति-विरोध-दु'ख** — सत्त्व-रजस्तमो-गुणात्मक-

वृत्ति (सात्त्विक, राजस तथा तामस वृत्ति) के बदलते रहने से जो उन वृत्तियोंका परस्पर विरोध उत्पन्न होता है, उससे उत्पन्न होनेवाले दुःखको गुण-वृत्ति-विरोव-दुःख कहते है। क्योकि गुण चचल होनेके कारण बदलते ही रहते है। जैसे स्त्री, पुत्र व धनादि पदार्थ पहिले रजो-गुणात्मक-वृत्तिके होनेसे प्रिय तथा सुखरूप प्रतीत होते हैं, किन्तु गुणवृत्तिमे विरोध होनेसे अर्थात् रजो-गुण-वृत्ति वदलकर सात्त्विक-वृत्ति होनेसे, शाँति और वैराग्य उत्पन्न होकर वे ही पदार्थ दु खरूप ( जन्म मरणादि दु खरूप ससारमे फसाने वाले) प्रतीत होते हैं। अथवा वृत्ति जब तमोगुणमे पलटती है तब नीद ही मीठी लगती है और 'अच्छे अच्छे भोग्य पदार्थोंको भी हम दूर हटा देते है, अर्थात् उन्हे निद्राके आनन्दको छीननेवाले मानकर दुःखरूप समझते है। अथवा नशे आदिकी अवस्थामे नशेसे मना करनेवाले स्त्री-पुत्रादिक भी दुःखरूप प्रतीत होते हैं। अथवा जैसे कामी पुरुषोकी राजस-वृत्तिके बदलनेसे दूसरे स्त्री-आदिक पदार्थोंमें प्रेम होने के कारण, पहिलेवाले स्त्री-आदिक पदार्थ उस समय दुःखरूप प्रतीत होते हैं। इस प्रकार स्त्री-पुत्र-धन-आदिक भोग्य पदार्थोंमे **गुण-वृत्ति-विरोध-दुःख** भी माना जाता है।

इसीलिये हे शिष्य ! सारे भोग्य पदार्थ दुःखरूप माने जाते हैं और भर्तृ भी इस प्रकार उस समय इन भोग्य पदार्थोंको दुःखरूप समझकर यह कहने लगा :— "मैंने अज्ञान से इन दुःखरूप भोग्योको सुखरूप समझकर सारी आयु यों ही भटकते २ गवाँ दी किन्तु मृगतृष्णाके जलकी ओर

भागनेवाले मृगकी तरह, आज तक मुझे नित्य-आनन्द प्राप्त नही हुआ।"

**शंका**.—भगवन्! आपने पहिले यह बताया था कि भर्तृको दु खमे सुख-बुद्धिके साथ साथ अशुचि ( अपवित्र मे शुचि-बुद्धि ( पवित्र-बुद्धि ) भी हुई थी। तो भगवन्! मुझे कृपा करके समझाइये कि अपवित्रमे पवित्र बुद्धि कैसे हुआ करती है ?

**उत्तर**—हे शिष्य! जितने भी ससारके पदार्थ हैं उन सबमे यह शरीर सबसे अधिक अपवित्र माना जाता है। क्योकि हम कितने अच्छे अच्छे पदार्थ खाते हैं, किन्तु वे पदार्थ इस शरीरके सगसे इतने गन्दे हो जाते हैं कि हम उन्हे देखना भी नही चाहते। वह गन्दगी कहाँ थी? इस शरीरमे ही तो थी जो बाहर आनेपर हमे बुरी लगती है। इसी प्रकार स्त्री-आदिकोके शरीर भी अपवित्र ही हैं; क्योकि वे हाड, माँस, चर्बी, रक्त, मवाद, विष्टा, मूत्र आदि गन्दे पदार्थोंसे भरे हुए तथा ऊपर चमडीसे ढके हुए ही तो हैं। ऐसे अपवित्र गन्दे स्त्री आदिकोके शरीरोमे भी कामी पुरुषोको पवित्र और सुन्दर बुद्धि होती है। अर्थात् वे कामी वास्तविकता ( असलियत ) को न जाननेसे, "यह कामिनी बड़ी ही सुन्दर है, इसका चन्द्रमा जैसा मुख, कमल जैसे नेत्र, मोती जैसे दांत तथा स्वर्ण जैसा शरीर है" इत्यादिरूपसे गन्दे शरीरको व्यर्थकी उपमा देकर उस अपवित्र शरीरमे पवित्र बुद्धि करके लम्पट होते हैं। इस प्रकार स्त्री भी पुरुषके अपवित्र शरीरको पवित्र मानकर उसमे

आसक्त होती है।

श्रीवेदव्यासजी तथा श्रीस्वामी शंकराचार्यजी महाराजने भी इस शरीरको पाँच प्रकारसे गंदा तथा अपवित्र बतलाया है।

(१) इस शरीरके उत्पन्न होनेकी जगह, जो माताका गर्भ-स्थान है, वह पूर्णतया अपवित्र है।

(२) शरीरका उपादान-कारण ( जिससे शरीर उत्पन्न होता है ) रज और वीर्य भी अपवित्र है।

(३) शरीर जिन पर खड़ा है वे, अन्नसे उत्पन्न होने वाले रस, रक्त, माँस, मेद, हड्डी, मज्जा, और वीर्य ये सातों धातु भी अपवित्र है।

(४) शरीरसे निकलनेवाले—पसीना, थूक, लार, मल, मूत्र, तथा आँख, कान और नाकका मैल, नाखून, व केशादि ये सभी पदार्थ अपवित्र हैं।

(५) अन्तमे भी अर्थात् मृत शरीरसे भी अपवित्रता ही प्रकट होती है, चाहे वह शरीर कितना ही सुन्दर व उत्तम जातिवाले या धनवान् अथवा विद्वान्का क्यो न हो।

इस प्रकार हे शिष्य ! पाँच प्रकारसे यह शरीर अपवित्र सिद्ध हुआ। ऐसे अपवित्र गन्दे शरीरोपर अज्ञानी लोग ही आसक्त हुआ करते हैं। कितने अज्ञानी लोग तो पशु पक्षियोके गन्दे शरीरोके मॉस इत्यादिक अपवित्र पदार्थोंमे पवित्र बुद्धि करके इतने आसक्त हो जाते हैं कि उनके सेवन करते समय अपवित्रता और पापका भी ध्यान उन्हे नही रहता। इसपर पीपे साहब, गुरु नानक तथा कबीर साहबने

कहा है —

**"जीव मार भोजन करें, खाते करत बखान।**
**पीपा प्रत्यक्ष देखले, थाली मांहि मसान॥"**
**"कबीर माँस माँस एक है, हरिणी, बकरी गाय।**
**आँख देख नर खात हैं, निश्चय नरकहिं जाय॥"**
**"जो रक्त लगे कपड़े, जामाँ होय पलीत।**
**सो रक्त खावे मानसा (नानक) किस विध ऊजल चीत॥"**

मसान = श्मशान, चीत = चित्त।

इस प्रकार भर्छु कहने लगा कि "मैंने आज तक अपवित्र, दुःखरूप, अनित्य तथा अनात्म-पदार्थोंमे भ्रान्तिसे पवित्र, सुखरूप नित्य तथा आत्म-बुद्धि करके, अपनी सारी आयु तथा बल-बुद्धि-तेज और वीर्यको यो ही व्यर्थमे गवाँ दिया।

जो वीर्य इस शरीररूपी नगरका राजा है, वह वीर्यरूपी राजा यदि पुष्ट व बलवान् है, तो रोगरूपी शत्रु कभी शरीर-रूपी नगरपर आक्रमण नही करते, परन्तु जिसका वीर्य-रूपी राजा निर्बल है, उस शरीररूपी नगरको कई रोग-रूपी शत्रु आकर घेर लेते हैं। वीर्यकी रक्षा अर्थात् ब्रह्मचर्यसे दैवी-गुण-सम्पन्न देवताओने तो कालको भी जीत लिया है। इसी बातको वेद कहता है —

**"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।**
**इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्य स्वराभरत॥१॥"**

**अर्थ** —ब्रह्मचर्यरूपी तपसे देवताओने मृत्युको जीत लिया है। देवराज इन्द्रने भी ब्रह्मचर्यसे ही देवताओसे अधिक सुख वा उच्च पदको प्राप्त किया है।"

अथर्ववेद १–५–१६

और भगवान् शकरजी तो ब्रह्मचारीको देवता बतलाते हुए कहते हैं —

"न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम् ।
ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः ॥"

अर्थात् "ब्रह्मचर्य (वीर्य-धारण) ही उत्कृष्ट तप है । इससे बढकर तपश्चर्या तीनो लोकोमे दूसरी नही हो सकती । ऊर्ध्वरेता पुरुप अर्थात् अखड वीर्य-धारण करनेवाला पुरुप इस लोकमे मनुष्यरूपमे प्रत्यक्ष देवता ही है ।"

वास्तवमे ब्रह्मचर्यकी महिमा महान् है, क्योकि सम्पूर्ण विश्वके प्राणिमात्रमे जो कुछ जीवन-कला दिखलाई देती है, वह सब ब्रह्मचर्यका ही प्रताप है । जीवन-कलामे सौन्दर्य, तेज, आनन्द, उत्साह, सामर्थ्य, असामान्यता, मोहकता (आकर्षण) व सजीवत्व आदि अनेकानेक उत्तम गुणोका समावेश इसी ब्रह्मचर्यसे ही होता है । अर्थात् ब्रह्मचारी पुरुषके लिए ससारमें तो क्या, त्रिभुवनमे भी कोई बात असम्भव व अप्राप्य नही है । श्रीभगवान् शकर कहते हैं :—

"सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले ।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत् ॥"

अर्थात्— महान् परिश्रम-पूर्वक बिन्दु ( वीर्य ) को साधने वाले अखण्ड ब्रह्मचारीके लिए त्रिभुवनमे भी ऐसी कोई वस्तु नही जो असम्भव व असाध्य हो । और उस ब्रह्मचर्यके प्रताप से ही मेरी ऐसी महान् महिमा हुई है ।

इस प्रकार हे शिष्य ! ब्रह्मचर्यकी महिमा भगवान् शकरने स्वय बतलाई है और भी कई ऋषि मुनि जन इस ब्रह्मचर्य की महिमाको गाते रहते हैं । क्योकि यह वीर्य शरीरका अन्तिम व उत्तम धातु है । श्रीसुश्रुताचार्यने लिखा है :—

**"रसाद्रक्तं ततो मांसं, मांसान्मेदः प्रजायते।**
**मेदस्याऽस्थि ततो मज्जा, मज्जायाः शुक्र-संभवः॥"**

अर्थात्—मनुष्य जो कुछ भोजन करता है वह पहिले पेटमें जाकर पचने लगता है, फिर उसका रस बनता है। उस रस का पाँच दिन तक पाचन होकर उससे रक्त पैदा होता है। रक्तका भी पाँच दिन पाचन होकर, उससे माँस बनता है। इस प्रकार पाँच पाँच दिनके बाद माँससे मेद, मेदसे हड्डी, हड्डीसे मज्जा और अन्तमे मज्जासे सप्तम सार पदार्थ 'वीर्य' बनता है। यही वीर्य फिर 'ओजस' रूपमे सम्पूर्ण शरीरमे व्यापक होकर चमकता रहता है। स्त्रीके इस सप्तम शुद्धातिशुद्ध सार पदार्थको 'रज' कहते हैं। दोनोमे भिन्नता होती है। इस प्रकार रससे लेकर वीर्य व रज तक छः धातुओके पाचन करनेमे पाँच दिनके हिसाब से पूरे ३० दिन व करीब ४ घण्टे लगते है, ऐसा शास्त्रोका सिद्धान्त है।

अब यह जानना आवश्यक है कि कितने भोजनसे कितना वीर्य पैदा होता है। इसका निश्चय वैज्ञानिकोने इस प्रकार किया है कि एक मन अर्थात् ४० सेर भोजनसे एक सेर रक्त बनता है और एक सेर रक्तसे दो तोला वीर्य बनता है। इस प्रकार "एक तोले वीर्यके बराबर चालीस तोला अर्थात् आधा सेर रक्त है" यह उनका सिद्धान्त है।

यदि नीरोग मनुष्य सेर भर भोजन प्रतिदिन करे तो ४० सेर भोजन ४० दिनमे करेगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि चालीस दिनकी कमाई दो तोला वीर्य है। इस

हिसाब से ३० दिनकी अर्थात् एक महीनेकी कमाई डेढ तोला हुई। एक बारमे मनुष्यका वीर्य डेढ़ तोलासे कम क्या निकलता होगा, जो कि ३० दिनकी कमाई है। अब ज़रा सोचनेकी बात है। इतने कठोर परिश्रमसे ३० दिनमे प्राप्त होनेवाली डेढ तोला अमूल्य व अतुल दौलत एक क्षण मे ही फूक डालना कितनी घोर मूर्खता है। ऐसा पुरुष उस मूर्ख मालीके समान है जो तन मन धनसे दिन-रात परिश्रम कर फूलोका सुन्दर बगीचा तैयार करता है और पैदा हुए असख्य फूलोका इत्र निकलवा कर उसे मोरियोंमे डालता व डलवाता है। जो इस प्रकार अज्ञान-वश होकर महीने मे भी कई बार इस प्रकारकी ३० दिनकी कमाईको खोता रहता है, तो फल-स्वरूप उसका १५ वर्षकी आयु तक बचपनमे जितना ओजसरूपमे वीर्य इकट्ठा था वह धीरे धीरे नष्ट होता है और अति करनेसे तो फिर हड्डियो मे से कुछ सफेद अश निकलने लगता है जिससे अन्तमे कई नपुँसक भी हो जाते हैं अथवा अकाल मृत्युके पजे मे भी आजाते है।

ग्रीस (यूनान) के महाज्ञानी तत्त्ववेत्ता साक्रेटीस (सुकरात) से किसीने पूछा "स्त्री-प्रसङ्ग कितने बार करना चाहिये?" उत्तर मिला "जन्म भरमे एक बार।" फिर पूछा "यदि इतनेमे तृप्ति न हुई तो?" "अच्छा फिर साल में एक बार करे।" "उतनेसे भी मन न माने तो?" "तो फिर महीनेमे एक बार करे।" "इतनेपर भी न रहा जाय तो?" "अच्छा फिर महीनेमें दो बार कर सकते हो,

परन्तु जल्दी मृत्यु होगी।" "इतनेपर भी शान्ति न मिले तो ?" "तो फिर ऐसा करे कि अपने कफनका सब सामान लाकर घरमे पहिले रखदे और फिर जैसा मनमे आवे वैसा किया करे। क्योकि न मालूम किस समय उसकी मौत आजावे और उसे खाडाले।"

इस प्रकार हे शिष्य! वैज्ञानिक लोग ऋषि मुनि जन तथा शास्त्र सभी इस 'वीर्य' नामक सर्वोत्तम सार धातुकी महिमा गाते है और इसके धारणको ही ब्रह्मचर्य कहते है। शिव-सहितामे भी लिखा है कि **"मरण विन्दु-पातेन"** (Sensuality is Death) अर्थात् वीर्यका नाश ही मृत्यु है। और ब्रह्मचर्य (वीर्य-रक्षा) ही जीवन है (Chastity is Life)। इसलिए सर्वश्रेष्ठ इस ब्रह्मचर्य तपको अवश्य धारण करना चाहिए। चाहे तुमने पहले अज्ञान-वश होकर अपना नाश किया हो तो भी हतोत्साह नही होना चाहिये। भूल सबसे होती है। यदि मनुष्य भटकता भटकता भी सीधे रास्तेपर आजाता है तो वह भटका हुआ नही माना जाता। इसलिए जो समय गया सो गया, अव जो रहा है उसके सदुपयोग करनेमे प्रमाद नही करना चाहिए।

**शंका** — भगवन्! आपके उपदेशसे मुझे अव ब्रह्मचर्य-पालनकी उत्कट इच्छा हो रही है, अत कृपा करके कुछ ऐसे नियम वतलाइये जिससे मै ब्रह्मचर्यका पालन कर सकू ।

**उत्तर** — प्रिय वत्स! तुम्हारी उत्कट इच्छा है तो **"ब्रह्मचर्य ही जीवन है"** इस पुस्तकानुसार मै कुछ तुम्हे थोडेमे

ब्रह्मचर्य-पालनके नियम बतलाता हूँ। जिन नियमोके पालन करनेसे ब्रह्मचर्य-अवस्था (विद्यार्थी-अवस्था) मे ही क्या, परन्तु गृहस्थमे रहकरके भी लोग ब्रह्मचारी बन सकते हैं। ऋषियो का सिद्धान्त है :—

**"ऋतुकाले स्वदारेषु सगतिर्या विधानतः।**
**ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाऽऽश्रम-वासिनाम्॥"**

—श्रीयाज्ञवल्क्य

अर्थात् ऋतुकालमे अपनी स्त्रीसे (धर्मपत्नीसे) विधियुक्त अर्थात् शास्त्राज्ञानुसार केवल सन्तानके हेतु समागम करने वाला पुरुष गृहस्थाश्रममे रहते हुए भी ब्रह्मचारी ही है। श्रीमनु महाराज कहते हैं कि, "महीनेमे ऋतुकालमे केवल दो ही रात्रिमे जो धर्म-शास्त्रानुसार स्त्री-सेवन करता है वह धर्मात्मा पुरुष स्त्री रहते हुए भी ब्रह्मचारी है।"

(अ० ३ श्लो० ५०)

यहाँ ऋतुकाल शब्दका अर्थ है—स्त्रीके रजो-दर्शनके दिन से लेकर १६ (सोलहवें) दिन तकका समय। मनुस्मृतिमे भी आया है :—

**"ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः।**
**चतुर्भिरितरैः सार्द्धमहोभिः सद्विगर्हितैः॥"**

(अ० ३ श्लो० ४६)

अर्थात् शोणित गिरनेके दिनसे १६ रात्रि-पर्यन्त स्त्रीका ऋतुकाल माना जाता है। शास्त्र-निन्दित प्रथम चार दिन भी इसीमे सम्मिलित हैं। जैसे पहिले चार दिनोंमे स्त्री-सेवन करनेके लिए शास्त्र निषेध करता है, वैसे शेष दिनोमे भी

यदि एकादशी, त्रयोदशी व चतुर्दशी आदि व्रतका दिन और चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदि विशेष अवसर तथा शिवरात्रि व नवरात्र आदि कोई महान् दिन आया हो, अथवा घरमे कोई चिन्ता-जनक दुर्घटना हुई हो वा अस्वस्थ अवस्था हो तो काम-रिपु चरितार्थ करना पूर्ण अधर्म व महापाप होगा। इसलिये गृहस्थ धर्मानुकूल ही चलना चाहिये। इससे ही लोग गृहस्थमे ब्रह्मचारी बन सकते हैं और घरमे जैसे चाहे वैसे शूरवीर श्रेष्ठ पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न कर सकते हैं।

**शंका**:— भगवन्! आपने कहा कि लोग जैसे चाहे वैसे शूरवीर श्रेष्ठ पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न कर सकते है, यह बात समझमे नही आई। मैं तो समझता था कि प्रारब्धके अनुसार ही पुत्र-पुत्रियाँ प्राप्त होती है, इसमे हमारी इच्छा तथा पुरुषार्थसे क्या होगा?

**उत्तर** — प्रिय वत्स! यह बात सत्य है कि सन्तानकी प्राप्तिमे प्रारब्ध-कर्म हेतु पडते है परन्तु वे प्रारब्ध-कर्म भी बनते तो पुरुषार्थसे ही है। जो कर्म हम करते है वे कर्म उस समय (करते समय) **पुरुषार्थ** कहलाते हैं और फल देते समय **प्रारब्ध** कहलाते हैं। अत प्रारब्धको मानते हुए, पुरुषार्थ का महत्त्व कम नही होता। इस जन्ममे जैसे पहिले जन्मो मे किए हुए कर्मोका फल मिलता है, वैसे इस जन्ममे किए हुए कर्मोंका भी फल मिलता है, अर्थात् कुछ कर्म इस जन्म मे भी फल देते है। इसी कारण इस जन्मका पुरुपार्थ भी सन्तानोत्पत्तिमे सहायक होता है। प्रारब्ध यदि शिथिल है तो तीव्र पुरुपार्थसे कट सकता है। अत श्रेष्ठ पुत्रादि-

सन्तान-दायक प्रारब्ध यदि शिथिल है तो उसे शास्त्र और गुरु-जनोंके आदेशके अनुसार पुरुषार्थ करके मनो-वाञ्छित सन्तान प्राप्त किया जा सकता है। इस विषयमें विस्तारसे न कहकर मैं तुझे थोड़ा संकेत कर देता हूँ। हे शिष्य ! पूर्वजन्मोंके कर्मोंके अतिरिक्त यहाँकी चार पाठशालाओंका भी सन्तानके अन्तःकरणपर प्रभाव पडता है। उस प्रभाव के अनुसार सन्तान शूरवीर, तेजस्वी, ओजस्वी, विद्वान् आदि बन सकती है।

**शंका :**— भगवन् ! वे चार पाठशालाएँ कौनसी हैं, यह भी कृपा करके बतावें।

**उत्तर :**— हे शिष्य ! (१) गर्भ-पाठशाला (२) गोद-पाठशाला (३) गृह-पाठशाला और (४) बाह्य-पाठशाला। परन्तु हे तात ! संस्कार डालनेके नाते गर्भ-पाठशालाका महत्त्व सबसे अधिक है। जैसे पक्के घड़ेकी अपेक्षा कच्चे घडेपर नक्शा सुगमतासे तथा स्थायी निकल सकता है, उसी प्रकार गर्भ-अवस्थामें शूरवीरता, विद्वत्ता, भक्ति, अथवा ज्ञान आदि अन्य किसी भी प्रकारके जैसे संस्कार पडते है, वैसी ही शूरवीर, विद्वान्, भक्त अथवा ज्ञानी आदि रूपसे सन्तान पैदा होती है। इसी दृष्टिसे हम कह रहे थे कि लोग जैसे चाहे वैसे शूरवीर, विद्वान् आदि रूपसे श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं।

**शंका .**— भगवन् ! आपकी कृपासे यह तो समझमें आगया कि गृहस्थ-समाज यदि पुरुषार्थ करे तो शूरवीर, ज्ञानी आदि रूपसे मनो-वाञ्छित सन्तान उत्पन्न कर सकता है। किन्तु यह

समझमे नही आया कि पुत्र अथवा पुत्रीके उत्पन्न करनेमे लोगोका पुरुषार्थ सहायक कैसे होता है।

**उत्तर** – हे शिष्य ! शास्त्रोके अनुसार इस विषयमे यह सकेत है कि सन्तानकी इच्छावाला ऋतुकालके सोलह (१६) दिनोमेसे पहिलेके चार दिनोको पूर्णतया वर्जित समझकर शेष बचे हुए बारह (१२) दिनोमेसे भी एकादशी, अमावस्या आदि उपर्युक्त विशेष दिनोको छोडकर जो युग्म-रात्रियाँ है, अर्थात् जो छठी, आठवी, दशवी, बारहवी आदि युग्म-रात्रियाँ है, उनमे शास्त्र-आज्ञा-अनुसार किसी एक अथवा अधिकसे अधिक दो रात्रियोमे गृहस्थ धर्मका पालन करनेसे पुत्रकी उत्पत्ति होती है। तथा अयुग्म रात्रियोमे अर्थात् पाँचवी सातवी, नवी, ग्यारहवी आदि रात्रियोमेसे किसी एक रात्रिको शास्त्र-विधि-अनुसार गृहस्थ धर्मका पालन करनेसे पुत्रीकी उत्पत्ति होती है। इस विषयमे स्मृति-वचन इस प्रकार है —

**"ऋतु' स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रय षोडश स्मृताः ।"**

**"तासामाद्याश्-चतस्रस्तु वर्जनीयैकादशी च या ।**

**त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥"**

**"पर्व-वर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रति-काम्यया ।**

**युग्मासु पुत्रा जायन्ते पुत्र्योऽयुग्मासु रात्रिषु ॥"**

अत• हे शिष्य ! इस स्मृतिके कथनानुसार जो लोग ऋतुकालके बाद अर्थात् रजोदर्शनसे लेकर सोलह रात्रियोंके बाद सहवास करते हैं उन्हे सन्तानकी उत्पत्ति नही होती।

अतः उनका वह सहवास दानरूप नही अपितु विलास-मात्र है । अब हे शिष्य ! तुझे यह समझमे आगया होगा कि लोग गृहस्थमे भी ब्रह्मचर्य-पालन कर सकते है और शास्त्र-विधि-अनुसार पुरुषार्थ-द्वारा जैसे चाहे वैसे शूरवीरता आदि श्रेष्ठ-गुण-सम्पन्न पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न कर सकते हैं ।

इसलिए हे शिष्य ! अब मैं तुम्हे **ब्रह्मचर्य-पालनके नियम** बताता हूँ, ध्यान देकर सुनो :—

(१) **पवित्र-संकल्प** :– जिन सकल्पो ( विचारो ) मे पवित्रता और आत्म-विश्वास भरा हुआ हो उन्हे **पवित्र संकल्प** कहते हैं । यदि सोते समय मनुष्य ऐसा सोचकर सोवे कि, "आज मैं चार बजे उठूगा" तो निश्चय जानो कि उस मनुष्य की आँखे चार बजे अवश्य खुल जाएगी । सामान्य विचारोंमे यदि ऐसी शक्ति है तो श्रद्धा व पवित्र-भाव-पूर्ण विचारोमें कितनी प्रचड शक्ति होती होगी, इसका तुम ही विचार कर सकते हो ।

श्रीस्वामी शकराचार्यजी महाराजने कहा है, **"मन एव मनुष्याणां कारण बन्ध-मोक्षयोः"** अर्थात् ब्रह्मचर्य-सपन्न पवित्र मन मोक्षका कारण है तथा विषय-वासना-दूषित अपवित्र मन ही बन्धनका कारण है । क्योकि मनुष्यकी सुगति व दुर्गति उसके भले बुरे सकल्पोपर ही सर्वथा निर्भर है । पापमय विचारोसे वह पापात्मा और पुण्यमय विचारोसे वह निःसदेह पुण्यात्मा बन जाता है । उच्च व पवित्र विचारोसे, कितना ही पतित मनुष्य क्यो न हो, वह भी उच्चातिउच्च पवित्रात्मा बन सकता है ।

इसलिये पवित्र सकल्पोका स्रोत बहाते हुए मनको ऐसी आज्ञा करनी चाहिये कि हे मन ! तू भगवान्‌को सर्वव्यापक समझ करके यह सकल्प कर कि, "हे भगवन् ! आप सर्वान्तर्यामी व परमकृपालु है और आपकी कृपासे ही मुझ मे सुख, समृद्धि, शान्ति, आरोग्य, निर्भयता आदि शुभ गुण सञ्चार कर रहे है, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है। पहिलेसे मैं अधिक स्वस्थ हूँ, अधिक निर्भय हूँ, अधिक शान्त तथा निर्विकारी हूँ। वृत्तियाँ अब प्रतिदिन पवित्र हो रही हैं, दृष्टिमे प्रत्येक स्त्रीके लिये मातृभाव समाया है, कानोमे ब्रह्मचारियोका यश गूज रहा है। मै अब ब्रह्मचर्यका पालन कर रहा हूँ, मेरा उद्धार हो रहा है।" इस प्रकार पवित्र सकल्प करने चाहियें।

(२) **पवित्र-मातृभाव-दृष्टि** — श्रीहनुमान्‌जीकी तरह प्रत्येक स्त्रीकी ओर यदि देखना ही हो तो "**मातृवत् परदारेषु**" अर्थात् "**परतिय मातु-समान**" इसी पवित्र **दृष्टिसे** देखना चाहिये। वास्तवमे किसी स्त्रीकी ओर आँख उठाकर न देखना ही पवित्र दृष्टि बनाए रखनेका सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। यदि कोई स्त्री सामने आ भी जाय तो उसी क्षण अपनी दृष्टि नीची करलो, दृष्टि ऊपर न उठाओ और तत्काल मनमे भगवन्नाम स्मरण अथवा 'माँ' 'माँ' इस महामन्त्रका निरन्तर जप करने लग जाओ। नि सदेह तुम्हारी पापमय वासनाएँ दग्ध हो जाएँगी और मन पूर्णतया पवित्र बना रहेगा। और कभी स्त्रियोसे एकान्तमे बातचीत भी नहीं करनी चाहिये। भक्त वामन कहते हैं —

" यदपि मात भगिनी सुता तऊ न बैठे पास ।
प्रबला हैं ये इन्द्रियाँ करो न तुम विश्वास ॥"

श्रीलक्ष्मणकी तरह प्रत्येक स्त्रीको जगज्जननी श्रीजानकीजी का ही रूप समझकर, मातृभावसे उसे मन ही मन प्रणाम करो ।

नीच पुरुष सती स्त्रियोकी ओर भी पापकी ही दृष्टिसे देखा करते हैं । भला ऐसे नारकी पुरुषोका कैसे उद्धार हो सकता है । भक्तदास वामन कहते हैं:—

" चटक मटक नित कुमति बन तकत चलत चहुँ ओर ।
वामन ! ऐसे अधम नर पड़े नरकमें घोर ॥ "

ऋष्यमूक पर्वतपर जब श्रीसीतादेवीके गहने श्रीलक्ष्मणजी के सामने पहिचाननेके लिए रखे गए तब श्रीलक्ष्मणजी क्या ही उत्कृष्ट उत्तर देते हैं :—

" नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले ।
नूपुरे त्वभिजानामि, नित्य पादाऽभिवन्दनात् ॥ "

" इन सब गहनोमे केवल नूपुर ही मेरे पहिचानके हैं जो प्रतिदिन चरण-वन्दना करते समय मैं श्रीसीता माताके चरणो मे देखता था । इन कुण्डलोको तथा अन्य गहनोको मैं नही जानता; क्योकि चरणारविंदको छोड़कर मैंने दृष्टि उठाकर कभी ऊपर देखा ही नही । " अहह ! धन्य है श्रीलक्ष्मणजी आपकी यह आदर्श शिक्षा ! यही कारण था कि आप चौदह वर्ष तक अटूट ब्रह्मचर्य-पालन कर सके और मेघनाद जैसे प्रबल शत्रुको भी मार सके । मेघनाद तो केवल

'इन्द्र-जीत' ही था परन्तु आप उससे भी बढकर 'इन्द्रिय-जीत' थे। श्रीमच्छङ्कराचार्य कहते है :—**"जित जगत् केन ? मनो हि येन।"** सत्य है, एकमात्र 'इन्द्रिय-जीत' ही सम्पूर्ण त्रैलोक्यको जीत सकता है।

(३) **सादी रहन सहन** —ब्रह्मचर्य-रक्षाके लिए हमे अपना जीवन क्रम "Simple living and high thinking" अर्थात् "सरल जीवन और ऊँचे विचार" इस उपदेशके अनुसार अत्यन्त सीधे-सादे प्रकारका रखना होगा। और वैसे बडप्पनका चिन्ह वल्कि रहस्य भी सादापन ही है। "Simpleness is itself greatness" ससारमे आज तक जितने महापुरुष हुए है वे सब सादी रहन-सहनसे ही हुए हैं।

और नकाशीदार लोटे या ग्लासमे जैसे सर्वत्र मैल भरा रहता है, उसी प्रकार सादी रहन-सहनको छोडकर फैशनेबुल व चचल स्त्री पुरुषोमे भी काम, क्रोध, अहङ्कारादि मल विशेष-रूपसे भरा रहता है। श्रीनारायणजी कहते हैं :—

**"भीतरसो मैलो हियो, बाहर रूप अनेक।**
**नारायण तासो भलो, कौवा तन मन एक॥"**

अत यदि हम ब्रह्मचर्य-पालन करनेके लिये अपने हृदय को सरल व पवित्र बनाना चाहते है तो हमे ऊपरका व्यवहार, आहार, व वेष इत्यादि भी पवित्र व सादे रखने पडेगे। इसलिए सादगी ही जीवन है और सजावट ही नाश है, यह तत्त्व-पूर्ण रीति सदा ध्यानमे रखनी चाहिये।

(४) **सत्सगति** :—सत्सगका अर्थ है सत् वस्तुका सग। सत् वस्तुकी प्राप्ति सत्पुरुषोमे ही होती है। इसलिये

सत्पुरुषोके सगको भी सत्सग कहते है। सत्सगसे ही सत् और असत्का विवेक होता है, भले बुरेका ज्ञान होता है, किन्तु ऐसा सत्संग विना भाग्यके नही मिलता। श्रीगोस्वामी-जीने भी कहा है—

**"बिनु सतसंग विवेक न होई।**
**राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥"**

सत्य है **"सठ सुधरहिं सत्संगति पाई।"** कैसे ? जैसे, **"पारस परसि कुधातु सुहाई।"** जैसे सभी सुधारोकी जड सत्सग है, उसी प्रकार सम्पूर्ण दुराचार और व्यभिचारकी जड एक कुसगति ही है। पण्डित विष्णुशर्मा कहते हैं—

**"वरं प्राण-त्यागो न पुनरधमानामुपगमः।"**

अर्थात्—प्राण त्याग देना अच्छा है किन्तु नीचोंके पास जाना तक बुरा है। 'जैसा सग वैसा रग' यह प्रकृति का नियम है। जैसे धूएँके सगसे सफेद मकान भी काला पड जाता है और लताके सगसे कीडा भी लताके समान हरा बन जाता है वैसे दुर्जनके साथ मनुष्य दुर्जन बन जाता है और सज्जनके साथ सज्जन। किसी कविने सही कहा है—

**"कामीके संग काम जागै है पै जागै है,**
**कायरके सग शूर भागै है पै भागै है।**
**काजरकी कोठरीमें कैसो हू सयानो जाय,**
**एक रेख काजरकी लागै है पै लागै है॥"**

अत. ब्रह्मचारियोको तथा उन्नति चाहनेवालोको सज्जनों का सग अवश्य करना चाहिये।

(५) **सद्ग्रन्थाऽवलोकन** — जहाँ सन्मित्र व सज्जन-सगति दुर्लभ हो वहाँ सद्ग्रन्थोकी सगति करनी चाहिये। सद्ग्रन्थो द्वारा हम ससारके एकसे एक महात्माकी सगति रातदिन यथेष्टरूपसे कर सकते हैं। जैसे स्थूल शरीरकी स्थितिको ठीक रखनेके लिए अन्न जल व वायु इत्यादिकी आवश्यकता है उसी प्रकार मानस ढाँचेको ठीक रखनेके लिए सद्ग्रन्थो का अवलोकन भी अत्यन्त आवश्यक है।

किन्तु उपन्यास तथा शृङ्गार-रस-पूर्ण ग्रन्थ कभी नही पढने चाहिये। उनको पढना मानो अपने हाथ अपने मकानमे दियासलाई लगाना है। क्योकि शृङ्गारी पुस्तके ब्रह्मचारीको भी व्यभिचारी बना देती है। अच्छे अच्छे सच्चरित्र बालक बालिकाएँ भी कुग्रन्थोके पठन व श्रवणसे दुश्चरित्र बन गई हैं। अत कुग्रन्थोका सर्वथा त्याग करके सद्ग्रन्थ व चरित्र-ग्रन्थोको ही पढना चाहिये।

(६) **घर्षण स्नान** – ब्रह्मचर्यंकी रक्षाके लिए मन और शरीरका पवित्र रहना अत्यन्त आवश्यक है। क्योकि गदे शरीरसे मन भी गदा बन जाता है। गन्दगी रोगका घर है। अत प्रत्येक व्यक्तिको चाहिये कि वह शरीरकी स्वच्छता मे कभी आलस्य न करे। शरीरको स्वच्छ रखनेके लिए घर्षण-स्नान अत्यन्त आवश्यक है। क्योकि घर्षण-स्नानसे त्वचाके सब छिद्र खुलजानेके कारण भीतरसे असख्य दोप पसीनेके रूपमे बडी आसानीसे बाहर निकल जाते है और बाहरकी शुद्ध हवा भीतर जानेसे शरीर नीरोग बन जाता है। घर्षण-स्नानसे मनुष्य अधिक तेजस्वी, नीरोग,

निर्विकारी, ब्रह्मचारी और दीर्घजीवी सहजमे वन सकता है। घर्षण-स्नानकी शास्त्रीय विधि :—स्नानके लिए प्रातः-काल सबसे अच्छा समय है। जल ताजा व स्वच्छ होना चाहिए। अपने हाथोसे खीचा हुआ कुएँका जल बहुत अच्छा होता है। स्नानके पहिले सारा शरीर सूखे तौलिए से खूब जोरसे रगडो, रगडनेमे कुछ कमी न करो और कुछ डरो भी मत। पर हाँ, उचित जगहपर उचित जोर लगाओ, नही तो मारे रगडोके आँखे ही फोड लोगे। तौलिएसे रगडनेके बाद हाथसे रगड़ो। हाथसे रगडनेसे शरीरमे एक बिजली पैदा होती है जो शरीरके तमाम रोगोंको हटाती है। इसलिए शरीरका प्रत्येक अवयव अच्छी तरहसे रगडना चाहिए। पेटको ठीक रगडनेसे पेटके अनन्त विकार नष्ट होते हैं और शौच भी साफ होता है। पहिले सिर और गला भिगोओ, फिर गीले तौलिएसे क्रमशः हाथ, कधे, सीना, पेट, पीठ, कमर, टाँग आदि खूब रगडो। फिर सिरपरसे सम्पूर्ण शरीरपर यथेष्ट पानी डालो। तत्पश्चात् सूखे तौलिएसे सम्पूर्ण शरीरको पोछ डालो। क्योकि शरीर को साफ नही पोछनेसे ही गीलापनके कारण मनुष्यको प्राय दाद, खुजली आदि हुआ करती है और खुजलाते २ लड़कोको बुरी आदते भी लग जाती है। फिर शरीरके सूखजानेके बाद अपने वस्त्र पहनलो। देखो एक ही दिनके घर्षण-स्नानसे तुम्हारे शरीरमे कितना उत्साह, आनन्द, फुर्ती व काँति दिखाई देती है। जब एक ही दिनमे इतना हो जाता है तो नित्यप्रति इस प्रकार घर्षण-स्नान करनेसे मनुष्य

का आनन्द, आरोग्य, शान्ति व काँति और भी अधिक वढेगी, इसमे सन्देह ही क्या है ।

(७) **सादा व ताज़ा अल्पाहार** :—जिसे ब्रह्मचारी वनना है उसे सादा और अल्पाहारी अवश्य ही वनना पडेगा । अधिक भोजन करनेवाला सौ जन्ममे भी ब्रह्मचारी नही वन सकता । क्योकि जोरकी आँधी जैसे पेडोको उखाड डालती है, वैसे ही कामदेव पेटू मनुष्यको पटक २ कर मार डालता है । इसीलिए यदि तुम्हे वीर्यवान् और आरोग्यवान् वनना हो, स्वप्नदोपसे और अकाल मृत्युसे वचना हो, तो तुम्हे अवश्य ही सादा और अल्प आहार करना होगा ।

एक समय ईरानके वादशाह "वहमन" ने एक श्रेष्ठ वैद्यसे पूछा "दिन रातमे मनुष्यको कितना खाना चाहिए ?" उत्तर मिला "सौ दिरम्" अर्थात् उनतालीस ( ३९ ) तोला ।" फिर पूछा "इतनेसे क्या होगा ?" हकीम वोला "शरीर-पोपणके लिए इससे अधिक नही चाहिये, इससे अधिक जो कुछ खाया जाता है वह केवल वोझ ढोना और आयुको खोना है ।" यह नियम है कि आहार, निद्रा, भय, मैथुन, क्रोध, कलह आदि वाते जितनी वढाई जायँ उतनी ही वढती जाती है और जितनी कमकी जायँ उतनी ही कम होती है । जो मनुष्य अपने भोजनको वढाता जाता है, वह आलसी और वेकार वनता जाता है । भक्तदास वामन कहते है —

**"अधिक वायुके भरनसे, फूटबाल फट जाय ।**
**वड़ी कृपा भगवानकी, पेट नहीं फट जाय ।।"**

"यद्यपि न दीखत पेट फटा, फटत मनुजकी देह।
रोग भयंकर होत है, बने नरकका गेह॥"

अत हमे स्वास्थ्यके लिए भोजन करना चाहिए, न कि रोगी बननेके लिए। श्रीमनु महाराज कहते है :—

"अनारोग्य-मनायुष्य-मस्वर्ग्यं चाऽतिभोजनम्।
अपुण्य लोक-विद्विष्टं तस्मात् तत् परिवर्जयेत्॥"

अतिभोजन रोगोको बढानेवाला, आयुको घटानेवाला, नरकमे पहुँचानेवाला, पापको करानेवाला और लोगोमे निन्दित करानेवाला है। अत बुद्धिमान्को चाहिये कि किसी बढिया पदार्थके स्वादसे आवश्यकतासे अधिक कदापि न खाए।

भक्तदास वामन कहते है —

निकम्मा कौन है ? पेटू। महापुरुषकी क्या पहिचान है ? जो अपनेको सबसे छोटा समझता हो। महापुरुष कैसे बने ? मनको वशमे करनेसे। मन कैसे वशमे हो ? कम खानेसे। कम खाना कैसे सीखे ? आहारको थोडा घटानेसे। आहार कैसे घटे ? रोज सादा और प्राकृतिक भोजन करनेसे। सादा भोजन कैसे प्रिय लगे ? भूखके समय खानेसे और प्रत्येक ग्रासको खूब अच्छी तरह चबानेसे। भूखका समय कैसे जाने ? नियम बाँध लेनेसे और बीचमे कुछ भी न खानेसे। यदि मनुष्य सादा और अधिक नमक मिर्च मसालोसे रहित सात्त्विक भोजन करे तो ब्रह्मचर्यको बडी आसानीसे धारण कर सकता है। और प्रारब्धके अनुकूल होनेपर सौ ( १०० ) वर्षतक सुखीरूपसे जीवित रह सकता है। इसीके बलपर सुप्रसिद्ध

अमेरिकन पत्रकार एडिसन कहते है "मै सौ वर्ष पर्यन्त अवश्य जीवित रहूँगा ।" "If you can conquer your tongue only you are sure to conquer your whole body and mind at ease" "यदि तुम केवल जिह्वाको वशमे करो तो तुम्हारे मन व शरीर अनायास वशमे हो जायेंगे, इसमे कोई सन्देह नही है ।" यदि तुम जिह्वाको वशमे नही करोगे तो मन वशमे न रहनेके कारण, ब्रह्मचारी वनना असभव है । भक्तदास **वामन** कहते हैं —

**"पालो पत्ती खाय जो, उन्हे सतावे काम ।**
**नितप्रति हलवा निगलते, उनकी जाने राम ।।"**

अत जिन्हे वीर्यकी रक्षा करनी है, उन्हे सदा सादा स्वच्छ और स्वल्प भोजन करना चाहिये । अधिक मिर्च मसाले वडे कामोत्तेजक होते है । लाल मिर्चोंको तो विल्कुल नहीके वरावर ही खाना चाहिये । इस प्रकार यदि तुम रहो तो ब्रह्मचर्य पालन करना अनायास हो जायगा ।

(८) **निर्व्यसनता** — जो पुरुष दुर्व्यसनी है, वह कभी ब्रह्मचारी नही वन सकता । वैसे तो शराव, जूआ इत्यादि कई दुर्व्यसन है किन्तु आजकल तम्वाकूका दुर्व्यसन सवसे वढा हुआ है । अमेरीकन डाक्टरोका कथन है कि इससे वीर्य फोरन उत्तेजित होकर पतला पडता है और उससे शारीरिक, मानसिक, आर्थिक व सामाजिक भयकर हानि होती है । इससे खाँसी, टीवी व कैंसर आदि भयकर वीमारियाँ होती है । शुद्ध हवाको ज़हरीली वनाकर अपने साथ ही साथ लोगोका भी स्वास्थ्य विगाडना घोर पाप है ।

(९) **दो वार मल-मूत्र-त्याग** — शौच दो वार जानेकी

आदत डालनी चाहिए। यदि दूसरी वार दिशा न मालूम हो तो भी जाना चाहिए। कुछ दिनके बाद आपसे आप दिशा होने लगेगी। अनेक रोगोकी जड़ मल-बद्धता (कब्जी) ही है। और मल-बद्धता ब्रह्मचर्यका घातक है, क्योकि मलकी गर्मीके कारण भीतरकी सब इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो जाती है और इन्द्रियों के क्षुब्ध होनेपर फिर मनुष्य रोगी होनेपर भी बडा कामी बन जाता है। इसलिये पेटको साफ रखनेके लिए सुबह शाम दो बार नियमित समयपर मलका त्याग करना परम आवश्यक है।

(१०) **इन्द्रिय-स्नान :—** शौचके समय इन्द्रियको स्वच्छता से धोना चाहिए। पेडकी जडको पानी देनेसे जैसे सम्पूर्ण पेड हरा भरा और चैतन्य-मय बन जाता है वैसे ही तमाम नसोकी जडको (उपस्थ इन्द्रियके मुखको) ठडे पानीकी धारसे ठडाकरनेसे सम्पूर्ण शरीर भी ठडा व शान्त हो जाता है। मनकी चचलता नष्ट होती है और स्वप्नदोष भी नही होता। हमारे पूर्वज लोग जो लघुशकाके समय पानी साथमे ले जाते थे, उसका कारण यह था कि वे इस इन्द्रिय-स्नानके गुप्त रहस्यको जानते थे।

(११) **नियमित-व्यायाम :—** जिसे ब्रह्मचर्यका पालन करना है उसे प्रतिदिन नियमपूर्वक व्यायाम करना अत्यन्त आवश्यक है। व्यायामसे मुख मोडनेवाला मनुष्य कभी निर्विकारी और सच्चरित्र नही बन सकता। व्यायामसे मन और तन दोनो नीरोग, निर्विकार और पुष्ट बन जाते हैं। जिससे कसरत न बन पडती हो, ऐसे बहुत दुर्बल रोगी तथा क्षयी मनुष्यको टहलनेसे बढकर सुखकर तथा आरोग्य-वर्धक दूसरा व्यायाम नही है।

**(१२) जल्दी सोना और जल्दी जागना**—

जिन्हे वीर्य-रक्षा करनी है और आरोग्य-सपन्न तथा भाग्यवान् वनना है उन्हे जल्दी सोने व जल्दी जागनेका अभ्यास अवश्य ही डालना चाहिए। दस वजेके पहिले ही सो जाना चाहिए और चार बजेके पहिले उठ जाना चाहिए। क्योकि स्वप्नदोष प्राय रात्रिके अन्तिम प्रहरमे ही हुआ करता है। प्रात कालको अमृतवेला कहते है। सचमुच सृष्टि के इस प्रातःकालिक दिव्य अमृतको त्यागनेवाला पुरुप जल्दी वूढा व मृतक तुल्य हो जाता है। "Early to bed and early to rise, makes a man healthy, wealthy and wise" "प्रात कालमे उठनेवाला मनुष्य आरोग्यवान्, भाग्यवान् और ज्ञानवान् होता है।" अत जिन्हे पूर्वजोकी तरह वीर्यवान्, ज्ञानवान् तथा सामर्थ्य-सपन्न वनना हो उन्हे प्रतिदिन ब्राह्म-मुहूर्तमे ही उठना चाहिए और सवसे पहिले **आत्म-चिंतन** करना चाहिए, क्योकि प्रात-कालमे जैसा चितन किया जाता है वैसा ही दिन भर वना रहता है। और माता, पिता व गुरुजनो को सोते व जगते समय चरण छूकर प्रणाम करना चाहिए। यदि वे न हो तो हृदयमें उनका ध्यान करके नमस्कार करना चाहिये।

**(१३) योगासनाभ्यास** — योगासन शारीरिक विकास व ब्रह्मचर्यके लिए वहुत उपयोगी है। योगासनोका अभ्यास शौच, स्नान, व्यायाम आदिसे निपट कर, विना कुछ खाये पिये, प्रात साय ऐसे स्थानपर करना चाहिये जहाँ शुद्ध वायु आती हो और प्रकाश भी पर्याप्त हो। किन्तु याद रहे कि (१) योगासनोका अभ्यास करते समय सादा सात्त्विक

अल्पाहार अत्यन्त आवश्यक है। (२) आसनोका अभ्यास किसी अभ्यासी गुरु-द्वारा ही करना चाहिए। (३) आसनो का अभ्यास करते समय श्वासका अन्दर आना और बाहर निकलना ये दोनों क्रियाये बहुत धीरे धीरे होनी चाहिये। (४) यदि शरीरमे वीर्य-सम्बन्धी कोई विकार हो तो आसनो का अभ्यास करते समय गुदा-सकोचनपर (मूल-बन्धपर) विशेष ध्यान देना चाहिए। यह वीर्य-रक्षामे अत्यन्त सहायक पडता है।

(१४) **उपवास** — "**आहारं पचति शिखी दोषान् आहार-वर्जितः**" ॥ आयुर्वेद ॥ अर्थात् अग्नि भोजनको पकाती है और उपवास दोषोंको पकाता है अर्थात् नष्ट करता है।" उपवास अपनी शक्ति-अनुसार ही रखना चाहिए। उपवास से शारीरिक व मानसिक दोष समूल नष्ट हो जाते है और आत्म-शक्ति बढती है। तथा मनमे जितनी कामोत्तेजक भावनाएँ उत्पन्न होती है वे सब नष्ट होने लगती है; इसलिए ब्रह्मचर्यके लिए उपवास बहुत ही हितकर है।

(१५) **दृढ़ प्रतिज्ञा** :— जितने भी कार्य होते है उनकी सिद्धिमे दृढ प्रतिज्ञा प्रधान कारण मानी जाती है, क्योकि दृढ प्रतिज्ञासे मनुष्यमे एक अलौकिक शक्ति उत्पन्न होती है जिससे उनके कार्य-सिद्धिमे जितनी भी बाधाएँ आती है, उन सबको वह ठुकराकर अपने लक्ष्यको प्राप्त कर सकता है और श्रीभीष्म पितामह, श्रीलक्ष्मण व श्रीअर्जुन आदि महापुरुषोकी तरह, प्रलोभन-पूर्ण परिस्थितियोमे भी अपने मनको विचलित होने नही देगा। इसलिए ब्रह्मचर्य आदि महान् सिद्धियोको प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको दृढ-प्रतिज्ञ रहना ही चाहिये।

(१६) **सततोद्योग** — यदि तुम्हे ब्रह्मचारी बनना है तो तुम्हे मनको सदा किसी न किसी उद्योग ( कार्य ) मे लगाए रखना चाहिए। क्योकि बेकार रहनेसे साधारण मनुष्योके मनमे अशुभ सकल्प उत्पन्न हुआ करते हैं। कहा भी है कि, "Empty mind is devil's workshop" अर्थात् बेकार मन शैतानका घर है।" यदि तुम शुभ कर्मोमे अथवा आत्म-चिन्तनमे लगे रहोगे तो मनको कभी अशुभ सकल्प करनेका अवसर ही नही मिलेगा। कहा है :– "Constant occupation prevents temptation" अर्थात् शुभ कर्मोमे लगे हुए मनुष्यके पास प्रलोभन नही आता। इसलिए ब्रह्मचर्यमे सहायक पवित्र मनको कायम रखनेके लिए सततोद्योगी रहना चाहिए।

(१७) **ईश्वर-भक्ति** — अपने मनको शान्त व पवित्र बनानेके लिए 'भगवद्-भक्ति' एक-मात्र सबसे श्रेष्ठ साधन है। क्योकि यह नियम है कि जब जिस किसीकी भक्ति जिस भावनासे की जाती है उस समय मन भी उसी भावनाके अनुरूप ही बन जाता है। और भगवद्-भक्ति करते समय उपासककी वृत्ति ईश्वरको सबसे श्रेष्ठ पवित्र व शुद्धरूपसे ग्रहण करती है और इस प्रकार ग्रहण करनेसे उपासककी बुद्धि ( वृत्ति ) भी स्वय सबसे श्रेष्ठ, पवित्र व शुद्ध होने लग जाती है। इसलिए अपने मनके अशुभ सकल्प, कामोत्तेजक भावनाओ व अपवित्रताको नष्ट करनेके लिए ईश्वर-भक्ति अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार हे शिष्य! ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिए कई

साधन, "ब्रह्मचर्य ही जीवन है" 'ब्रह्मचर्य' आदि पुस्तको मे लिखे हुए है। मैने तुम्हे प्रधान साधन थोडेमे बताए हैं। यदि इन नियमोको सुनकर, मनन करके इनपर चलोगे तो अवश्य तुम ब्रह्मचर्यका पालन कर सकोगे।

भर्तृहरिने भी सोचा कि "मैंने इतनी आयु तो भोगोमें गवाँ दी, अब तो मुझे वैराग्य-सपन्न व सचेत होकर ब्रह्मचर्य आदि साधनो द्वारा चित्तको वशमे करके एकान्तमें आत्मानन्द का अनुभव करना चाहिए।

क्योकि एकान्तमे जो आनन्द है वह कहीं नही है। कृष्णयजुर्वेदके तैत्तिरीय उपनिषद्मे आया है कि :—

जो नीरोग, जवान, दृढ, स्थूल, बलवान् व विद्वान् राजा है, उसमे मनुष्योके सुखोका अन्त है अर्थात् सब मनुष्योसे उसे अधिक सुख है। उससे सौगुना अधिक सुख मानव-गन्धर्वको ( एक अच्छे गवैयेको गाते समय ) है। उससे सौगुना अधिक देव-गन्धर्व ( देवताओके सामने गान करनेवालो ) को है। उनसे सौगुना अधिक सुख पितृलोकमे पितरोको है। उनसे सौगुना अधिक सुख अजानज देवोको है। उनसे सौ गुना अधिक कर्मदेवोको [जो कि अग्निहोत्रादि कर्म करके देवत्वको प्राप्त होते हैं, उनको] है। उनसे सौगुना अधिक मुख्यदेवो (ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु इन इकतीस) को है। उन मुख्यदेवोसे सौगुना अधिक सुख इन्द्रको है। इन्द्रसे सौगुना अधिक सुख गुरु बृहस्पतिको है। गुरुसे सौ गुना अधिक सुख प्रजापतिको है। प्रजापतिसे सौगुना अधिक सुख ब्रह्माजीको है, जिन्हे कभी दुःख होता ही नही है।

## सोरठा

"राजातें ब्रह्मान्त, कह्यो जु सुख सगरो लहै ।
रहत सदा एकान्त, काम-दग्ध जाको न हिय ॥"

अर्थात् इस प्रकार राजासे लेकर ब्रह्मा तक जितना भी सुख तैत्तिरीय श्रुतिने बतलाया है, उतना सारा सुख, काम-वासनाओ ( इच्छाओ ) से रहित मनवाले ज्ञानीको एकान्त देशमे आत्म-चिन्तन करते समय प्राप्त होता है ।

इस प्रकार सोचकर वह भर्त्तृ मन्त्री वनमे कन्द-मूलो से अपना जीवन निर्वाह करता हुआ, वही एक वट-वृक्षके नीचे अपना आसन लगा कर एकान्त-देशमे आत्म-चिन्तन ( साक्षी और ब्रह्मकी एकताके चिन्तन ) द्वारा आत्मानन्द का अनुभव करने लगा ।

जब यह वृत्तान्त मन्त्रियोने सुना तो वे बडे प्रसन्न हुए, किन्तु उन्हे यह चिंता भी हुई कि, 'यदि राजा कभी शिकारके लिए उसी वनमे जाते समय भर्त्तृको देख लेंगे तो हम सब झूठे बन जायँगे और राजा हम सबको दण्ड देंगे ।'

तब वे सब आपसमे मिलकर मन्त्रणा ( सलाह ) करके राजाके पास जाकर कहने लगे कि, "हे राजन् ! हमे पता लगा है कि वह भर्त्तृ मन्त्री मरनेके बाद प्रेत बनकर इस समीपवाले वनमे घूमता रहता है, अत॰ कृपया आप इस वनमे कभी न जायँ । क्योंकि वह जिसे देखता है उसके साथ बात-चीत करनेके बहानेसे उसे मार डालता है, परन्तु जो उसे देखते ही भाग जाता है, वह बच जाता है ।"

इस प्रकार उन मन्त्रियोके झूठे वचनोको, विना सोचे ही राजाने सच्चे मान लिये। और एक वार शिकार खेलते हुए राजा वही जा पहुँचे जहाँ भर्छु वृक्षके नीचे बैठे थे। बस उसे देखते ही [मन्त्रियोके डाले हुए झूठे सस्कारोके कारण असली भर्छुको देखनेके बाद भी उसे प्रेत मान कर] राजा वापिस घोडेको लौटाकर भागने लगे। भर्छुने बुलानेके लिए आवाज भी दी, किन्तु आवाजको सुन कर राजाको और भी अधिक भय हुआ और जल्दी जल्दी उस वनसे बाहर निकल गया।

जिस प्रकार हे शिष्य! जब उस राजाने उन ईर्ष्यालु मन्त्रियोके असत्य वचन सुने, तब भर्छुके प्रेत होनेका उसे निश्चय हो गया और भर्छुको प्रत्यक्ष सामने देखकर भी उसको प्रेत समझकर वहाँसे भाग गया, ठीक इसी प्रकार जब कोमल हृदयवाले जिज्ञासु जन द्वैत-वादियो (भेद-वादियो) के वेद-विरुद्ध असत्य वचन ( जैसे जीव जन्मने मरनेवाले है व ब्रह्मसे भिन्न हैं इत्यादि असत्य वचन ) सुनते है, तब अपने जीवपनेका और ब्रह्मसे अलगपनेका निश्चय उन्हे इतना दृढ हो जाता है कि फिर ब्रह्म-ज्ञानियोसे अद्वैत-वार्ताके सुननेसे ब्रह्मसे अभिन्न सत्-चित्-आनन्द अद्वितीय अपने असली स्वरूपका प्रत्यक्षरूपसे भान होनेपर भी अपने आपको कर्त्ता, भोक्ता तथा जन्मने मरनेवाला व ब्रह्मसे भिन्न जीव समझकर जन्म मरणके चक्करमे भटकते रहते हैं।

इसलिए हे शिष्य! जव तक तुम द्वैत-वादियो ( भेद-वादियो ) के वचन सुनते रहोगे तथा उन्हे सत्य मानते

रहोगे तब तक तुम्हे ब्रह्मसे अभिन्न आत्माका साक्षात्कार नही हो सकता। क्योकि भेद-भावनाके हृदयमे रहनेसे अभेद-भावनाका पूर्णरूपसे उदय नही होता। यदि थोडा उदय होता भी है तो फिर भेद-वादियोके वचनोको सुननेसे वह अभेद-भावना शिथिल हो जाती है। और जब तक भेद-भावना रहेगी तब तक "द्वितीयाद् वै भय भवति" इस श्रुतिके अनुसार भय रहेगा ही और जब तक भय इत्यादि दोष अन्तःकरणमे हैं तब तक जन्म मरणका चक्र नही छूट सकता। इसलिए हे शिष्य! यदि तुम्हे जन्म मरणादि दुःखरूप ससारसे छूटना है तो जब तक अपरोक्ष ज्ञान नही हुआ है तब तक भेद-वादियोके वेद-विरुद्ध वचन जैसे कानमे न पडें वैसा ही यत्न करना चाहिये अर्थात् भेद-वादियोके सगको छोडकर, केवल अद्वैत-वादी ब्रह्म-ज्ञानियो का ही सग करना चाहिये, जिससे तुम्हे आत्म-ज्ञान प्राप्त होगा और इस ससारके दु खोसे छूट जाओगे।

**शका** — भगवन्! यह तो मुझे समझमे आ गया कि मेरा कल्याण अद्वैत-वादी ब्रह्म-निष्ठ गुरुके सिवा नही हो सकता, किन्तु आपने कहा था कि गुरु और वेद भी मिथ्या हैं, तो मिथ्या गुरु और वेद इस मिथ्या जन्म-मरणरूपी ससार-दु खको कैसे नष्ट कर सकेंगे, इस मेरी पहिलेवाली शकाका निवारण नही हुआ है, सो कृपा करके इसका निवारण कीजिये।

**उत्तर :**— हे शिष्य! मिथ्या ससारकी निवृत्ति मिथ्या गुरु-वेदसे ही हो सकती है। यदि गुरु और वेद सत्य होते तब तो उनसे मिथ्या ससारकी निवृत्ति नही हो सकती।

क्योकि यह नियम है कि "मिथ्या (कल्पित) वस्तुकी निवृत्ति मिथ्या पदार्थसे ही हो सकती है। जैसे सपनेका मिथ्या शेर सपनेकी मिथ्या बन्दूकसे ही मर सकता है, सपनेकी कल्पित बीमारी सपनेके कल्पित वैद्यकी कल्पित औषधि (दवा) से ही नष्ट हो सकती है, इस प्रकार इस मिथ्या ( कल्पित ) जन्म-मरण-रूप ससारकी निवृत्ति, मिथ्या गुरु द्वारा मिथ्या वेदके सुननेसे उत्पन्न हुए मिथ्या ज्ञानसे ही हो सकती है। सत्य वेद और गुरु इस मिथ्या ससारकी निवृत्तिके लिए अपेक्षित नही है। हे शिष्य ! इस बातको समझानेके लिए मैं तुझे एक राजाकी कहानी सुनाता हूँ।

कोई एक राजा अपने महलके शयन-भवनमे शय्यापर सोया हुआ था। उस महलके चारो तरफ योद्धा लोग शस्त्र धारण किए हुए खडे थे। कोई पक्षी भी उस शयन-भवनमे प्रविष्ट नही हो सकता था। इस प्रकार चारो तरफसे प्रबन्ध किये हुए उस शयन-भवनमे सोये हुए उस राजाने सपनेमे देखा कि गीदडीने आकर उसके पाँव को पकड लिया है। राजा बहुत चिल्लाए किन्तु किसी बाहरके योद्धाने सहायता नही की। अन्तमे राजाने स्वय अपनी लाठी गीदडीके सिर पर मारी। लाठी लगते ही गीदडी मर गई किन्तु पाँवमे घाव हो गया। तब वह राजा सपनेमे अपनेको दरिद्र समझकर स्वय ही जर्राह (मल्लम-पट्टी करनेवाले) के पास गया। और मल्लम-पट्टी करनेके लिये जर्राहसे प्रार्थना की। किन्तु जर्राहने कहा कि "पैसे लाओ तो मल्लम दूँगा अन्यथा नही।" उस समय

राजाके पास एक पाई भी नही थी। अत अन्तमे वह राजा दु'खी होकर वापस लौटा। और मनमे सोचने लगा, "यदि मेरे पास पैसे होते तो वह जर्राह घरपर दौडता आता। किन्तु इसका दोष नही, असलमे सारा ससार ही स्वार्थी है।" सही कहा है —

**"ऐसै जग स्वारथको सारो।**
**बिन स्वारथको काको प्यारो॥"**

इतनेमे एक महात्मा मिले। वह राजा महात्माके चरणो मे गिर पडा और कहने लगा, "भगवन् किसी प्रकार भी मेरे इस घावको ठीक करिये, मैं बडा दु खी हुँ। तब महात्माने अपने पास पडी हुई जडी बूटीसे उसके घावको ठीक कर दिया।

ठीक इसी प्रकार हे शिष्य! यह ब्रह्मस्वरूप साक्षी चेतन (आत्मा) रूप राजा, इस माया द्वारा रचे हुए ससार रूप सपनेमे अपने आपको जीवरूप दरिद्र समझ रहा है। इसके कल्पित सूक्ष्म शरीरके अन्तर्गत अन्तःकरणरूपी पाँवमे अविद्यारूप गीदडीने काटकर जन्म-मरणादि दु खरूप घाव कर दिया है। अब इसका असली स्वरूप आत्मदेव राजा होता हुआ भी यह अपने आपको अज्ञानसे कर्त्ता, भोक्ता जन्मने मरनेवाला जीव समझकर, द्वैतवादी रूप जर्राहके पास जाता है। किन्तु वे स्वार्थी लोग द्वैतकी भावनाको और डालकर उस अविद्यासे किये हुए जन्म-मरण-रूपी घावको और बढा देते है। जब यह जीव भटकता भटकता किसी ब्रह्म-ज्ञानी-रूपी महात्माके पास पहुँचता है

तब वह ब्रह्म-ज्ञानरूपी जडी बूटीसे इस जीवके अविद्यासे किये हुए जन्म-मरण आदि संसार-दुःख-रूपी घावको मिटाकर ब्रह्म-रूप बना देता है अर्थात् जीवपनेकी भ्रान्ति को हटाकर उसे अपने असली स्वरूपका निश्चय करवाकर, नित्य प्राप्त ब्रह्मकी प्राप्ति करवा देता है।

हे शिष्य ! अब तुम्हे समझमे आगया होगा कि जैसे सपनेकी गीदडी भी मिथ्या थी, और उसका किया हुआ घाव भी मिथ्या था तो उस मिथ्या घावकी निवृत्ति भी मिथ्या ( सपनेवाले ) महात्माकी दी हुई मिथ्या जडी बूटीसे ही हुई, इसी प्रकार यह अविद्या भी मिथ्या ( कल्पित ) है और इसका किया हुआ जीव-भाव व जन्म-मरणादि दुःख-रूप ससार भी मिथ्या ही है और इस मिथ्या ससारकी निवृत्ति भी मिथ्या सद्गुरु-द्वारा मिथ्या वेद ( उपनिषद् ) सुननेसे उत्पन्न हुए मिथ्या ( कल्पित ) आत्म-ज्ञानसे ही हो सकती है। इसलिए ( जब सारा ससार ही मिथ्या है तो गुरु और वेद भी ससारमे ही है, अतः मिथ्या माने जाते हैं ) यद्यपि गुरु-वेद मिथ्या है तथापि उन्हीसे ही इस मिथ्या ससारकी निवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नही।

और हे शिष्य ! जो तुमने मरुस्थलके जल और प्यास का उदाहरण देकर कहा था कि जैसे मिथ्या मृगतृष्णाका जल प्यासकी निवृत्ति नही कर सकता, वैसे मिथ्या गुरु और वेद भी ससारकी निवृत्ति नही कर सकते, वह तुम्हारा कहना ठीक नही था; क्योकि :—

**"आपसमे सम-सत्ता जिनकी, लखि साधक-बाधकता तिनकी ।**
**सम-सत्ता भव-दुख गुरु-वेदा, यो गुरु-वेद करत भव-छेदा ॥"**

अर्थात् जिन पदार्थोंकी आपसमे समान ( एक ) सत्ता होती है, वे ही आपसमे साधक व बाधक बना करते है । जैसे जाग्रत्की मिट्टी जाग्रत्के घडेकी ही साधक ( कारण ) बन सकती है, न कि सपनेके घडेकी, और जाग्रत्की, अग्नि सपनेकी लकडीकी बाधक ( नाशक ) नही बन सकती किन्तु जाग्रत्की लकडीकी बाधक तो बन ही सकती है। इससे यह सिद्ध होता है कि एक सत्तावाले ही आपसमे साधक व बाधक बना करते है । किन्तु जो तुमने मृग-तृष्णा-जल और प्यासका उदाहरण दिया था वह ठीक नही है, क्योकि मृग-तृष्णाका जल मिथ्या ( प्रातिभासिक ) है और प्यास सच्ची ( व्यावहारिक ) है । इसलिए दोनोकी सत्ता एक न होनेके कारण प्रातिभासिक जलसे व्यावहारिक प्यास नही मिट सकती । व्यावहारिक प्यास तो व्यावहारिक जलसे ( कुएँ इत्यादिके जलसे ) ही मिट सकती है ।

किन्तु यहाँ प्रकृत ( वर्तमान प्रसग ) मे तो भव-दु ख अर्थात् जन्म मरण-रूप ससार-दु ख और गुरु-वेद, दोनो मिथ्या है अर्थात् दोनोकी सत्ता एक है, अतः मिथ्या गुरु-वेदसे इस मिथ्या ससारकी निवृत्ति हो सकती है ।

**शका :—** भगवन् ! प्रातिभासिक व व्यावहारिक शब्दका अर्थ क्या है, यह कृपा करके बतलाइये ।

**उत्तर —** हे शिष्य ! ये दोनो शब्द सत्ताओके नाम है । सत्ता तीन प्रकारकी मानी जाती है । (१) पारमार्थिक सत्ता

तब वह ब्रह्म-ज्ञानरूपी जडी बूटीसे इस जीवके अविद्यासे किये हुए जन्म-मरण आदि ससार-दुःख-रूपी घावको मिटाकर ब्रह्म-रूप बना देता है अर्थात् जीवपनेकी भ्रान्ति को हटाकर उसे अपने असली स्वरूपका निश्चय करवाकर, नित्य प्राप्त ब्रह्मकी प्राप्ति करवा देता है।

हे शिष्य ! अब तुम्हे समझमे आगया होगा कि जैसे सपनेकी गीदड़ी भी मिथ्या थी, और उसका किया हुआ घाव भी मिथ्या था तो उस मिथ्या घावकी निवृत्ति भी मिथ्या ( सपनेवाले ) महात्माकी दी हुई मिथ्या जडी बूटीसे ही हुई, इसी प्रकार यह अविद्या भी मिथ्या ( कल्पित ) है और इसका किया हुआ जीव-भाव व जन्म-मरणादि दुःख-रूप ससार भी मिथ्या ही है और इस मिथ्या ससारकी निवृत्ति भी मिथ्या सद्गुरु-द्वारा मिथ्या वेद ( उपनिषद् ) सुननेसे उत्पन्न हुए मिथ्या ( कल्पित ) आत्म-ज्ञानसे ही हो सकती है। इसलिए ( जब सारा ससार ही मिथ्या है तो गुरु और वेद भी ससारमें ही है, अतः मिथ्या माने जाते हैं ) यद्यपि गुरु-वेद मिथ्या हैं तथापि उन्हीसे ही इस मिथ्या ससारकी निवृत्ति हो सकती है, अन्यथा नही।

और हे शिष्य ! जो तुमने मरुस्थलके जल और प्यास का उदाहरण देकर कहा था कि जैसे मिथ्या मृगतृष्णाका जल प्यासकी निवृत्ति नही कर सकता, वैसे मिथ्या गुरु और वेद भी ससारकी निवृत्ति नही कर सकते, वह तुम्हारा कहना ठीक नही था; क्योकि :—

**"आपसमे सम-सत्ता जिनकी, लखि साधक-बाधकता तिनकी ।
सम-सत्ता भव-दुख गुरु-वेदा, यो गुरु-वेद करत भव-छेदा ॥"**

अर्थात् जिन पदार्थोंकी आपसमे समान ( एक ) सत्ता होती है, वे ही आपसमे साधक व बाधक बना करते है । जैसे जाग्रत्की मिट्टी जाग्रत्के घडेकी ही साधक ( कारण ) बन सकती है, न कि सपनेके घडेकी, और जाग्रत्की, अग्नि सपनेकी लकडीकी बाधक ( नाशक ) नही बन सकती किन्तु जाग्रत्की लकडीकी बाधक तो बन ही सकती है । इससे यह सिद्ध होता है कि एक सत्तावाले ही आपसमे साधक व बाधक बना करते है । किन्तु जो तुमने मृग-तृष्णा-जल और प्यासका उदाहरण दिया था वह ठीक नही है, क्योकि मृग-तृष्णाका जल मिथ्या ( प्रातिभासिक ) है और प्यास सच्ची ( व्यावहारिक ) है । इसलिए दोनोकी सत्ता एक न होनेके कारण प्रातिभासिक जलसे व्यावहारिक प्यास नही मिट सकती । व्यावहारिक प्यास तो व्यावहारिक जलसे ( कुएँ इत्यादिके जलसे ) ही मिट सकती है ।

किन्तु यहाँ प्रकृत ( वर्तमान प्रसग ) मे तो भव-दु ख अर्थात् जन्म मरण-रूप ससार-दु.ख और गुरु-वेद, दोनो मिथ्या है अर्थात् दोनोकी सत्ता एक है, अतः मिथ्या गुरु-वेदसे इस मिथ्या ससारकी निवृत्ति हो सकती है ।

**शका :—** भगवन् ! प्रातिभासिक व व्यावहारिक शब्दका अर्थ क्या है, यह कृपा करके बतलाइये ।

**उत्तर —** हे शिष्य ! ये दोनो शब्द सत्ताओके नाम है । सत्ता तीन प्रकारकी मानी जाती है । (१) पारमार्थिक सत्ता

(२) व्यावहारिक सत्ता (३) प्रातिभासिक सत्ता।

(१) **पारमार्थिक सत्ता :—** जिसका तीनो कालोमे बाध न हो सके, अर्थात् जो किसी भी कालमे मिथ्या सिद्ध न हो सके उसकी सत्ता (अस्तित्व) पारमार्थिक मानी जाती है। चेतन (ब्रह्म) का बाध कभी नही होता, इसलिए **पारमार्थिक सत्ता केवल चेतनकी ही है।**

(२) **व्यावहारिक सत्ता :—** जिस पदार्थका ब्रह्मज्ञानके बिना बाध [ अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) मिथ्या निश्चय ] न हो सके, उस पदार्थकी व्यावहारिक सत्ता मानी जाती है। मूल-अविद्या ( ससारको मूल कारण अनादि-अविद्या ) के कार्य जो जाग्रत्के पदार्थ शरीर इन्द्रियादि जो **ईश्वरीय-सृष्टि** है, उसका बिना ब्रह्मज्ञानके बाध नही होता, इसलिए उसकी (ईश्वरीय-सृष्टिकी) **व्यावहारिक** सत्ता (जन्म-मरण बन्ध मोक्ष आदि व्यवहारको सिद्ध करनेवाली सत्ता) मानी जाती है

(३) **प्रातिभासिक सत्ता :—** ब्रह्मज्ञानके बिना ही जिन पदार्थोंका बाध हो जाय, उनकी प्रातिभासिक सत्ता मानी जाती है। जैसे :— बिना ब्रह्मज्ञानके ही, सीपि, रस्सी, मरुस्थल आदिकोके ज्ञानसे (क्रमशः) मिथ्या चाँदी, साँप, जलादिकोका बाध हो जाता है, इसलिए उन कल्पित चाँदी सर्पादिकोकी **प्रातिभासिक सत्ता** (प्रतीति-मात्र सत्ता) मानी जाती है।

इस प्रकार हे शिष्य! ईश्वरीय सृष्टिके अन्तर्गत वेद-गुरु तथा ससार-दुःख, इनकी आपसमे समान ( एक )

व्यावहारिक सत्ता ही है, इसलिए मिथ्या वेद-गुरुसे ही मिथ्या ससार-दु खका नाश हो सकता है, अन्यथा नही।

**शका** — भगवन्! आप ब्रह्मसे भिन्न सभी पदार्थोको मिथ्या ही कहा करते है फिर उन मिथ्या पदार्थोमे भी सीपिमे कल्पित चाँदी, रस्सीमे कल्पित साँप और मरुस्थलमे कल्पित जल-आदिकोका **ब्रह्मज्ञानके विना** तथा ससार-दु खका **ब्रह्मज्ञानके वाद** ही वाध होता है, यह भेद क्यो रक्खा है?

**उत्तर** — हे शिष्य! यद्यपि ब्रह्मसे भिन्न सभी पदार्थ ( अविद्याके कार्य होनेसे ) मिथ्या ही है, तो भी जिसके अज्ञानसे जो पदार्थ उत्पन्न होता है उसीके ज्ञानसे ही उस कल्पित पदार्थका वाध हो सकता है, इस नियमसे सीपि, रस्सी और मरुस्थल आदिकोके अज्ञानसे उत्पन्न हुए कल्पित चाँदी, साँप तथा जलादिकोका वाध सीपि, रस्सी तथा मरुस्थल आदिकोके ज्ञानसे ही होता है। और ब्रह्मके अज्ञानसे ( अनादि अज्ञानसे ) उत्पन्न हुए अनिर्वचनीय (मिथ्या) जन्म-मरणादिक ससार-दु खका वाध ब्रह्म-ज्ञानसे ही होता है। वस इसी कारण प्रातिभासिक पदार्थोमे ( कल्पित साँप तथा सपने आदिकोमे ) तथा व्यावहारिक पदार्थोमे ( शरीरादि ससारिक पदार्थोमे ) भेद माना है, और वैसे दोनो अविद्याके कार्य होनेसे मिथ्या है।

**शका** :— स्वामिन्! यह जन्म-मरणादिक ससार जो ब्रह्मके अज्ञानसे उत्पन्न हुआ है, वह किस क्रमसे हुआ है यह कृपा करके समझाइये।

प्राप्त करनेकी योग्यता नही होती उन्हे लय-चितन (जगत्‌रूपी कार्यका ब्रह्मरूपी कारणमे लय करने) का अभ्यास कराया जाता है। उस अभ्यासके लिये ससारकी उत्पत्तिका कोई न कोई क्रम बतलाना पड़ता है, जिससे जिज्ञासुकी बुद्धि, आसानीसे बतलाए हुए उत्पत्ति-क्रमसे उल्टा लय-चिन्तन करके, अद्वैत-ब्रह्मे स्थित हो सके।

**शंका** :– भगवन्! तो लय-चिन्तन-द्वारा अद्वैत ब्रह्मे मेरी बुद्धिको स्थित करनेके लिये, मुझे भी पहिले सृष्टिकी उत्पत्तिका कोई क्रम कृपा करके बतलाइये।

**उत्तर** :– हे शिष्य! इस जगत्‌की उत्पत्तिके क्रमको सुननेसे पहिले, इस जगत्‌की उत्पत्ति कहाँसे होती है, यह समझना चाहिये। जो शुद्ध चेतन ब्रह्म है, वह तो असग और अक्रिय है, इसलिये उससे ससारकी उत्पत्ति नही होती। किन्तु माया-विशिष्ट-चेतन जो ईश्वर है, उसीसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है।

**शंका** :— भगवन्! कृपा करके माया और ईश्वरका भी थोडेमे स्वरूप बतला दीजिये।

**उत्तर** —' हे अनघ! जो शुद्ध ब्रह्मके आश्रित, शुद्ध-सत्त्व-गुण-प्रधान-प्रकृति है उसे **माया** कहते है। यह एक प्रकार से तीनो गुणोकी एक अवस्था है, क्योकि जब तीनो गुण ( सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ) समान अवस्थामे होते हैं तब उसे **प्रकृति** कहते है। जब उन तीनोमे सत्त्वगुण बढकर रजोगुण और तमोगुणको दबा लेता है तब उसे **माया** कहते हैं। और जब रजोगुण व तमोगुणके बढनेसे

सत्त्वगुण मलिन पड जाता है अर्थात् दब जाता है, तब उन्ही तीनो गुणोकी उस अवस्थाका नाम **अविद्या** अथवा **अज्ञान** पडता है। इस प्रकार हे शिष्य! ये सब नाम उस त्रिगुणमयी प्रकृतिके ही हैं।

**शका** —भगवन्! जब ये माया और अविद्या दोनो नाम एक प्रकृतिके ही है तो फिर नामोका भेद क्यो है?

**उत्तर**—हे शिष्य! माया शब्दके दो भाग है, एक 'मा' दूसरा 'या'। 'मा' का अर्थ है 'न' और 'या' का अर्थ है 'जो'। अर्थात् वास्तवमे और विचारकाल (ज्ञान-काल) मे **'जो न'** हो और विना विचारके प्रतीत हो उसे कहते है **माया** और वह विद्या (ज्ञान) से नष्ट होती है इसलिए उसे **अविद्या** भी कहते है। तथा वह शुद्ध ब्रह्मके स्वरूपका आच्छादन करती है (ढक लेती है) इसलिए उसे **अज्ञान** भी कहते है।

इस प्रकार हे शिष्य! यह जो त्रिगुणमयी माया है, (१) इसकी उत्पत्ति नही होती, इसलिए अनादि है। (२) एक है। (३) सान्त अर्थात् अन्तवाली है, क्योकि इस माया का ज्ञानसे अन्त (नाश) हो जाता है। (४) सत् असत्से विलक्षण है, क्योकि सत् कहते हैं उसको, जिसका तीनो कालोमे बाध न हो सके। ऐसा केवल चेतन ही है। मायाका तो ज्ञानसे बाध हो जाता है इसलिए माया सत्से विलक्षण (न्यारी) है। और असत् कहते है उसको जिसकी तीनो कालो मे प्रतीति न हो, जैसे खरगोशके सीग, वन्ध्याका पुत्र आकाशके फूल इत्यादि। किन्तु माया और उसका कार्य यह ससार तो प्रतीत होता है, इसलिए मायाको असत् भी नही

नही है । क्योकि "ईश्वर जीवके अज्ञानसे कल्पित है और अज्ञानके नाना (अनेक) होनेसे अज्ञान-द्वारा कल्पित ईश्वर व ससार भी नाना है" यह कहना श्रुति स्मृति तथा पुराणादि शास्त्रोके विरुद्ध है । इसलिए अज्ञान नाना नही किन्तु एक ही मानना चाहिए । क्योंकि एक माननें से उससे कल्पित ईश्वर और ससार भी एक ही मानना पडेगा, जो वेद आदि शास्त्रोके विरुद्ध नही है ।

और वह अज्ञान जीवके आश्रित नही किन्तु शुद्ध ब्रह्म के आश्रित है, क्योकि जीव और ईश्वर ये तो अज्ञानके कार्य है । कार्य कभी कारणका अधिष्ठानरूप आश्रय नहीं बना करता । यद्यपि "मैं अज्ञानी हूँ" इस प्रकारका जीवको जो अभिमान होता है, उस अभिमानके नाते अज्ञान का **अभिमानी-रूप आश्रय** जीव कहलाता है किन्तु **अधिष्ठान-रूप आश्रय** तो केवल ब्रह्म ही है । अत. उस अनादि एक अज्ञानको स्वाश्रय-स्वविषय (शुद्ध ब्रह्मके आश्रित और शुद्ध ब्रह्मको ही ढकनेवाला) मानना ही समीचीन (ठीक) है ।

**शंका :—** भगवन् ! "यदि अज्ञान एक है तो फिर एक के ज्ञानी होनेसे सभीका अज्ञान नष्ट होना चाहिए ? इस वाचस्पतिके दलीलका कृपा करके समाधान कीजिये ।

**उत्तर :—** हे शिष्य ! रात्रि होनेपर जो ( अशीरूप ) अन्धकार सर्वत्र व्यापक हो जाता है वह है तो यद्यपि एक ही किन्तु तुम्हारे घरमे दीपक जलानेसे, जो अन्धकारका अश तुम्हारे घरको व्याप्त करता है वही अश केवल नष्ट होता है, न कि दूसरा अश । इस प्रकार जिस जिस घरमें

दीपक इत्यादिसे प्रकाश होता जाता है उस उस घरवाला अंधकारका अंश नष्ट होता जाता है। ठीक इसी प्रकार जिस अंशीरूप अज्ञानने सारे संसारको अपने नाना अंशोंसे व्याप्त कर रखा है वह है तो यद्यपि एक ही, किन्तु जिस जिसके अन्तःकरणमें ज्ञान दीपक जलता जाता है, उस उसके अन्तःकरणवाला अज्ञानका अंश नष्ट होता जाता है, और जिनके अन्तःकरणोंमें ज्ञानका उदय नहीं होता, उनके अन्तःकरणोंमें अज्ञानका अंश रह ही जाता है, इसलिये अंशी-रूप अज्ञानके एक होनेपर भी ( नाना अंशोंके कारण ) एकके ज्ञानी होनेसे सबका अज्ञान नष्ट होकर सभी मुक्त नहीं होते किन्तु जिसको ज्ञान होता है वही मुक्त होता है।

परन्तु हे शिष्य! यदि किसीको वाचस्पतिका बताया हुआ नाना-अज्ञान-वाद ही समझमें आजाय, तो उससे भी अद्वैत ब्रह्मका ज्ञान हो सकता है इसलिये उसके खण्डनमें मेरा कोई आग्रह नहीं है, क्योंकि जिस प्रकारसे जिज्ञासुको अद्वैत-ज्ञान हो जाय उसके लिए वही तरीका ठीक है। **नैष्कर्म्य-सिद्धि-कारने** भी लिखा है :—

**"यया यया भवेत्पुंसां, व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।**
**सा सैव प्रक्रियेह स्यात्, साध्वी सा च व्यवस्थितिः ॥"**

अर्थात् :— जिज्ञासुओंको, जिस जिस प्रक्रियासे प्रत्यक्-आत्माका ( अपने स्वरूपका ) ज्ञान हो सके वही प्रक्रिया वेदान्त-सिद्धान्तमें श्रेष्ठ है, और वही व्यवस्था है।"

**शंका** :— भगवन्! आपने बताया कि वह अनादि अज्ञान शुद्ध ब्रह्मके आश्रित है, किन्तु ब्रह्म तो ज्ञान-स्वरूप है,

उसके आश्रित अज्ञान कैसे हो सकता है ?

**उत्तर :**— हे शिष्य ! जैसे सामान्य अग्नि लकडीकी विरोधी नही है किन्तु विशेषरूपसे प्रकट हुई अग्नि ही लकडी की विरोधी होती है, उसी प्रकार सामान्य-ज्ञान ( शुद्ध-चेतन ब्रह्म) अज्ञानका विरोधी नही है, क्योकि हम देखते भी है कि सुषुप्ति अवस्थामे, अज्ञान भी रहता है तो अज्ञानके साक्षीरूप से सामान्य-चेतन भी रहता है। इसलिए सामान्य-चेतन अज्ञान (माया) का विरोधी नही है अपितु सत्ता व स्फुरणा देनेके नाते साधक है। किन्तु वृत्तिमे आरूढ ( स्थित ) चेतन अथवा चेतन-सहित वृत्ति ( वृत्ति-ज्ञान ) अज्ञानका विरोधी है।

हे शिष्य ! इस प्रकार जो तुमने माया ( अज्ञान ) का स्वरूप सुना वह (१) शुद्ध-सत्त्व-गुण-सहित माया (२) माया का अधिष्ठान शुद्ध-चेतन (ब्रह्म) और (३) उस मायामे आया हुआ चेतनका आभास। इन तीनोको मिलाकर **ईश्वर** कहते है और वही ईश्वर इस जगत्का कारण है।

**शंका :**— भगवन् ! प्रत्येक वस्तुके दो कारण माने जाते हैं (१) उपादान-कारण (२) निमित्त-कारण। जैसे घडेका उपादान-कारण है मिट्टी और निमित्त-कारण हैं कुम्हार, डडा, चक्र इत्यादि। इसी प्रकार इस जगत्के भी दोनो कारण कृपा करके बताइये ?

**उत्तर :**— हे शिष्य ! जैसे एक ही मकडी अपने बनाये हुए जालेका उपादान-कारण भी है और निमित्त-कारण भी है तथा जैसे एक ही अविद्या-विशिष्ट-चेतन ( प्राज्ञ ) सपनेका उपादान तथा निमित्त कारण है, वैसे एक ही माया-विशिष्ट-

चेतन ईश्वर इस जगत्का उपादान-कारण भी है तथा निमित्त-कारण भी है।

उसमे भी, जैसे मकडीका जड शरीर जालेका उपादान-कारण है और मकडीका अन्त करण-सहित-चेतन-भाग जालेका निमित्त-कारण है और प्राज्ञका शरीर नाना-सूक्ष्म-सस्कार-गर्भित अविद्या, सपनेका उपादान-कारण है तथा अविद्या-सहित-चेतन-भाग सपनेका निमित्त-कारण है, ठीक इसी प्रकार ईश्वरका शरीर समष्टि-सस्कार-गर्भित-तम प्रधान-प्रकृतिरूप माया जगत्का उपादान-कारण है और ईश्वरका शुद्ध-सत्त्व-प्रधान-माया-सहित-चेतन-भाग जगत्का निमित्त-कारण है।

**शका** — भगवन् ! इस जगत्के कारण ईश्वरको जगत् उत्पन्न करनेकी इच्छा क्यो हुई ?

**उत्तर** —हे शिष्य ! जगत्को उत्पन्न करनेकी इच्छा ईश्वरको अपने आप नही होती किन्तु जीवोके कर्म-वशात् ही होती है। क्योकि जब समष्टि जीवोके [ (१) मलिन-सत्त्व-गुण-सहित अज्ञानका अश (२) उसका अधिष्ठान चेतन (३) उस अज्ञान-अशमे आया हुआ चेतनका आभास, इन तीनोको मिलाकर **जीव** कहते हैं। ] कर्म, भोग देनेसे उदासीन हो जाते हैं तब प्रलय होता है। उस समय जीवोके कर्म, सस्काररूपसे मायामे रहते है फिर जैसे पृथ्वीमे पडे हुए बीज समयपर पक जानेके बाद अकुर देनेके लिये सम्मुख (तैयार) हो जाते है, उसी प्रकार जब जीवोके कर्म भोग देनेके लिए सम्मुख होते है तब ईश्वरको यह इच्छा होती है **'जीवोके भोग-निमित्त जगत् उत्पन्न हो'**।

ऐसी इच्छा (संकल्प) होते ही तमोगुण प्रधान प्रकृति से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये पाँच महाभूत उत्पन्न होते है। और उन पाँच भूतोमे क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध, ये पाँच गुण उत्पन्न होते हैं।

हे शिष्य! लय-चिन्तन-द्वारा अद्वैत-ब्रह्मका बोध करानें के लिए जगत्‌की उत्पत्तिका क्रम यो बतलाते है कि पहिले,

(१) मायासे प्रतिध्वनि-रूप-शब्द-सहित आकाशकी उत्पत्ति हुई।

(२) आकाशसे वायुकी उत्पत्ति हुई। वायु आकाशका कार्य है, इसलिये आकाशका **शब्द गुण** ( 'सी सी' रूपसे ) वायुमे आता है तथा अपना गुण (उष्ण, शीत, तथा कठिन से विलक्षणरूप ) **स्पर्श** है।

(३) वायुसे तेजकी उत्पत्ति हुई। तेजमे आकाशका **शब्द गुण** ( भुकभुकरूपसे ) है, वायुका **स्पर्श गुण** ( उष्ण रूपसे ) है तथा अपना गुण **रूप** है जो प्रकाशरूपसे है।

(४) तेजसे जलकी उत्पत्ति हुई। जलमे आकाशका **शब्द** (चुलुचुलुरूपसे) है, वायुका **स्पर्श** (शीतरूपसे) है तेजका **रूप** ( शुक्लरूपसे है, तथा अपना गुण 'मधुर' **रस** है।

(५) जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति हुई। पृथ्वीमे आकाशका **शब्द** (कड़कडरूपसे )है, वायुका **स्पर्श** (कठिनरूपसे) है, तेज का **रूप** (सफेद नीला, पीला, लाल, हरा आदिरूपसे) है, जलका **रस** (मीठा खट्टा, खारा, कडुवा, कसैला और तिक्त

रूपसे) है तथा अपना गुण (सुगध और दुर्गन्धरूपसे दो प्रकार का) गन्ध है।

इस प्रकार आकाशमे एक, वायुमे दो, तेजमे तीन, जलमे चार और पृथ्वीमे पाँच गुण हैं। उनमे एक एक गुण अपना है और शेष अधिक गुण कारणके है। सब का मूल कारण ईश्वर है। ईश्वरके प्रधान दो भाग हैं, एक माया और दूसरा चेतन। इन दोनो भागोके गुण भी सारे ससारमे मौजूद है। जो सारे ससारमे मिथ्यापना दीखता है वह मायाका भाग है तथा जो सत्ता, स्फूर्ति (भासमानता) व आनद प्रतीत होता है वह चेतनका भाग है।

इस प्रकार हे शिष्य! जब इन पाँचो भूतोकी गुणो सहित सृष्टि हो गई, तब उन पाँचो भूतोके मिले हुए सत्त्व-गुण-अशसे **अतःकरणकी** उत्पत्ति हुई। उस अन्त करणके परिणामको **वृत्ति** कहते है। वह अन्त करणकी वृत्ति चार प्रकारकी होती है।

(१) पदार्थोंके भले बुरे स्वरूपका निश्चय करनेवाली वृत्ति **बुद्धि** कहलाती है।

(२) सकल्प-विकल्प-वृत्ति **मन** कहलाती है।

(३) चिन्तनरूप वृत्ति **चित्त** कहलाती है।

(४) "अह" ( मैं ) ऐसी अभिमान-वृत्ति **अहकार** कहलाती है।

इस प्रकार अन्तःकरणकी उत्पत्तिके बाद, पाँच भूतोंके मिले हुए रजोगुण-अशसे **प्राणकी** उत्पत्ति हुई। वह प्राण, क्रिया-भेदसे और स्थान-भेदसे पाँच प्रकारका है।

(१) **प्राण** :— जिसका स्थान है हृदय और क्रिया है भूख प्यास लगाना ।

(२) **अपान** :— जिसका स्थान है गुदा और क्रिया है मल-मूत्रको नीचे लेजाना ।

(३) **समान** :— जिसका स्थान है नाभि और क्रिया है खाए, पीए, अन्न जलको पकाने योग्य सम करना ।

(४) **उदान** :— जिसका स्थान है कण्ठ और क्रिया है श्वास लेना ।

(५) **व्यान** :— जिसका स्थान सारा शरीर है और क्रिया है रस-मेलन ।

इस प्रकार पाँच भूतोके मिले हुए सत्त्वगुणसे अन्त करण तथा रजोगुणसे प्राणकी उत्पत्ति हुई। फिर एक एक भूतके अपने अपने सत्त्व-गुण-अशसे पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ बनी । जैसे :—

(१) आकाशके सत्त्व-गुण-अशसे **कान** ।
(२) वायुके सत्त्व-गुण-अशसे **त्वचा** ( चमडी ) ।
(३) तेजके सत्त्व-गुण-अशसे **नेत्र** ।
(४) जलके सत्त्व-गुण-अंशसे **रसना** ।
(५) पृथ्वीके सत्त्व-गुण-अशसे **नाक** ।

और एक एक भूतके रजो-गुण-अंशसे एक एक कर्म-इन्द्रिय बनी ।

(१) आकाशके रजोगुण-अशसे **वाक्** ( वाणी ) ।
(२) वायुके रजोगुण-अशसे **हाथ** ।
(३) तेजके रजोगुण-अंशसे **पाँव** ।

(४) जलके रजोगुण-अंशसे **उपस्थ** ( भोग-इन्द्रिय ) ।

(५) पृथ्वीके रजोगुण-अंशसे **गुदाकी** उत्पत्ति हुई है ।

इस प्रकार हे शिष्य ! यह जो मैंने अन्तःकरण, प्राण, ज्ञान-इन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय तक सृष्टि बतलाई है वह पंच-महाभूतोंके पंचीकरण होनेसे पहिले पहिलेकी बनी हुई है, इसलिए इस सृष्टिको अपचीकृत भूतोंका कार्य व **सूक्ष्म-सृष्टि** कहते हैं ।

इस सूक्ष्म-सृष्टिके बाद ईश्वरकी इच्छासे स्थूल **सृष्टि** के बननेके लिये उन अपचीकृत भूतोंका **पंचीकरण** हुआ । वह पंचीकरण दो प्रकारसे माना जाता है । ( १ ) जैसे कोई पाँच भाई थे, वे भिन्न भिन्न प्रकारकी सेर सेर भर मिठाई ले आए । तब उन्होंने सोचा कि हम आपस में यह मिठाई इस विधिसे बाँटें कि सबके पास अपनी अपनी मिठाई सबसे अधिक रहे और दूसरे दूसरे प्रकार की मिठाई भी आजाय । तब उन पाँचोंने अपनी अपनी मिठाईके आधे आधे सेरके दो दो भाग किये । फिर प्रत्येक ने अपनी अपनी मिठाईका आधा आधा सेर तो अपने पास रखा और शेष रहे हुए आधे आधे सेरको दो दो छटाँकके हिसाब से, अपनेसे भिन्न चार भाइयोंमें बाँट दिया । इस प्रकार पाँचोंके पास सेर सेर मिठाई भी हो गई और उसमें आधा सेर अपनी मिठाईका, तथा दो दो छटाँक दूसरे चार भाइयोंकी मिठाईके भी आ गए । इसीको पाँचों मिठाइयों का **पंचीकरण** कहते हैं । पाँचों महाभूतोंका पंचीकरण भी इसी प्रकार हुआ है । पाँचों भूतोंके आधे आधे भाग तो

उनके पास रहे और शेष रहे हुए आधे भागके चार भाग होकर अपनेसे भिन्न चार भूतोमें आ गए।

(२) दूसरा पचीकरणका प्रकार यह है :— एक एक भूतके पच्चीस पच्चीस भाग हुए। उनमेसे प्रत्येकके इक्कीस इक्कीस भाग अपने अपने पास रहे और शेष रहे हुए चार भाग अपनेसे भिन्न दूसरे चार भूतोमे आ गए।

इस प्रकार भूतोके पचीकरण होनेके बाद उनका नाम **पंचीकृत** पड़ा। और उन पचीकृत भूतोसे ही यह स्थूल-ब्रह्मांड बना। इस ब्रह्माँडमें भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक, और सत्यलोक ये सात भुवन ऊपरके बने। तथा अतल, सुतल, पाताल, वितल, रसातल, तलातल और महातल ये सात लोक नीचेके बने। तत्पश्चात् उन चौदह लोकोमे जीवोके भोग्य-पदार्थ अन्नादिक तथा भोग भोगनेके स्थान देव, मनुष्य, पशु आदि स्थूल शरीर बने।

हे शिष्य ! यह जो मैंने तुम्हे सूक्ष्मसृष्टि और स्थूलसृष्टि बताई है इसीमे तीनो शरीर व पाँचो कोश भी माने जाते हैं।

**शंका** :— भगवन् ! वे तीनो शरीर व पाँचो कोश भी कृपा करके बतलाइये।

**उत्तर** :— हे शिष्य ! कारण, सूक्ष्म और स्थूल ये तीन शरीर हैं। उनमे :—

(१) **कारण-शरीर** :— मलिन-सत्त्व-गुण-सहित अविद्याका **अंश जीवका कारण शरीर** कहलाता है तथा शुद्ध-सत्त्व-गुण-सहित-माया **ईश्वरका कारण-शरीर** कहलाती है।

(२) **सूक्ष्म-शरीर** :— उत्तर शरीरके आरम्भक पाँच

सूक्ष्म भूत, मन, बुद्धि, चित्त, अहकार, पाँच प्राण, पाँच कर्म-इन्द्रियाँ और पांच ज्ञान-इन्द्रियाँ, ये सब लकर **जीव का सूक्ष्म शरीर** है, और सब जीवोके सूक्ष्म शरीर मिलकर **ईश्वरका सूक्ष्म शरीर** है।

(३) **स्थूल-शरीर** — यह हाड-मांस आदिका बना हुआ पिञ्जरा ( भोग भोगनेका स्थान ) **जीवका स्थूल शरीर** है, और सारा स्थूल ब्रह्मांड **ईश्वरका स्थूल शरीर** है।

और अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय ये पाँचो कोश भी ऊपर कहे हुए तीनो शरीरो के अन्तर्गत ही है।

(१) **अन्नमय-कोश** :— स्थूल शरीरको ही **अन्नमय-कोश** कहते हैं, क्योकि यह माता पिताके खाये हुए अन्नसे उत्पन्न हुए रज-वीर्यसे ही उत्पन्न होता है, अन्नपर ही रहता है और अन्तमे अन्नरूप पृथ्वीमे ही मिल जाता है। प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय ये तीनो कोश सूक्ष्म शरीरमे है जैसे —

(२) **प्राणमय-कोश** :— पाँच प्राण और पाँच कर्म-इन्द्रियोको मिलाकर **प्राणमय-कोश** कहते है।

(३) **मनोमय-कोश** :— पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मनको मिलाकर **मनोमय-कोश** कहते है।

(४) **विज्ञानमय-कोश** — पाँच ज्ञानेन्द्रिय और बुद्धिको मिलाकर **विज्ञानमय-कोश** कहते हैं।

(५) **आनन्दमय-कोश** :— कारण शरीरको **आनन्दमय-कोश** कहते है।

इस प्रकार ईश्वरके भी पाँचो कोश माने जाते हैं जैसे :—

(१) सम्पूर्ण स्थूल-सृष्टि-रूप विराट् जो ईश्वरका स्थूल शरीर है, वही **ईश्वरका अन्नमय-कोश** है। (२) समष्टि कर्म-इन्द्रियोके अधिष्ठाता देवतारूप अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, प्रजापति और यम ये पाँच ईश्वरके कर्म-इन्द्रिय और समष्टि प्राण वा वायुका अभिमानी देवतारूप ईश्वरका प्राण, ये सब मिलकर **ईश्वरका प्राणमय-कोश** है। (३) समष्टि ज्ञानेन्द्रियोके अधिष्ठाता देवतारूप दिक्पाल, वायु, सूर्य, वरुण, और अश्विनीकुमार, ये पाँच ईश्वरकी ज्ञानेन्द्रियाँ और समष्टि मनरूप अहकारमय अथवा सबके मनका अभिमानी चन्द्रमारूप ईश्वरका मन, ये सब मिलकर **ईश्वरका मनोमय कोश** है। (४) उक्त ज्ञानेन्द्रियोके अधिष्ठाता देवतारूप पाँच ईश्वरकी ज्ञान-इन्द्रियाँ और समष्टि बुद्धिमय महत्तत्वरूप अथवा सब बुद्धियोका अभिमानी ब्रह्मारूप ईश्वरकी बुद्धि, ये सब मिलकर **ईश्वरका विज्ञानमय कोश** है। (५) समष्टि अज्ञानरूप माया जो ईश्वरका कारण शरीर है वह **ईश्वर का आनन्दमय कोश** है।

**शका :—** भगवन् इनका कोश नाम क्यो पडा ?

**उत्तर :—** हे शिष्य ! कोश कहते हैं म्यान को। जैसे म्यान तलवारको ढक लेती है, उसी प्रकार ये पाँचो कोश भी आत्माके असग आनन्दादिक विशेष स्वरूपको ढक लेते हैं, इसलिए इन अन्नमयादिकोको **कोश** कहते हैं।

कई मन्दमति पुरुष आत्मासे भिन्न (अनात्मरूप) इन पाँच

कोशोमेसे किसी एकको आत्मा मानकर अपने असली स्वरूप साक्षी आत्मासे विमुख रहकर जन्म-मरणके चक्रमे भटकते ही रहते है। जैसे स्थूल शरीरको आत्मा मानने वाले **विरोचनके** मत ( चार्वाक् ) के अनुयायी कहते है —
"स्थूल-शरीरमे ही सबको "मै मनुष्य हूँ, मै ब्राह्मण हूँ" इस प्रकारकी अहबुद्धि होती है और यही सबसे प्रिय है, इसलिए यह **स्थूल शरीर** (अन्नमय कोश) ही आत्मा है। और इस स्थूल शरीरका वस्त्र, भूषण, तेल, आदिकोंसे शृगार करना और नाना प्रकारके भोजनोंसे पोषण करना ही **परम पुरुषार्थ** है। इसलिए —

**"यावज्जीवेत् सुख जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृत पिवेत।**
**भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनरागमन कुतः ॥"**

अर्थात् जव तक जीवन है तव तक सुखसे जीना चाहिए। ऋण लेकर भी घी पीना चाहिए। अर्थात् किसी भी प्रकार विषय भोगने चाहिये, क्योकि शरीरके भस्म होनेके वाद (मरनेके वाद) फिर ससारमे थोडे ही आना है।" यह विरोचनका सिद्धान्त है।

(२) **इन्द्रिय-आत्म-वादी** कहते है –"स्थूल शरीर आत्मा नही है किन्तु इन्द्रियाँ ही आत्मा है, क्योकि जव तक इन्द्रियाँ इस स्थूल शरीरमे रहती है तव तक यह चल फिर सकता है, और जव सभी इन्द्रियाँ निकल जाती है, तव यह मुर्दा हो जाता है, तथा सवको "मैं सुनता हूँ, मैं देखता हूँ" इस प्रकार अहभावना भी इन्द्रियोमे ही होती है, इसलिए **इन्द्रियाँ** ही आत्मा है"

(३) **हिरण्यगर्भके उपासक (प्राण-आत्म-वादी)** कहते हैं :— "शरीरमें यदि आँख इत्यादि इन्द्रियाँ नही रहती, तो भी शरीर मरता नही किन्तु प्राण निकलते ही शरीर मुर्दा हो जाता है। और सुषुप्ति--अवस्थामे जहाँ इन्द्रियोका लय हो जाता है, वहाँ भी प्राण तो चलता ही रहता है। इसलिए इन्द्रियाँ आत्मा नही है, किन्तु **प्राण** ही आत्मा है।

(४) **मन-आत्म-वादी** कहते है :— "प्राण जड़ है [क्योकि वह न स्वयंको जानता है, न दूसरोको जानता है] इसलिए प्राण आत्मा नही है किन्तु मन ही आत्मा है, क्योकि मनके सबन्धसे ही, इन्द्रियाँ ज्ञानकी साधन बनती है। और श्रुति भी कहती है [इस प्रकार वे अपने पक्षको सिद्ध करनेके लिए सारे प्रसगको बिना समझे ही वेदके कुछ टुकड़े भी प्रमाणके रूपमे देते हैं] "**तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः**" अर्थात् "उस प्राणमयसे दूसरा अन्तर आत्मा मनोमय है"। और "**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः**" अर्थात् "मन ही मनुष्योके बन्धन और मोक्षका कारण है" इससे भी सिद्ध होता है कि **मन** ही आत्मा है।

(५) **विज्ञान-वादी बौद्ध** कहते हैं, "मन आत्मा नही है किन्तु क्षण-क्षणमे बदलनेवाला प्रकाशरूप जो विज्ञान अर्थात् बुद्धि है, वही आत्मा है। क्योंकि मन बुद्धिके ही आधीन है, प्रत्युत यो कहना चाहिए कि बुद्धिका ही आकार है, क्योकि प्रत्येक वस्तुके ज्ञानके समय पहिले अहं-वृत्ति ('मै' ऐसी वृत्ति) रूप बुद्धि उत्पन्न होती है, फिर इद-वृत्ति ("यह घट है, यह पुस्तक है" ऐसी वृत्ति) रूप मन उत्पन्न होता है।

इस प्रकार मनका भी कारण बुद्धि है, इसलिये बुद्धि ही आत्मा है। और श्रुतिने जो मनका नाम लिया है, वह तो कोशोको बताते हुए कहा है कि प्राणमय कोशसे अन्दर मनोमय कोश है, वास्तवमे तो श्रुति विज्ञानमय बुद्धिको ही आत्मा बताती है। [ इसपर वे प्रसगके बीचमेसे ही कुछ श्रुतिका हिस्सा लेकर कहते है ] जैसे — "**तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमय**" अर्थात् उस मनोमयसे दूसरा अन्तर आत्मा विज्ञानमय है। इससे भी सिद्ध होता है कि विज्ञानमयरूप बुद्धि ही आत्मा है।

(६) **आनन्दमय कोशको आत्मा माननेवाले** पूर्वमीमांसा के वार्त्तिककार भट्ट कहते है — "बुद्धि क्षणिक है, और आत्मा नित्य है, तथा बुद्धिका सुषुप्ति-अवस्थामे लोप हो जाता है, किन्तु आत्माका लोप नही होता, क्योकि श्रुति कहती है "**नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्**" अर्थात् "द्रष्टा [साक्षी=प्रकाशक] रूप दृष्टि ( ज्ञान ) का कभी लोप नही होता, क्योकि वह अविनाशी है" और विज्ञानमय (जो एक कोश है) का नाम तो श्रुतिने कोशों को बतलाते हुए लिया है। इसलिये क्षणिक-विज्ञानरूप बुद्धि आत्मा नही है किन्तु जड-चेतन-स्वरूप ( आनन्दमय कोश ) ही आत्मा है, क्योकि सुषुप्ति-अवस्थामे अपने (आत्माके) जडपनेका अनुभव होता है और उस अपने जडपनेका अनुभव करनेवाला भी स्वय (चेतनरूप) आत्मा ही है, इसलिये आत्मा खद्योत (जुगुनु) की तरह प्रकाश और अप्रकाश-रूप अर्थात् जड और चेतन दोनोरूप है।

(७) दूसरे **आनन्दमय कोशको आत्मा माननेवाले शून्यवादी माध्यमिक बौद्ध** कहते है :— "जैसे खद्योतका एक अश प्रकाशरूप है और दूसरा अश अप्रकाशरूप है इसी प्रकार आत्माको भी प्रकाश-अप्रकाश अर्थात् जड़ चेतन दोनोरूप माननेके लिये अशवाला मानना पडेगा। और अशवाला माननेपर अशवाले घटादि पदार्थोकी तरह आत्माको भी उत्पत्ति और नाशवाला मानना पडेगा। जो पदार्थ उत्पत्ति व नाशवाला होता है वह उत्पत्ति से पहिले और नाशके बाद असत् (शून्य) होता है। और जो आदि-अन्तमे असत् होता है वह मध्य (बीच) मे भी असत् ही होता है, इसलिये आत्मा असत्रूप है। वैसे आत्मा से भिन्न और सारे पदार्थ भी, उत्पत्ति-नाशवाले होनेके कारण असत्रूप हैं। इस प्रकार आत्मा और अनात्मा सभी असत्रूप होनेके कारण, शून्य ही परम तत्त्व है।"

इस रीतिसे जीवन्मुक्त महात्मा, जिस मायाको (समष्टि अज्ञान-रूप कारण शरीर अर्थात् आनन्दमय कोशको) तुच्छ अर्थात् शून्यरूप समझता है, उसीको ये शून्यवादी बौद्ध आत्मा मानते है।

(८) तीसरे **आनन्दमय-कोशको आत्मा माननेवाले** पूर्व-मीमाॅसाके एकदेशी प्रभाकर और नैयायिक कहते है— "शून्यको आत्मा कहनेवालोसे हम पूछते हैं कि, "शून्यका किसीने अनुभव किया है या नही ?" यदि कहे कि "शून्यका अनुभव नही होता।" तो शून्य नामका कोई पदार्थ सिद्ध नही हो सकता और यदि कहे कि, "शून्यका अनुभव किया है" तो हम कहेगे कि जिसने शून्यका भी अनुभव किया है,

वही शून्यसे न्यारा आत्मा है, अर्थात् शून्य भी तभी सिद्ध हो सकता है जब उसका कोई अनुभव करनेवाला माना जाय, इसलिये जो शून्यसे भी न्यारा उसका अनुभव करने वाला है, वही आत्मा है। और उस आत्मामे मनके सयोगसे ज्ञान उत्पन्न होता है, वैसे वह स्वरूपसे जड है।" किन्तु यह उनका मत भी ठीक नही है क्योकि—

वे सुषुप्ति-अवस्थावाले आनन्दमय कोशको ही आत्मा समझकर उसमे गूढ-चेतनको (वादलोमे सूर्यकी तरह गुप्त आत्म-चेतनको) न पहिचाननेसे, उसे ज्ञान-हीन समझकर जड कहते हैं। और जिस अनित्य ज्ञानको वे आत्मा (आनन्द-मय कोश) का गुण मानते है, वह वास्तवमे अन्त करणकी वृत्तिरूप वुद्धि है। तथा आत्माको जड माननेसे, वह घटादि जड पदार्थोंकी तरह अनित्य हो जायगा और यदि आत्माको अनित्य मानेगे तो फिर वेदके वताये हुए मोक्षके लिये प्रयत्न करना भी निरर्थक हो जायगा और "**सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यम्**" अर्थात् वह आत्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है और **नित्य** है, "**आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य॰**" अर्थात् वह आकाशकी तरह सर्वव्यापक और **नित्य** है। "**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्**" अर्थात् वह नित्योका **नित्य** और चेतनो का भी **चेतन** है अर्थात् जितने भी ससारमें पदार्थ है वे इस आत्माकी सत्तासे ही नित्य और आत्माकी चेतनतासे ही चेतन प्रतीत हो रहे है" इत्यादि श्रुतियोसे विरोध होगा, इसलिए आत्माको नित्य व चेतन-स्वरूप ही मानना चाहिए।

इस प्रकार हे शिष्य ! वेदान्त वाक्योमे विश्वास-हीन अनेक बहिर्मुख लोग पाँच कोशोमेसे ही किसी एकको आत्मा मानकर तथा मुख्य आत्म-स्वरूप साक्षीसे विमुख रहकर जन्म-मरणके चक्रमे भटकते ही रहते है ।

इस प्रकार आत्माके असली स्वरूपको ढक लेनेके कारण ही इन अन्नमयादिकोका नाम **कोश** पडा है ।

और जैसे इन पाँच कोशोके कारण आत्माके स्वरूपको समझनेमे लोगोको भ्रान्ति हो जाती है इस प्रकार इन कोशोके कारण भ्रान्तिसे ईश्वरके असली स्वरूपको न समझकर लोग अतर्यामीसे लेकर पीपल पर्यन्तको ईश्वर मानकर अपनी अपनी भावनानुसार फल प्राप्त करते हैं । किन्तु मोक्ष तो **"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"** इस श्रुतिके अनुसार बिना ब्रह्म-ज्ञानके हो ही नही सकता । इसलिए जिसको मोक्षकी इच्छा है उसे विचार-द्वारा जीव-ईश्वरके असली स्वरूपको पाँच कोशोसे अलग करके जानना चाहिये । इनमे से भी जीवके असली स्वरूप आत्माको समझनेके बाद, ईश्वरके असली-स्वरूप ब्रह्मको समझना आसान है; क्योकि वास्तवमे आत्मा और ब्रह्म दोनो एक ही हैं, केवल घट और मठकी उपाधिसे आकाशकी तरह, अविद्या और मायाकी उपाधिके कारण भ्रान्तिसे भिन्न प्रतीत होते हैं ।

**शका** – हे प्रभो ! कृपा करके पाँचो कोशोसे आत्माके विवेक (अलग करने) की कोई विधि बतलाइये ।

**उत्तर** – हे शिष्य ! यह नियम है कि 'जो वस्तु दूसरी भिन्न भिन्न वस्तुओंके बदलते रहनेपर भी नही बदलती,

अपितु उन बदलनेवाली वस्तुओका साक्षीरूप होकर विराज-
मान रहती है, वह वस्तु उन बदलती रहनेवाली वस्तुओसे
भिन्न होती है।' इस नियमसे अपना असली स्वरूप आत्मा
इन पाँचो कोशोसे अर्थात् तीनो शरीरोसे भिन्न है। [पाँचो
कोश तीनो शरीरोके अन्तर्गत है यह पहिले बतला दिया है]
क्योकि जाग्रत्मे जो यह स्थूल शरीर दीखता है इसके बदलते
रहनेपर भी आत्मा नही बदलता, क्योकि सबको ऐसी
प्रत्यभिज्ञा (स्मृतिके साथ होनेवाला प्रत्यक्ष-ज्ञान) होती है
कि "जो मैं बचपनमे माँकी गोदमे खेला करता था, किशोर
अवस्थामे लडकोसे खेलता था, जवानीमे विषयभोग भोगता
था वही मैं अब वृद्ध अवस्थामे काँप रहा हूँ।" इस ज्ञानसे
सिद्ध होता है कि बचपन आदि अवस्थावाला स्थूल शरीर
नही रहता किन्तु हम रहते है अर्थात् शरीरके बदलनेपर भी
हम (हमारा असली स्वरूप आत्मा) नही बदलते और जब
जाग्रत् बदलकर सपना आता है तब इस स्थूल शरीरका भान
न रहने पर भी आत्माका (अपने आपका) सपनेके साक्षी
रूपसे तो भान रहता ही है। फिर जब सुषुप्ति अवस्था आती
है तो वहाँ सूक्ष्म शरीरका भी भान नही रहता किन्तु उस
सुषुप्तिके अज्ञान व आनन्दके साक्षीरूपसे आत्मा तो वहाँ भी
विराजमान है। फिर निदिध्यासन करते करते जब समाधि
अवस्था आजाती है तो वहाँ अज्ञान भी नही रहता बस
केवल अपना आप चेतनानन्द-रूप ही रह जाता है। इस
प्रकार इन जाग्रत् आदि अवस्थाओके बदलते रहनेपर तथा
शरीरोके न रहने पर भी आत्मा नही बदलता और सदा

इस प्रकार हे शिष्य ! वेदान्त वाक्योमे विश्वास-हीन अनेक बहिर्मुख लोग पाँच कोशोमेसे ही किसी एकको आत्मा मानकर तथा मुख्य आत्म-स्वरूप साक्षीसे विमुख रहकर जन्म-मरणके चक्रमे भटकते ही रहते है।

इस प्रकार आत्माके असली स्वरूपको ढक लेनेके कारण ही इन अन्नमयादिकोंका नाम **कोश** पडा है।

और जैसे इन पाँच कोशोके कारण आत्माके स्वरूपको समझनेमे लोगोको भ्रान्ति हो जाती है इस प्रकार इन कोशोके कारण भ्रान्तिसे ईश्वरके असली स्वरूपको न समझकर लोग अतर्यामीसे लेकर पीपल पर्यन्तको ईश्वर मानकर अपनी अपनी भावनानुसार फल प्राप्त करते हैं। किन्तु मोक्ष तो **"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"** इस श्रुतिके अनुसार बिना ब्रह्म-ज्ञानके हो ही नही सकता। इसलिए जिसको मोक्षकी इच्छा है उसे विचार-द्वारा जीव-ईश्वरके असली स्वरूपको पाँच कोशोसे अलग करके जानना चाहिये। इनमें से भी जीवके असली स्वरूप आत्माको समझनेके बाद, ईश्वरके असली-स्वरूप ब्रह्मको समझना आसान है, क्योकि वास्तवमे आत्मा और ब्रह्म दोनो एक ही है, केवल घट और मठकी उपाधिसे आकाशकी तरह, अविद्या और मायाकी उ[illegible]रण भ्रान्तिसे भिन्न प्रतीत होते हैं।

[illegible]ो ! कृपा करके पाँचो कोशोसे आत्माके [illegible] कोई विधि बतलाइये।

[illegible]ह नियम है कि 'जो वस्तु दूसरी [illegible]लते रहनेपर भी नही बदलती,

निश्चय करना ही कोशोसे आत्माका विवेक करना कहलाता है और यही आत्म-ज्ञान है ।

इस प्रकार हे शिष्य ! केवल अपनेको साक्षी समझने मात्रसे ही मनुष्य कृतकृत्य नही होता, अत फिर अपने आप को ब्रह्म (व्यापक) रूपसे निश्चय करे अर्थात् जो मैं इन तीनो शरीरोका साक्षी हूँ, वही मैं ब्रह्म हूँ अर्थात् अस्ति-भाति-प्रिय रूपसे सर्वत्र व्यापक हूँ । जैसे मृगतृष्णाका जल वास्तवमे है ही नही, केवल कल्पित है और वह कल्पित जल वालूको गीला नही कर सकता, इसी प्रकार यह सारा ससार भी वास्तवमे मुझ साक्षी चेतनमे है ही नही, केवल कल्पित है, और यह कल्पित ससार मुझे ( साक्षीको ) सुखी दु खी नहीं कर सकता । अन्त करणमे ही ससार है और अन्तःकरणको ही सुखी-दु खी करता है । मेरा असली स्वरूप तो **अकर्ता, अभोक्ता, नित्य-मुक्त तथा सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म** (व्यापक) है । इस प्रकारका निश्चय ही ब्रह्मज्ञान कहलाता है और यही ज्ञान मोक्षका साधन है ।

**शका** – भगवन् ! यदि आत्मा सदा ही नित्य-मुक्त ब्रह्म-स्वरूप है और उसमे कभी बन्धन है ही नही तो फिर मोक्ष (बन्धनकी निवृत्ति) के लिए श्रवणादि ज्ञानके साधनोकी क्या आवश्यकता है ?

**उत्तर** – हे शिष्य ! यद्यपि वास्तवमे आत्मा ज्ञानसे पहिले भी नित्यमुक्त ब्रह्मस्वरूप ही है, किन्तु अज्ञानके कारण अपने आपको (आत्माको) भ्रान्तिसे कर्ता भोक्ता मानकर सुखकी प्राप्ति और दु खकी निवृत्तिके लिए अनेक साधन

करता हुआ यह प्राणी नाना क्लेशोको प्राप्त होता है। फिर पुण्य-उदय होनेसे जब कोई ब्रह्मज्ञानी गुरु मिल जाता है तब गुरु-मुख-द्वारा वेदान्तका श्रवण करनेसे "मैं कर्ता भोक्ता नही किन्तु ब्रह्म-स्वरूप हूँ, अब मुझे कुछ प्राप्त करना नही रहा, इसलिए इस शरीरसे स्वभाव-वशात् अथवा प्रारब्ध-वशात् चाहे कोई कर्म होता रहे, किन्तु मेरे लिए अब कुछ कर्त्तव्य नही रहा।" इस प्रकारका ज्ञान हो जाना ही वेदान्त-श्रवणका फल है, न कि ब्रह्मकी प्राप्ति, क्योकि ब्रह्म अपना स्वरूप होनेके कारण नित्य-प्राप्त है। इसी दृष्टिसे श्रीरामचन्द्रजीने श्रीवशिष्ठजीसे कहा था "हे भगवन्! मैंने सब कुछ पाया और कुछ नही पाया।" श्रीवशिष्ठजीने कहा "यह कैसे"? तब रामचन्द्रजी बोले "भगवन्! सारा ससार ब्रह्म-स्वरूप है और उस ब्रह्मको जानना ही उसे प्राप्त करना है, सो उस ब्रह्मको मैंने जान लिया है अर्थात् ब्रह्मको मैंने पालिया है इसलिए मैंने सब कुछ पालिया।" श्रीवशिष्ठजी बोले, "फिर कैसे कहते हो कि मैंने कुछ नही पाया?" राम बोले "भगवन्! वह ब्रह्म तो मैं स्वय हूँ, पाया क्या?" तब श्रीवशिष्ठजीने कहा, "यद्यपि ब्रह्म तुम्हारा असली स्वरूप है इसलिए उसकी प्राप्ति नही बनती, किन्तु मेरा असली स्वरूप ब्रह्म है यह आत्म-ज्ञान पहिले थोडे ही था, यह ज्ञान तो तुमने नया पाया है।"

हे शिष्य! इस प्रकार दृढ अपरोक्ष आत्मज्ञान होनेके वाद यह जीव कृतकृत्य हो जाता है। क्योकि स्मृति कहती है:— **"आत्म-लाभान्न परं विद्यते"** अर्थात् आत्म-लाभसे फिर

कोई और अधिक लाभ नही है अर्थात् आत्म-प्राप्तिके बाद फिर उस ज्ञानीको कुछ और प्राप्त करना नही रहता। साँसारिक वासनाएँ उसकी नष्ट हो जाती है, क्योकि उसे ससारके मिथ्यापनेका तथा अपने सत्-चित्-आनन्दपनेका दृढ निश्चय हो जाता है। फिर वह कर्त्तव्यकी आगमे झुलसता नही रहता अर्थात् मैंने यह कर लिया है और यह नही किया है, यह करना चाहिए और यह करूँगा, इस प्रकारकी कर्त्तव्यकी चिंता उसे नही सताती। स्वभाव व प्रारब्ध-वशात् उसके शरीरसे कर्म होते रहते है। श्रुति भी कहती है:—

"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥"

अर्थात् यदि यह पुरुष अपने आपको जानले कि 'यह ब्रह्म मैं हूँ' तो फिर उसे किस वस्तुकी इच्छा रहेगी किस पदार्थकी कामना उसे सतावेगी और किस लिए वह शरीरके दुखोसे दुखी होगा। अर्थात् उस ज्ञानीकी कोई इच्छा न रहनेसे अपने आप कर्त्तव्य-बुद्धिसे ( यह काम मुझे करना ही पडेगा इस बुद्धिसे ) कोई कर्म नही होता। गीतामे भी ३ अध्यायके १७वे श्लोकमे भगवान्‌ने कहा है —

"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्म-तृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥"

अर्थात् जिस पुरुषका केवल आत्मामे ही प्रेम है न कि विषयोमे और जो सदा आत्मामे ही तृप्त रहता है तथा आत्मामे ही सन्तुष्ट रहता है, उसके लिए कोई कर्त्तव्य शेष रहता ही नही है।" इत्यादि श्रुति स्मृतिके

प्रमाणोसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानीके लिए कोई कर्त्तव्य नही है। वैसे स्वेच्छा-प्रारब्ध, अनिच्छा-प्रारब्ध, परेच्छा-प्रारब्ध, अथवा स्वभावसे उससे कर्म हो सकते हैं। लोगोकी दृष्टिसे उसे **लोक-संग्रह** भी कहते है। वैसे वास्तव में वह कर्म नही है किन्तु **कर्माभास** है। क्योकि कर्म कहते हैं उस क्रियाको जिसे कर्त्तापने और भोक्तापनेकी भावनाके साथ किया जाय। किन्तु ज्ञानी तो समझता है कि मैं असग, अकर्त्ता, अभोक्ता, निर्विकार, अक्रिय, ब्रह्म-स्वरूप हूँ; कर्त्तापन, भोक्तापन मेरेमे है नही, यह शरीर ही प्रारब्ध-वशात् कर्म करता रहता है। इसलिए ज्ञानीके उन लोक-सग्रह-रूप अथवा शारीरिक कर्मोको कर्माभास कहते हैं। उस कर्माभाससे उसे कोई लेप नही लगता। इसलिए शास्त्रोमे आता है कि ज्ञानी कर्म करता हुआ भी नही करता अर्थात् शरीरकी दृष्टिसे कर्म करता हुआ भी साक्षी आत्माकी दृष्टिसे कर्म नही करता। गीतामें भी भगवान्ने ४ अध्यायके २०वें श्लोकमें कहा है:—

**"त्यक्त्वा कर्म-फलासंगं नित्य-तृप्तो निराश्रयः।**
**कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥"**

अर्थात् ब्रह्मानन्दमे मग्न रहनेवाला, कामना-रहित पुरुष, कर्मोंके फल और संग अर्थात् कर्तृत्व-अभिमानको त्यागकर कर्मोमे अच्छी प्रकार वर्तता हुआ भी अपनेको अकर्त्ता ही समझता है। आगे २१वे श्लोकमे भी कहा है— **"शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्"** अर्थात् आशा-रहित आत्म-ज्ञानी पुरुष, केवल शरीर-निर्वाहके लिए

कर्म करता हुआ भी किल्विष अर्थात् जन्म-मरणके कारण पुण्य-पापरूप अनिष्टको प्राप्त नही होता। और ५वे अध्याय के ७वे श्लोकमे भी कहा है —

"योग-युक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्व-भूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥"

अर्थात् कर्मयोगसे युक्त अत एव शुद्ध-मन, देहको वशमे रखनेवाला, जितेन्द्रिय एव जिसका आत्मा सम्पूर्ण प्राणियो का स्वरूपभूत आत्मा है अर्थात् जिसने "अहमेवेदं सर्वम्" ( मैं ही यह सब कुछ हूँ ) इस श्रुतिके वाक्यके अनुसार सारे ससारको अपना स्वरूप समझ लिया है, ऐसा ज्ञानी कर्म करता हुआ भी लिप्त नही होता। क्योकि वह कर्म नही किन्तु कर्माभास है अर्थात् उस कर्मको करता हुआ ज्ञानी अपने असली-स्वरूप साक्षीको अकर्त्ता समझता है। भगवान्ने भी इस कर्माभासकी विधिको बतलाते हुए गीता के ५वें अध्याय के ८ व ९ श्लोकमे कहा है —

"नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गाच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥"

अर्थात् "हे अर्जुन! तत्त्वको जाननेवाला आत्मज्ञानी देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, जाता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, तथा आँखोको खोलता और मीचता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ

अपने अपने अर्थोमे बर्त रही है, इस प्रकार समझता हुआ, नि सदेह ऐसे माने, कि मैं ( मेरा असली स्वरूप साक्षी ) कुछ नही करता ।"

श्रीनिश्चलदासजी महाराजने अपने गोप्य तत्त्व के उपदेशमे परमार्थता ( वास्तविकता ) का उपदेश करते हुए इस कर्माभासका वर्णन किया है।

**शका :—** भगवन् ! उस गोप्य तत्त्वके उपदेशको कृपा करके समझाइये ।

**उत्तर :—** हे शिष्य ! **"माया-मात्रमिदं द्वैतम्"** इस श्रुति के कथन-अनुसार यह सारा ससार माया-मात्र है अर्थात् यह सारा संसार कल्पित है वास्तवमे शुद्धब्रह्मके अतिरिक्त कुछ सत्य वस्तु है ही नही । पञ्चदशीकार श्रीविद्यारण्य स्वामीने भी चित्रदीपमे श्रुतिका प्रमाण देते हुए कहा है :—

**"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।**
**न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥२३५॥"**

अर्थात्— न कभी आत्माका नाश होता है। न यह आत्मा कभी देहके संबधमे आता है। न इसे कभी सुख-दुःख होते हैं न यह कभी सुख-दुःखोसे छूटनेके लिये साधना करता है। न इसमे कभी मुमुक्षुभाव ही रहता है और न कभी यह मुक्त ही होता है। यही परमार्थता ( वास्तविकता ) है। अर्थात् निरोध (नाश), उत्पत्ति, बद्धता, साधक-भाव, मुमुक्षुत्त्व तथा मुक्ति यह कुछ भी वास्तविक नही है। ये सब तो आत्म-सागरमे आनेवाली क्षुद्र लहरे हैं। ये सब इस आत्म-समुद्रमें उठ खडे हुए तुच्छ बुलबुले हैं। समुद्रके

गम्भीर अन्तस्तलकी तरह यह आत्म-सागर सदा शान्त और एकरस ही बना रहता है। ऊपर कही हुई घटनाओमे से एक भी घटना पारमार्थिक नही है। वस यही सम्पूर्ण शास्त्रोका निचोड किंवा परमार्थ रहस्य है।

**शङ्का** — भगवन् ! आत्मा (शुद्ध-चेतन) मे जीवपन और ईश्वरपन भी नही है क्या ?

**उत्तर :**—हे शिष्य ! वास्तवमे शुद्ध-चेतन ब्रह्ममे जीव-पन और ईश्वरपन भी कल्पित ही है। पचदशीकारने भी चित्र-दीप प्रकरणमे कहा है —

**" मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ ।**
**यथेच्छ पिबतां द्वैत तत्त्वं त्वद्वैतमेव ह ॥२३६॥"**

अर्थात् मायारूपी कामधेनुके जीव और ईश्वररूपी दो बछडे है, ये दोनो चाहे कितना ही द्वैतरूपी दूधको पीते रहे किन्तु वास्तवमे तत्त्व तो एक अद्वैत शुद्ध ब्रह्म ही है।

इसी प्रकार श्रीनिश्चलदासजी महाराज परमार्थ तत्त्वका उपदेश करते हुए कर्माभासका वर्णन करते हैं —

॥ इंदव छन्द ॥

**एक अखडित ब्रह्म असग, अजन्म अदृश्य अरूप अनासै ।**
**मूलअज्ञान न सूछमथूल, समष्टि न व्यष्टिपनो नहिं तामै ॥**
**ईस न सूत्र विराट न प्राज्ञ न, तैजस विस्वस्वरूप न जामै ।**
**भोग न जोग न बन्ध न मोछ, नहिं कछु वामै रु है सब वामै ॥**
**जाग्रतमैं जु प्रपंच प्रभासत, सो सब बुद्धिविलास बन्यो है ।**
**ज्यूं सुपनेमहिं भोग्य न भोग, तऊँ इक चित्र विचित्र जन्यो है ॥**

इच्छा अथवा जन्मान्तरके हेतुभूत शेप प्रारब्ध, इत्यादि प्रतिबन्धको ( ज्ञानमें रुकावट डालनेवालो ) के कारण, वेदान्त-श्रवणसे आत्माका प्रत्यक्ष-ज्ञान नही होता, उसे लय-चिन्तनके अभ्याससे अन्त करण शुद्ध होनेपर आत्म-ज्ञान की प्राप्तिके बाद मोक्ष प्राप्त हो जायगा। वह लय-चिन्तन का अभ्यास इस प्रकार करना चाहिये।

अभ्यास करते समय, कार्य कारणसे भिन्न नही होता किन्तु कारण-स्वरूप ही होता है यह बात ध्यानमे रखनी चाहिये। यहाँ कारण शब्दसे उपादान-कारण लिया गया है; जैसे घडेका उपादान-कारण मिट्टी है, तो घड़ा मिट्टीसे भिन्न नही अपितु मिट्टी-स्वरूप ही है। इसी प्रकार यह सारा स्थूल ब्रह्मांड पचीकृत भूतोका (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी इन पंचीकृत भूतोंका) कार्य होनेसे पचीकृत भूतोसे भिन्न नही अपितु पचीकृत-भूत-स्वरूप ही है। और पंचीकृत-भूत तथा अन्तःकरण आदि सूक्ष्म सृष्टि, अपचीकृत भूतोका कार्य है। जैसे :— अन्तःकरण अपचीकृत भूतोंके सत्त्व-गुण-अशका कार्य है, प्राण रजोगुण-अशका कार्य है ज्ञान-इन्द्रियाॅ और कर्म-इन्द्रियाँ भी उन्ही अपचीकृत भूतोके ही कार्य है, इसलिये पचीकृत भूत तथा अन्तःकरण आदि सूक्ष्म-सृष्टि, अपचीकृत भूतोसे भिन्न नही, अपितु उनका स्वरूप ही है। उन अपचीकृत भूतोमे भी, पृथ्वी जलका कार्य है, जल तेजका कार्य है, तेज वायुका कार्य है, वायु आकाशका कार्य है, आकाश तमोगुण प्रधान प्रकृतिका कार्य है और वह प्रकृति मायासे भिन्न नही; क्योकि एक

ही वस्तुके (१) प्रधान (२) प्रकृति (३) माया (४) अविद्या (५) अज्ञान (६) शक्ति ये छ नाम है। इसलिये वह प्रकृति माया-स्वरूप ही है। इससे सिद्ध हुआ कि पाँचो अपचीकृत (सूक्ष्म) भूत मायाके कार्य होनेके कारण मायासे भिन्न नही किन्तु माया-स्वरूप ही है और वह माया ब्रह्म चेतनकी शक्ति है। जैसे पुरुषकी सामर्थ्य-रूप शक्ति पुरुष से भिन्न नही होती, वैसे मायारूप शक्ति भी चेतनसे भिन्न नही है। अथवा यह माया शुद्ध-चेतनमे कल्पित ही है और कल्पित वस्तु अधिष्ठानसे भिन्न नही होती जैसे रस्सी मे कल्पित सर्प वास्तवमे रस्सीसे कोई भिन्न नही होता किन्तु रस्सीका स्वरूप ही होता है, उसी प्रकार शुद्ध-चेतन ब्रह्ममे कल्पित यह माया भी वास्तवमे ब्रह्मसे कोई भिन्न नही किन्तु ब्रह्म-स्वरूप ही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि स्थूल ब्रह्माँडसे लेकर माया तक यह सारा अनात्म ससार ब्रह्मसे भिन्न नही किन्तु ब्रह्म-स्वरूप ही है। हे शिष्य! इस प्रकार सभी अनात्म पदार्थोंका ब्रह्ममे लय-चिन्तन करके फिर "वह अद्वय ब्रह्म मैं हूँ" यह चिन्तन करना चाहिये।

**शंका** — भगवन्! आपकी कृपासे मुझे लय-चिन्तनकी विधि तो अच्छी तरहसे समझमे आगई, किन्तु आपने पहिले यह कहा था कि जिसे आत्म-ज्ञानकी बाते समझमे न आवे उसे यह लय-चिन्तन-रूप ध्यान करना चाहिये, तो भगवन्! ज्ञान और ध्यानमे कुछ भेद है क्या?

**उत्तर** — हाँ शिष्य! ज्ञान और ध्यानमे भेद है। ज्ञान तो केवल प्रमाण (आँख आदि इन्द्रिय) और प्रमेय (जानने

योग्य वस्तु) के आधीन है और ध्यान विधि (वेद आदि की आज्ञा), पुरुषकी इच्छा, विश्वास और हठके आधीन है।

जैसे :— घडेके प्रत्यक्ष ज्ञानमे आँखका घडेसे सबन्ध होनेपर पुरुषकी इच्छा, विश्वास, हठ अथवा किसीकी आज्ञा के बिना भी घडेका प्रत्यक्ष-ज्ञान हो ही जाता है। जैसे बिना इच्छा आदिके भी भाद्रपद-चतुर्थी ( चौथ ) के चन्द्रमारूप प्रमेय ( ज्ञेय ) से आँखरूप प्रमाणका सम्बन्ध होते ही चन्द्रमाका प्रत्यक्ष-ज्ञान हो ही जाता है। इसलिये **ज्ञान** प्रमाण और **प्रमेयके** ही आधीन है न कि विधि व इच्छा आदिके।

और ध्यानमे मनुष्य प्रवृत्त तभी होता है जब उसे वेद शास्त्रादिका कोई प्रेरक वचन प्रेरणा करता है कि इस ध्यान करनेसे यह फल मिलेगा इसलिए इस फलकी इच्छावाला यह ध्यान करे। इस प्रकारकी **प्रेरणाके** बाद भी यदि उपासककी **इच्छा** नही होगी तो भी ध्यान नही होगा और प्रेरणा व इच्छा रहते हुए भी यदि **विश्वास** न होगा तो भी ध्यान नही बन सकता और प्रेरणा, इच्छा तथा विश्वास होते हुए भी यदि मन चञ्चल है, बार बार भाग जाता है तो भी ध्यान नही हो सकता, इसलिये **हठसे** मनको रोकनेकी भी आवश्यकता है, इस प्रकार **ध्यान** विधि ( प्रेरणा ), इच्छा, विश्वास और हठ इन चार के आधीन है।

यही ज्ञान और ध्यानमे भेद है। श्रीविद्यारण्य स्वामी ने भी पचदशीके ध्यानदीप प्रकरणके ( ७४ ) श्लोकमे ज्ञान

और ध्यानमे क्या भेद है इस प्रश्नके उत्तरमे कहा है— **"वस्तु-तन्त्रो भवेद् बोधः कर्तृ तन्त्र-मुपासनम्"** अर्थात् ज्ञान तो वस्तुके आधीन है, और ध्यान कर्त्ता ( उपासक ) के आधीन है। इस प्रकार हे शिष्य ! ध्यान और ज्ञानमे भेद माना जाता है।

**शका :—** भगवन् ! यह जो आपने लय-चिन्तन-रूप ध्यान बतलाया, यह एक ही ध्यान है कि और भी ध्यानके प्रकार हैं ?

**उत्तर :—** हे शिष्य ! ध्यान (उपासना) प्रधानतया चार प्रकारका होता है। (१) प्रतीक-ध्यान (२) सपद्-ध्यान (३) ध्येय-अनुसार-ध्यान (४) अहग्रह-ध्यान।

(१) **प्रतीक-ध्यान :—** अन्य वस्तुके अन्यरूपसे ध्यान करने को **प्रतीक-ध्यान** कहते है। जैसे शालिग्रामका (एक प्रकार के गोल पत्थरका) विष्णुरूपसे तथा नर्मदेश्वरका (शिवलिङ्ग नामक एक गोल पत्थरका) शिवरूपसे ध्यान होता है।

यह ध्यान भी मुख्यतया आठ प्रकारका होता है (१) अग्नि (२) जल (३) सूर्य (४) मिट्टीकी मूर्ति (५) पत्थरकी मूर्ति (६) काष्ठकी मूर्ति (७) कागजका चित्र और (८) भीतपर रगोकी बनी हुई मूर्ति, इन आठ प्रकारो मे से किसी न किसीमे अपने ध्येय-रूपकी भावना करके ध्यान किया जाता है। इन आठ प्रकारोमेसे फिर और कई प्रकार निकलते है जैसे तुलसी, पीपल, तलवार, त्रिशूल, बाण पचाग्नि इत्यादि [छाँदोग्य उपनिषद्मे पचाग्नि विद्या प्रकरणमे स्वर्गलोक, मेघ, भूमि, पुरुष और स्त्री इन पाँच

पदार्थोंकी अग्निरूपसे उपासना बताई है और श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न तथा वीर्य इन पाँच पदार्थोंकी पच-अग्निकी आहुति रूपसे उपासना बतलाई है। वास्तवमे स्वर्ग आदिक अग्नि नही है और श्रद्धा सोम आदिक आहुति नही है, तो भी वेदकी आज्ञासे स्वर्गलोक आदिकोकी अग्निरूपसे और श्रद्धा आदिकोकी आहुति-रूपसे उपासना की जाती है।] ये सब प्रतीक उपासना (प्रतीक ध्यान) के अन्तर्गत है। इनमेसे जिसका जिसमे मन लगे वह उसीमे ईश्वर-भावना रखकर ध्यान करे। इस प्रतीक-ध्यानका फल **सालोक्य मोक्ष** है।

(२) **संपद्-ध्यान** :— एक अगमे सपूर्ण स्वरूपकी भावना करके ध्यान करनेको **संपद्-ध्यान** कहते है। जैसे किसी देवता के अनेक गुणोमेसे किसी एक गुणमे सब गुणोकी भावना करके ध्यान करना, जैसे विराट्के किसी एक अगमे सारे विराट् स्वरूपकी भावना करके ध्यान किया जाता है। इस सपद्-ध्यानका फल **सामीप्य मोक्ष** है।

(३) **ध्येय-अनुसार-ध्यान** :— जैसा ध्येय हो (ध्यान करने याग्य इष्टदेव हो) उसके उसी रूपसे ध्यान करनेको ध्येयानुसार ध्यान कहते है। जैसे :— शास्त्रने जैसा विष्णुका स्वरूप, शख-चक्रादिक-सहित चतुर्भुज-मूर्ति-रूपसे वर्णन किया है, उसी रूपसे विष्णुका ध्यान करना विष्णुका **ध्येयानुसार ध्यान** है। इस ध्येयानुसार ध्यानका फल **सारूप्य मोक्ष** है।

(४) **अहंग्रह-ध्यान** :— जिस ध्यानमे अह (मैं) का ग्रहण हो जैसे "मैं शिव हूँ" तो उस ध्यानको **अहंग्रह-ध्यान** कहते हैं। इस ध्यानको ध्येयानुसार-ध्यानका एक भेद भी मानते हैं।

इनमे अन्तर केवल इतना ही है कि ध्येयानुसार-ध्यानमे तो जैसा ध्येय होता है उसी स्वरूपका भेद-बुद्धिसे ध्यान किया जाता है और अहग्रह-ध्यानमे ध्येय-स्वरूपका अपनेसे अभेद (एकता) करके ध्यान किया जाता है। जैसे – विष्णुके स्वरूप का ध्यान करके फिर "सो विष्णु मै हूँ" ऐसा ध्यान करना। जैसे प्रह्लादने किया। यदि ब्रह्मका अहग्रह-ध्यान करना हो तो "मै ब्रह्म हूँ" ऐसा ध्यान करना चाहिये। इस अहग्रह-ध्यानका फल **सायुज्य मोक्ष** है। इस प्रकार हे शिष्य ! ध्यान चार प्रकारके ही होते है।

**शका** – भगवन् ! ध्यानके प्रकार तो मुझे समझमे आगए किन्तु इनके फल जो सालोक्य, सारूप्य आदि मोक्ष वतलाए उनको कृपा करके समझाइये।

**उत्तर**.– हे शिष्य ! मोक्ष कुल छः प्रकारके होते है। (१) स्वर्ग्य-मोक्ष (२) सालोक्य-मोक्ष (३) सामीप्य-मोक्ष (४) सारूप्य-मोक्ष (५) सायुज्य-मोक्ष (६) कैवल्य-मोक्ष।

(१) **स्वर्ग्य-मोक्ष** :– जिस प्रकार राजाके देशमे जहाँ राज-प्रवन्ध अच्छा रहता है वहाँ लोग सुखी रहते हैं, उसी प्रकार ईश्वर-रूपी राजाके देशमे जहाँ अच्छे अच्छे भोग प्राप्त होते है जैसे स्वर्गमे, तो इस भूलोकसे मोक्ष (छुटकारा) पाकर वहाँ स्वर्गमे जाकर जव तक पुण्य नष्ट न हो तव तक स्वर्गके भोग भोगना **स्वर्ग्य-मोक्ष** कहलाता है। यह मोक्ष स्वर्गकी कामना रखकर स्वर्गेष्टि यज्ञ आदि कर्म करनेसे प्राप्त होता है।

(२) **सालोक्य मोक्ष** :— जैसे राजा जिस नगरमे रहते

है, उस नगरमे रहनेवाले लोग कभी कभी राजाके दर्शन भी कर लेते हैं और वहाँके भोग भी भोगते है। उसी प्रकार जिस देवताकी उपासना की हो उसी देवताके लोक की प्राप्ति होना और वहाँके भोगोका भोगना **सालोक्य मोक्ष** कहलाता है। यह मोक्ष प्रतीक-ध्यानसे प्राप्त होता है।

(३) **सामीप्य मोक्ष :—** जैसे राजाके नौकर राजाके समीप रहते हैं उसी प्रकार विष्णु-लोक, शिव-लोक इत्यादि लोकोमे जाकर शिव विष्णु आदिकोके समीप निवास करनेको **सामीप्य मोक्ष** कहते है। यह मोक्ष सपद्-ध्यानसे प्राप्त होता है।

(४) **सारूप्य मोक्ष :—** राजाके छोटे भाईकी तरह, विष्णु-लोक आदिकोमे विष्णु आदिकोके समान चतुर्भुज आदि रूपको प्राप्त करके, वहाँके भोग भोगनेको **सारूप्य मोक्ष** कहते हैं। यह मोक्ष ध्येयानुसार-ध्यानसे प्राप्त होता है।

(५) **सायुज्य मोक्ष :—** राजाके बडे पुत्र (युवराज) की तरह विष्णु लोक आदिकोंमें जाकर विष्णु आदिकोके समान विभूतिको प्राप्त करना **सायुज्य मोक्ष** कहलाता है। यह मोक्ष अहग्रह-ध्यानसे प्राप्त होता है।

किन्तु हे शिष्य ! ब्रह्मलोकको प्राप्त करके, वहाँ जगत्की उत्पत्ति पालन व संहारको छोड़कर और सारी कार्य-ब्रह्म ( समष्टि सूक्ष्म सृष्टिके अभिमानी चेतन **हिरण्यगर्भ** ) के समान विभूतिको अर्थात् संकल्प-मात्रसे सिद्ध होनेवाले दिव्य पदार्थोंको भोगनारूप जो **सार्ष्टि मोक्ष** है जिसे **सायुज्य मोक्ष** भी कहते हैं वह तो केवल 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार पर

(निर्गुण) अथवा अपर (सगुण) ब्रह्मका ॐकार-द्वारा अहग्रह-ध्यान करनेसे ही प्राप्त होता है। ॐकारका अहग्रह-ध्यान परब्रह्म और अपरब्रह्म-रूपसे दो प्रकारका होता है इस बातको बताते हुए श्रुति कहती है :— **"एतद्वै सत्यकाम परं चापर च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति।"**

अर्थात्— पिप्लाद मुनि कहते है, "हे सत्यकाम ! निश्चितरूपसे यह ॐकार पर (निर्गुण) और अपर (सगुण) ब्रह्मरूप है [अर्थात् इस ॐकारका ध्यान पर-ब्रह्म और अपर-ब्रह्म-रूपसे दो प्रकारका होता है] अत विद्वान् इसी मार्गसे [अर्थात् इस ॐकाररूपी साधनके द्वारा ही] एकतर को (पर-ब्रह्म और अपरब्रह्ममेसे एकको) प्राप्त होता है। उसमे भी जो ब्रह्मलोकके भोगोकी (सायुज्य मोक्षकी) इच्छा रखनेवाले, ॐकार-द्वारा **सगुण ब्रह्मका** अहग्रह-ध्यान करते हैं, उन्हे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है किन्तु पुण्य क्षीण होने के बाद फिर जन्म-मरणके चक्रमे आना पडता है। भगवान्ने भी श्रीमद्भगवद्गीताके ८वे अध्यायके १६वे श्लोकमे कहा है, **"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन"** अर्थात् हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक तक जितने भी लोक है, उनमे जाकर पुण्य क्षीण होनेके बाद फिर ससारमे जन्म लेना पडता है।

और जो ॐकार-द्वारा **निर्गुण ब्रह्मका** अहग्रह-ध्यान करते हैं उन्हे यदि इस लोकके भोगोकी इच्छा रह गई तो इस लोकमे अत्यन्त विभूतिवाले पवित्र सत्सगी कुलमे जन्म लेकर, पूर्व इच्छा-अनुसार सारे भोग प्राप्त करके,

पहिले जन्मके अहग्रह-ध्यानके सस्कारोसे फिर अहग्रह-ध्यानमे अथवा आत्म-विचारमे प्रवृत्त होकर आत्मज्ञान प्राप्त करके **कैवल्य मोक्षको** प्राप्त होते है।

यदि ब्रह्मलोकके भोगोकी कामना रह गई हो तो वह निर्गुण ब्रह्मका अभेद उपासक उत्तरायण मार्ग (देव-मार्ग) से ब्रह्मलोक (सायुज्य मोक्ष) को प्राप्त करके, हिरण्यगर्भके समान बहुत समय तक सकल्पसिद्ध दिव्य पदार्थोको भोग कर, प्रलय-कालमे जब हिरण्यगर्भके लोकका नाश होता है, तब ज्ञान प्राप्त करके **विदेह-मोक्ष** ( कैवल्य-मोक्ष ) को प्राप्त हो जाता है। इसी बातको भगवान्ने गीतामे ८वे अध्यायके १३वे श्लोकमे कहा है :—

**" ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन्मामनुस्मरन्।**
**यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ "**

अर्थात् जो पुरुष 'ॐ' इस एकाक्षर प्रणवका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरा (मुझ निर्गुण ब्रह्मका) अभेदरूपसे ध्यान करता हुआ शरीरको छोडता है, वह पुरुष क्रमसे (देव-मार्ग-द्वारा ब्रह्मलोक जाकर, वहाँके भोग भोगनेके बाद ज्ञान प्राप्त करके) परम गतिको अर्थात् कैवल्य-मोक्षको प्राप्त हो जाता है।

यदि उस निर्गुण ब्रह्मके अहग्रह-ध्यान करनेवालेको कोई इच्छा न होगी तो वर्तमान शरीर छूटनेके बाद किसी वैराग्यवान् ज्ञानीके घरमे जन्म लेकर वहाँ श्रवण मनन आदि ज्ञानके साधनो द्वारा उसे ज्ञान प्राप्त होकर **कैवल्य मोक्षकी** प्राप्ति हो जायगी। और यदि इसी जन्ममे अन्तःकरण शुद्ध

होकर उस अहग्रह-उपासकको श्रवण आदि साधनो द्वारा आत्म-ज्ञान प्राप्त हो गया तो इसी जन्ममे उसका कैवल्य-मोक्ष हो जायगा ।

(६) **कैवल्य मोक्ष** — जिस स्थितिको प्राप्त करनेके बाद फिर जन्म-मरणके चक्रमे आना नही पडता, उस ब्राह्मी स्थितिको **कैवल्य मोक्ष** कहते है । इस कैवल्य मोक्षको प्राप्त करनेके लिए किसी लोकमे जाना नही पडता किन्तु यही प्राण लीन हो जाते है अर्थात् जैसे स्वप्न टूटनेसे स्वप्नके शरीर आदि सभी पदार्थोंका लय हो जाता है उसी प्रकार विदेह मोक्ष होनेपर सूक्ष्म शरीर आदि सारे ससारका यही लय हो जाता है और घडेके टूटनेसे जैसे घटाकाश कोई उडकर महाकाशमे नही मिलता किन्तु वह पहिलेसे ही मिला हुआ है, केवल घडेकी उपाधिसे होनेवाली भेद-प्रतीति ही नष्ट होती है, ठीक इसी प्रकार विदेह-मोक्ष होनेपर साक्षी-चेतन कोई दौडकर ब्रह्ममे नही मिलता किन्तु वह पहिलेसे ही मिला हुआ है केवल अविद्या (अविद्या व अविद्याके कार्य सूक्ष्म-शरीरादि) उपाधिसे होनेवाली भेद-प्रतीति ही नष्ट होती है । और इस प्रकार भेद-प्रतीतिके सदाके लिए नष्ट हो जानेको (जन्म-मरणके अभावको) ही **कैवल्य मोक्ष** कहते है ।

**शका :**— भगवन् ! यह कैवल्य मोक्ष कैसे प्राप्त होता है ?

**उत्तर** — हे शिष्य ! कैवल्य मोक्ष तो केवल आत्म-ज्ञानसे ही प्राप्त होता है । श्रुति ( वेद ) कहती है कि **"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"** अर्थात् विना ज्ञानके मुक्ति नही हो सकती । **"तमेव विद्वानमृत इह भवति"** ( नृसिहपूर्व० १ । ६ )

पहिले जन्मके अहग्रह-ध्यानके सस्कारोसे फिर अहग्रह-ध्यानमे अथवा आत्म-विचारमे प्रवृत्त होकर आत्मज्ञान प्राप्त करके **कैवल्य मोक्षको** प्राप्त होते है।

यदि ब्रह्मलोकके भोगोकी कामना रह गई हो तो वह निर्गुण ब्रह्मका अभेद उपासक उत्तरायण मार्ग (देव-मार्ग) से ब्रह्मलोक (सायुज्य मोक्ष) को प्राप्त करके, हिरण्यगर्भके समान बहुत समय तक सकल्पसिद्ध दिव्य पदार्थोंको भोग कर, प्रलय-कालमे जब हिरण्यगर्भके लोकका नाश होता है, तब ज्ञान प्राप्त करके **विदेह-मोक्ष** ( कैवल्य-मोक्ष ) को प्राप्त हो जाता है। इसी बातको भगवान्ने गीतामे ८वे अध्यायके १३वे श्लोकमे कहा है :—

**" ओमित्येकाक्षर ब्रह्म, व्याहरन्मामनुस्मरन् ।**
**यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ "**

अर्थात् जो पुरुष 'ॐ' इस एकाक्षर प्रणवका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरा (मुझ निर्गुण ब्रह्मका) अभेदरूपसे ध्यान करता हुआ शरीरको छोडता है, वह पुरुष क्रमसे *(देव-मार्ग-द्वारा ब्रह्मलोक जाकर, वहाँके भोग* भोगनेके बाद ज्ञान प्राप्त करके) परम गतिको अर्थात् कैवल्य-मोक्षको प्राप्त हो जाता है।

यदि उस निर्गुण ब्रह्मके अहग्रह-ध्यान करनेवालेको कोई इच्छा न होगी तो वर्तमान शरीर छूटनेके बाद किसी वैराग्यवान् ज्ञानीके घरमे जन्म लेकर वहाँ श्रवण मनन आदि ज्ञानके साधनो द्वारा उसे ज्ञान प्राप्त होकर **कैवल्य मोक्षकी** प्राप्ति हो जायगी। और यदि इसी जन्ममे अन्त करण शुद्ध

होकर उस अहग्रह-उपासकको श्रवण आदि साधनो द्वारा आत्म-ज्ञान प्राप्त हो गया तो इसी जन्ममे उसका कैवल्य-मोक्ष हो जायगा।

(६) **कैवल्य मोक्ष** — जिस स्थितिको प्राप्त करनेके बाद फिर जन्म-मरणके चक्रमे आना नही पडता, उस ब्राह्मी स्थितिको **कैवल्य मोक्ष** कहते है। इस कैवल्य मोक्षको प्राप्त करनेके लिए किसी लोकमे जाना नही पडता किन्तु यही प्राण लीन हो जाते है अर्थात् जैसे स्वप्न टूटनेसे स्वप्नके शरीर आदि सभी पदार्थोका लय हो जाता है उसी प्रकार विदेह मोक्ष होनेपर सूक्ष्म शरीर आदि सारे ससारका यही लय हो जाता है और घडेके टूटनेसे जैसे घटाकाश कोई उडकर महाकाशमे नही मिलता किन्तु वह पहिलेसे ही मिला हुआ है, केवल घडेकी उपाधिसे होनेवाली भेद-प्रतीति ही नष्ट होती है, ठीक इसी प्रकार विदेह-मोक्ष होनेपर साक्षी-चेतन कोई दौडकर ब्रह्ममे नही मिलता किन्तु वह पहिलेसे ही मिला हुआ है केवल अविद्या (अविद्या व अविद्याके कार्य सूक्ष्म-शरीरादि) उपाधिसे होनेवाली भेद-प्रतीति ही नष्ट होती है। और इस प्रकार भेद-प्रतीतिके सदाके लिए नष्ट हो जानेको (जन्म-मरणके अभावको) ही **कैवल्य मोक्ष** कहते है।

**शका :**— भगवन्! यह कैवल्य मोक्ष कैसे प्राप्त होता है?

**उत्तर :**— हे शिष्य! कैवल्य मोक्ष तो केवल आत्म-ज्ञानसे ही प्राप्त होता है। श्रुति ( वेद ) कहती है कि **"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"** अर्थात् विना ज्ञानके मुक्ति नही हो सकती। **"तमेवं विद्वानमृत इह भवति"** ( नृसिहपूर्व० १। ६ )

अर्थात् उसको (ब्रह्मको) जाननेवाला इस लोकमे अमृत (मुक्त) हो जाता है। **"नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"** ( श्वेता० ६ । १५ ) अर्थात् मोक्ष-प्राप्तिके लिये ज्ञानके सिवाय और कोई दूसरा मार्ग नही है। **"तरति शोकमात्मवित्"** ( छा० उ० ७ । १ । ३ ) अर्थात् आत्मज्ञानी शोक (जन्म-मरणादिदु.ख) के पार हो जाता है। **"निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ।"** (क० उ० १ । ३ । १५) उसका (ब्रह्मसे अभिन्न आत्माका) अनुभव कर लेनेपर मृत्युके मुखसे छूट जाता है।

**"कर्मज बुद्धि-युक्ता हि, फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।**
**जन्म-बन्ध-विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥"**

**(गीता २।५१)**

अर्थात् समत्व-बुद्धि ( ज्ञान ) से युक्त आत्मज्ञानी पुरुष कर्म-जनित फल (जन्म-मरणादि ससार) को त्यागकर, जन्म-बन्धनसे मुक्त होकर समस्त उपद्रवोसे रहित मोक्ष नामक परमपदको प्राप्त करते हैं।

**"सर्वं ज्ञान-प्लवेनैव वृजिनं सतरिष्यसि ।"**
**"ज्ञानाग्निः सर्व-कर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा"**

(गीता ४ । ३६-३७)

अर्थात् "हे अर्जुन ! तू ज्ञानरूप नौकाके द्वारा ही समस्त पापरूप समुद्रसे अच्छी तरह पार उतर जायगा अर्थात् मुक्त हो जायगा ।"

"उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म (निर्बीज) कर देता है अर्थात् कर्मोंके भस्म होनेसे जन्म-मरण का चक्र टूट जाता है ।"

"सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं पर स्मृतम् ।
तद्ध्यग्र्य सर्व-विद्याना प्राप्यते ह्यमृत यतः ।।"

अर्थात् इन सभी साधनोमे आत्मज्ञान ही उत्कृष्ट साधन माना गया है तथा सम्पूर्ण विद्याओमे भी वही सबसे बढकर है, क्योकि इससे अमृतत्व ( मोक्ष ) की प्राप्ति होती है ।

हे शिष्य ! इस प्रकार श्रुति ( वेद ), गीतादि स्मृति और इतिहासादिकोके अनेक प्रमाण है जिनसे यह सिद्ध होता है कि केवल ज्ञानसे ही **कैवल्य मोक्षकी** प्राप्ति हो सकती है न कि किसी और उपायसे ।

किन्तु जिसको अन्तःकरण अशुद्ध होनेके कारण आत्म-ज्ञानकी बाते समझमे नही आती, उन्हे ॐद्वारा परब्रह्म (निर्गुण ब्रह्म) का अहग्रह ध्यान करना चाहिये । जिससे उसका अन्त करण शुद्ध होकर ज्ञान-प्राप्तिके बाद मोक्ष हो जायगा ।

अथर्ववेदके श्रीनृसिंहोत्तर तापनी उपनिषद्मे भी ॐकार द्वारा निर्गुण-ब्रह्मका ध्यान करनेसे ज्ञान होकर मोक्ष मिलता है यह बतलाते हुए कहा :—

**"सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति अशरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणो ह्यमनाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराट् भवति य एवं वेद चिन्मयो ह्ययमोङ्कारश्चिन्मयमिदं सर्वं तस्मात्परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद्-ब्रह्माभय वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् ।"**

अर्थात् "वह कामना-रहित हो जाता है । उसके

मनसे सब लौकिक-कामनाएँ निकल जाती है। उसे सम्पूर्ण कामनाओका फल प्राप्त हो जाता है (उसके मनमे किसी भी वस्तुको पानेकी इच्छा शेप नही रहती)। वह केवल आत्माकी ही कामना रखता है, अनात्माकी नही। मृत्यु के पश्चात् उसके प्राण ( साधारण प्राणियोके समान ) उत्क्रमण (कर्मफल-भोगार्थ अन्य शरीर धारण करनेके लिये गमन) नही करते, किन्तु यही (आत्मा-अभिन्न-ब्रह्ममे ही) लीन हो जाते हैं। वह पहिलेसे ब्रह्म-स्वरूप होता हुआ ही पुनः ब्रह्मको ही प्राप्त होता है [केवल ब्रह्मसे भिन्न होनेका भ्रममात्र ही दूर होता है, अर्थात् अपने असली स्वरूप ब्रह्मके अज्ञानसे उत्पन्न हुआ अब्रह्मत्व ( जीवपना ) नष्ट हो जाता है]।

वह शरीर-रहित, इन्द्रिय-रहित, प्राण-रहित, तम ( मोह एव अज्ञान ) से रहित तथा शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप स्वराट् ( स्वयम्प्रकाश-ब्रह्म ) हो जाता है **जो कि यह जान जाता है कि :—**

निश्चय ही यह ओङ्कार चिन्मय है [चित्का अर्थ है चेतन-शुद्धचेतनब्रह्म, ॐकार चेतनका बोधक (वाचक) है; इसलिए चिन्मय है]। यह सब जो कुछ प्रतीत होता है, ( सारा ससार ), चिन्मय ही है। इसलिए ब्रह्मके लक्षणभूत चिन्मयत्वसे युक्त होनेके कारण, यह ॐकार परमेश्वर ( ब्रह्म-स्वरूप ) ही है। इस प्रकार संसार और ॐकार दोनों की चिन्मयता एक होनेके कारण, दोनो एकमात्र ब्रह्म ही है। यह अमृत-स्वरूप है, यह ब्रह्म सर्वथा भय-रहित है।

जिसे ॐकार-द्वारा इस प्रकार ब्रह्मका ज्ञान हो जाता है, **वह अवश्य ही भय-रहित ब्रह्म हो जाता है।** यह इस प्रसगका गूढ रहस्य है।"

**शका :—** भगवन्! तो कृपा करके वतलाइये कि ॐका अहंग्रह ध्यान कैसे किया जाय?

**उत्तर —** हे शिष्य! ॐका अहंग्रह-ध्यान सगुण ब्रह्म व निर्गुण ब्रह्मरूपसे दो प्रकारका होता है, और ब्रह्मलोककी कामनावालेको सगुण ॐका तथा कैवल्य मोक्ष अथवा ब्रह्मलोक की प्राप्तिके वाद कैवल्य मोक्षकी कामनावालेको निर्गुण ॐका ध्यान करना चाहिये, यह तो मैंने पहिले विस्तारसे तुम्हे वतला दिया है। अव उन दोनो ध्यानोमेसे तुम्हे सगुण ॐके ध्यानका प्रकार (तरीका) वतलाकर फिर निर्गुण ॐके ध्यानका प्रकार वतलाता हूँ।

सगुण ॐका ध्यान :— सगुण-ध्यान दो प्रकारका होता है।

(१) **साकार-सगुण-ध्यान** (२) **निराकार-सगुण-ध्यान**।

(१) **साकार-सगुण-ध्यान —** यह ध्यान नाना प्रकारका होता है, क्योकि ईश्वरके साकार-सगुण-अवतार भी राम-कृष्ण आदि रूपसे नाना हुए है। उनमेसे जिसमे भी मन लगे उसे ॐरूप समझ करके उससे **अभेद-भावना रखकर** ध्यान करने को, **साकार-सगुण ॐका अहंग्रह ध्यान** कहते है।

(२) **निराकार-सगुण-ध्यान :—** जो माया-विशिष्ट-चेतन ईश्वर है, वह रग-रूप आदि आकारसे रहित होनेके कारण निराकार तो है किन्तु त्रिगुणमयी मायासे विशिष्ट (मिला हुआ) होनेके कारण सगुण भी है। उस निराकार सगुण ईश्वर

का ॐकारसे अभेद करके अहग्रह-ध्यान (सो मैं हूँ इस प्रकारके ध्यान) करनेको **निराकार सगुण ॐका अहंग्रह ध्यान** कहते हैं।

**निर्गुण ॐका ध्यान :—** संसारमे जो कुछ कार्य-कारणरूप वस्तुएँ दीखती है वे सब ओकार-स्वरूप हैं, इसलिए सारा ससार ॐरूप माना जाता है। क्योकि जितने भी ससारमे पदार्थ है उन सबमे नाम और रूप ये दो भाग है। उसमे रूप-भाग अपने-अपने नाम-भागसे अलग नही है किन्तु **नाम-स्वरूप** हीं है; क्योकि पदार्थोंके जो रूप अर्थात् आकार हैं, उनका नाम द्वारा निरूपण करके ही ग्रहण अथवा त्याग होता है। बिना नामके जाने केवल आकारसे कोई व्यवहार सिद्ध नही होता। और जैसे घडेका नाश होनेपर भी मिट्टीके शेष रह जानेके कारण, घडा मिट्टीसे भिन्न नही अपितु मिट्टी-स्वरूप ही माना जाता है, उसी प्रकार आकारके नष्ट होने पर भी नाम शेष रह जाता है इसलिए आकार नामसे भिन्न नही किन्तु **नाम-स्वरूप** ही है।

किंवा जैसे घडा, सुराई, ढक्कन इत्यादि जितने भी मिट्टी के बने हुए पदार्थ हैं उन सबमे मिट्टी व्यापक होनेके कारण वें सब मिट्टीसे भिन्न नही किन्तु मिट्टी-स्वरूप ही है, ठीक इसी प्रकार जितने भी ससारमे आकार है उन सबमे नाम व्यापक है इसलिए वे सव अपने-अपने नाम-भागसे भिन्न नही किन्तु नाम-स्वरूप ही है। और एक नामवाले सभी पदार्थोंके आकारोमे वह एक नाम व्यापक रहता है। जैसे घडे नामके जितने भी पदार्थ हैं उन सवके आकारो मे 'घडा' यह दो अक्षरका नाम व्यापक है। इससे यह सिद्ध होता है कि

ससारमे जितने भी पदार्थ है उन सबके आकार (रूप-भाग), अपने अपने नाम भागसे भिन्न नही है किन्तु **नाम-स्वरूप** ही है। तथा जैसे घडेमे मिट्टी निकाल लेनेके बाद, घडा केवल नाममात्र रह जाता है, उसी प्रकार इस ब्रह्माण्डमे व्यापक अस्ति, भाति व प्रियरूप परब्रह्मके सिवाय, यह ससार केवल नाममात्र है, अतएव इस ससारको नाम-स्वरूप कहते है।

जैसे सभी पदार्थोंके आकार नामसे भिन्न नही अपितु नाम-स्वरूप ही है, वैसे सभी नाम ॐकारसे भिन्न नही अपितु **ओंकार-स्वरूप** ही है, क्योकि ओंकार सभी नामो (शब्दो) का वाचक है। श्रीनृसिंहोत्तर तापनी उपनिषद्मे भी आया है कि **"नैवमिति पृष्ट ओमित्येवाह वाग्वा ओङ्कारो वागेव"** अर्थात् "जब कोई किसी मनुष्यसे पूछता है कि "क्या यह बात ऐसी ही है ? क्या यह बात ऐसी नही है ?" तो उसके उत्तरमे वह ओम् ( हाँ ) का ही उच्चारण करता है। (अत सबका वाचक होनेके कारण ओंकार सर्वत्र व्यापक है।) **निश्चय ही वाणीमात्र ॐकार है।**" तथा सभी नाम ओंकारसे उत्पन्न हुए है, यह भी वेदमे प्रसिद्ध ही है। और यह नियम है कि 'सभी कार्य कारण-स्वरूप होते है', इससे यह सिद्ध होता है कि **ओंकारके कार्य, जितने भी वाचक शब्द (नाम) हैं, वे सब ओंकार-स्वरूप हैं।**

इस प्रकार हे शिष्य ! ससारके सभी पदार्थोंके आकार नाम-स्वरूप हैं और सभी नाम ओंकार-स्वरूप है। इससे

सिद्ध हुआ कि सारा ससार ओकार-स्वरूप है। और वह ओकार ब्रह्म-स्वरूप है, क्योकि जैसे **"ॐकार एवेदं सर्वम्"** यह श्रुति सारे ससारको ॐकार-स्वरूप बतलाती है। उसी प्रकार **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** अर्थात् निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है। **"सर्वं ह्येतद् ब्रह्म"** अर्थात् यह सब ब्रह्म ही है। **"एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन"** अर्थात् एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, यह जो नानापन प्रतीत हो रहा है वह वास्तवमे कुछ नही।" इत्यादि श्रुतियाँ सारे ससार को ब्रह्म-स्वरूप ही बतलाती है और ॐकार ब्रह्मका वाचक है तथा ब्रह्म वाच्य है। वाच्य और वाचकका आपसमे अभेद होता है, इसलिए भी ॐकार ब्रह्म-स्वरूप है। और जब सारा ससार ब्रह्ममे कल्पित है तो ॐकार भी ससारके अन्तर्गत होनेके कारण ब्रह्ममे कल्पित ही है। यह नियम है कि 'कल्पित वस्तु अधिष्ठानसे भिन्न नही होती।' इस नियमसे भी ॐकार ब्रह्म-स्वरूप ही है। और श्रुति भी कहती है कि **"ओमित्येतदक्षरं परं ब्रह्म"** अर्थात् "ओम्" यह अक्षर परब्रह्म-स्वरूप है।" श्रीमद्भगवद्गीतामे भी ८वे अध्यायके १३वे श्लोकमे आया है कि **"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म"** अर्थात् ओम् यह एक अक्षर ब्रह्म-स्वरूप है।" इत्यादि प्रमाणोसे यह सिद्ध हुआ कि **ॐकार ब्रह्म-स्वरूप** है। इसलिए हे शिष्य! ॐकारको ब्रह्म-स्वरूप समझकर चिन्तन करना चाहिए।

और जैसे ओकार ब्रह्म-स्वरूप है इसी प्रकार आत्मा भी ब्रह्म-स्वरूप ही है; क्योकि जैसे ब्रह्म सत् चित् आनन्द

स्वरूप है, वैसे आत्मा भी सच्चिदानन्द स्वरूप ही है। श्रुति भी कहती है — **"सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवात्र ह्येव न विचिकित्स्यम्"** अर्थात् यह सत्य है कि आत्मा ब्रह्म ही है और ब्रह्म आत्मा ही है, इस विषयमे कोई सशय नही करना चाहिए। और **"अयमात्मा ब्रह्म"** अर्थात् यह आत्मा ( मेरा असली स्वरूप ) ब्रह्म है। इसलिए हे शिष्य! ओंकारका अहग्रह ध्यान करते समय ओंकार, ब्रह्म और आत्मा इन तीनोका आपसमे **अभेद-चिन्तन** करना चाहिए।

**शंका** — भगवन्! तो कृपा करके बतलाइये कि ॐकार का ध्यान करते समय ॐ, ब्रह्म तथा आत्माका अभेद-चिन्तन कैसे किया जाय?

**उत्तर** — हे शिष्य! ॐकारका वाच्य ( अर्थ ) जो ब्रह्म है वही आत्माका असली स्वरूप है अर्थात् वह आत्मासे ( अपने असली स्वरूप साक्षीसे ) भिन्न नही है। इसलिए ॐकारका ध्यान करते समय **"वह ॐकार-रूप ब्रह्म मै हूँ"** इस प्रकार ॐकार, ब्रह्म और आत्माके अभेदका चिन्तन करना चाहिए।

हे शिष्य! अब इन तीनोके अभेदको, अधिक स्पष्ट करनेके लिए, नीचे एक कोष्टक-चित्र ( नक्शा ) बताता हूँ, जिसे समझनेसे तुम्हे इनका अभेद अच्छी तरहसे समझमे आजायगा।

ओंकार, ब्रह्म और आत्माके चार पादोंका कोष्ठक-चित्र ( नक्शा )

| क्रमाङ्क | (१) | (२) | (३) | (४) |
| --- | --- | --- | --- | --- |
| ॐकारके मात्रा-रूप चार पाद | अकार | उकार | मकार | अमात्र |
| आत्माके चार पाद | विश्व | तैजस | प्राज्ञ | जीव-साक्षी वा कूटस्थ |
| ब्रह्मके चार पाद | विराट् | हिरण्यगर्भ | ईश्वर | ईश्वर-साक्षी वा शुद्ध ब्रह्म |
| उपाधि | स्थूल | सूक्ष्म | कारण | स्थूलादि तीनोंका अभाव |
| अवस्था | जाग्रत् | स्वप्न | सुषुप्ति | तुरीया |

हे शिष्य ! जैसे शास्त्रोमे ब्रह्मके चार पाद ( $\frac{1}{4}$ अंश ) कहे गए है वैसे आत्मा तथा ॐकारके भी चार पाद है। जैसे —

**ब्रह्मके चार पाद** — (१) विराट् (२) हिरण्यगर्भ (३) ईश्वर और (४) तत्पदका लक्ष्य ईश्वर-साक्षी ।

**आत्माके चार पाद** :— (१) विश्व (२) तैजस (३) प्राज्ञ और (४) त्वंपदका लक्ष्य जीव-साक्षी ।

**ॐकारके चार पाद** — (१) अकार (२) उकार (३) मकार और (४) अमात्र

(१) **विराट्** :— समष्टि-स्थूल-प्रपंच-सहित-चेतन अर्थात् सम्पूर्ण-स्थूल-संसार-सहित-चेतनको **विराट्** कहते हैं। जिसका वर्णन गीताके ११वे अध्यायमे भी आया है ।

(१) **विश्व** :—व्यष्टि-स्थूल-अभिमानी अर्थात् भिन्न-भिन्न स्थूल शरीरमे अभिमान करनेवालेको **विश्व** कहते है ।

विराट् और विश्व इन दोनोकी उपाधि एक स्थूल ही है, अतः **विश्व, विराट्से भिन्न नहीं अपितु विराट्रूप ही** है अर्थात् इन दोनोका परस्पर अभेद है ।

इस विराट्रूप विश्वके सात अंग हैं :—

(१) स्वर्गलोक **मूर्धा** (मस्तक) है। (२) सूर्य चन्द्र **नेत्र** हैं। (३) वायु **प्राण** है। (४) आकाश **कबन्ध** ( धड ) है। ( ५ ) समुद्रादिरूप जल **मूत्र-स्थान** है। ( ६ ) पृथ्वी **पाद** ( पाँव ) है। ( ७ ) जिस अग्निमे होम किया जाता है वह अग्नि **मुख** है ।

और इसी विराट्रूप विश्वके उन्नीस मुख है–पाँच प्राण, पाँच कर्म-इन्द्रिय, पाँच ज्ञान-इन्द्रिय और चार अन्तःकरण; (मन, बुद्धि, चित्त और अहकार) ये उन्नीस, मुखकी तरह भोगके साधन होनेके कारण, मुख कहलाते है।

किन्तु इन उन्नीस मुखोमे जो श्रोत्रादिक दस इन्द्रियाँ और चार अन्तःकरण है, इन चौदहोसे अपने अपने विषय तथा देवताकी सहायताके बिना कोई भोग नही हो सकता, इसलिए पाँच प्राण और चतुर्दश-त्रिपुटी ( दश इन्द्रियाँ, चार अन्तःकरण ये चौदह और उनके विषय व देवता इन सबको मिलाकर चतुर्दश-त्रिपुटी कहते हैं ) ये सभी विराट्रूप विश्वके **मुख** कहलाते है।

**शंका** :—भगवन् ! इस चतुर्दश-त्रिपुटीको कुछ स्पष्टरूप से समझाइये।

**उत्तर** :— हे शिष्य ! अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव के समुदायको **त्रिपुटी** कहते हैं।

**अध्यात्म** :— ज्ञान-इन्द्रिय, कर्म-इन्द्रिय और अन्तःकरण को **अध्यात्म** कहते हैं।

**अधिभूत** :— इनके विषयोको **अधिभूत** कहते हैं।

**अधिदैव** :— और इनके सहायक देवताओको **अधिदैव** कहते हैं।

ये त्रिपुटियाँ कुल **चौदह** है। जैसे :—

(१) श्रोत्र-इन्द्रिय ( कान ) **अध्यात्म** है, इसका विषय 'शब्द' **अधिभूत** है और दिशाका अभिमानी देवता **अधिदैव** है।

(२) त्वचा-इन्द्रिय **अध्यात्म** है, इसका विषय 'स्पर्श' **अधिभूत** है और वायुका अभिमानी देवता **अधिदैव** है।

(३) नेत्र-इन्द्रिय **अध्यात्म** है, रूप **अधिभूत** है और सूर्य **अधिदैव** है।

(४) रसना-इन्द्रिय **अध्यात्म** है, रस **अधिभूत** है और वरुण **अधिदैव** है।

(५) घ्राण-इन्द्रिय (नाक) **अध्यात्म** है, गन्ध **अधिभूत** है और अश्विनीकुमार वा पृथिवीका अभिमानी देवता **अधिदैव** है।

(६) वाक्-इन्द्रिय (वाणी) **अध्यात्म** है, वक्तव्य (कहने योग्य) **अधिभूत** है और अग्नि देवता **अधिदैव** है।

(७) हस्त-इन्द्रिय (हाथ) **अध्यात्म** है, पदार्थको ग्रहण करना **अधिभूत** है और इन्द्र **अधिदैव** है।

(८) पाद-इन्द्रिय (पाँव) **अध्यात्म** है, गमन (चलना) **अधिभूत** है और विष्णु **अधिदैव** है।

(९) गुदा-इन्द्रिय **अध्यात्म** है, मलका त्याग **अधिभूत** है और यम **अधिदैव** है।

(१०) उपस्थ-इन्द्रिय (भोग-इन्द्रिय) **अध्यात्म** है, ग्राम्यधर्मके सुखकी उत्पत्ति **अधिभूत** है और प्रजापति **अधिदैव** है।

(११) मन **अध्यात्म** है, मननका विषय **अधिभूत** है और चन्द्रमा **अधिदैव** है।

(१२) बुद्धि **अध्यात्म** है, बोद्धव्य ( जानने योग्य ) **अधिभूत** है और बृहस्पति **अधिदैव** है।

(१३) अहकार **अध्यात्म** है, अहकारका विषय **अधिभूत** है और रुद्र **अधिदैव** है।

(१४) चित्त **अध्यात्म** है, चिन्तनका विषय **अधिभूत** है और क्षेत्रज्ञ जो साक्षी है वह **अधिदैव** है।

यह चतुर्दश-त्रिपुटी और पाँच प्राण ये उन्नीस विराट् रूप विश्वके **मुख** हैं।

जैसे विश्वका विराट्से अभेद है, वैसे ओंकारकी पहिली मात्रा जो अकार है उसका भी विराट्रूप विश्वसे अभेद है, क्योंकि जैसे ब्रह्मके चार पादोमे पहिला पाद **विराट्** है और आत्माके चार पादोंमें पहिला पाद **विश्व** है उसी प्रकार ओंकारके मात्रारूप चार पादोंमे पहिला पाद **अकार** है। इस प्रकार विराट्, विश्व और अकार इन तीनोमें 'पहिलापन' रूप समान धर्म होनेके कारण, **इन तीनोंका आपसमें अभेद चिन्तन** करना चाहिए।

(२) **हिरण्यगर्भ**:—समष्टि-सूक्ष्म-प्रपच-सहित-चेतन अर्थात् सारे सूक्ष्म संसार सहित चेतनको **हिरण्यगर्भ** कहते हैं।

(२) **तैजस**:—व्यष्टि-सूक्ष्म-अभिमानी अर्थात् भिन्न भिन्न (अकेले) सूक्ष्म शरीरमे अभिमान करनेवालेको **तैजस** कहते हैं।

जो सात अग और उन्नीस मुख पहिले विश्वके वताए, वे ही तैजसके भी समझने चाहिये। उनमे भेद केवल इतना है कि:—विश्वके जो अग और मुख है, वे **ईश्वर-रचित** है और तैजसके जो इन्द्रिय-देवता-विषयरूप त्रिपुटी और मूर्धादि अग हैं वे **मनोमय** हैं। और विश्वके भोग्य

वाह्य शब्दादिक **स्थूल** है व तैजसके भोग्य मानस होनेके कारण सूक्ष्म है, अत विश्वका भोग स्थूल होनेके कारण, उसे **स्थूलका भोक्ता** कहते हैं तथा तैजसका भोग सूक्ष्म होनेके कारण, उसे **सूक्ष्मका भोक्ता** कहते है। और विश्व **वहि:प्रज्ञ** है व तैजस **अन्त:प्रज्ञ** है, क्योकि विश्वकी जो अन्त करणकी वृत्तिरूप प्रज्ञा है, वह वाहर जाती है और तैजसकी वाहर नही जाती।

हे शिष्य! जैसे पहिले विश्व और विराट्का अभेद वताया था वैसे **तैजस और हिरण्यगर्भका भी अभेद** (एकता) समझना, क्योकि जैसे तैजसकी उपाधि सूक्ष्म है वैसे हिरण्यगर्भकी भी उपाधि सूक्ष्म ही है।

इस प्रकार तैजस और हिरण्यगर्भकी एकताको जाननेके वाद उस हिरण्यगर्भरूप तैजसका ओंकारकी दूसरी मात्रा उकारसे अभेद-चिन्तन करना चाहिए, क्योकि जैसे ब्रह्मके चार पादोमे दूसरा पाद **हिरण्यगर्भ** है और आत्माके चार पादोमे दूसरा पाद **तैजस** है, उसी प्रकार ओंकारके मात्रा-रूप चार पादोमे भी दूसरा पाद **उकार** है। इस प्रकार हिरण्यगर्भ, तैजस और उकार इन तीनोंमे 'दूसरापन' रूप समान धर्म होनेके कारण, **इन तीनोका आपसमें अभेद-चिन्तन** करना चाहिये।

(३) **ईश्वर**:– समष्टि-कारण-प्रपच – ( समष्टि-अविद्या अर्थात् माया )-सहित-चेतनको ईश्वर कहते है।

(३) **प्राज्ञ**:– व्यष्टि-कारण-(अविद्या)-अभिमानी अर्थात् भिन्न भिन्न कारण-शरीरमे अभिमान करनेवालेको **प्राज्ञ**

कहते है ।

जैसे विश्व और तैजसका भोग त्रिपुटीसे होता है, वैसे प्राज्ञके भोगकी भी त्रिपुटी है। उसमे चेतनके प्रतिबिंब सहित जो अविद्याकी वृत्ति है वह **अध्यात्म** है, अज्ञानसे आवृत (ढका हुआ) जो स्वरूपानन्द है वह **अधिभूत** है और ईश्वर **अधिदैव** है ।

अविद्यासे आवृत उस स्वरूप-आनन्दको भोगनेके कारण, वेदने इस प्राज्ञको **आनन्दभुक्** कहा है । और जैसे विश्व बहि:प्रज्ञ और तैजस अन्तःप्रज्ञ है वैसे यह प्राज्ञ **प्रज्ञानघन** है; क्योकि जैसे पीसे हुए अन्नके कण जलकी सहायतासे आपसमे मिलकर, घनरूपमे ( एक पिंडरूपमे ) हो जाते है अथवा वर्षाके जलके अनेक कण तलावमें एकरूप हो जाते हैं, उसी प्रकार जाग्रत् व स्वप्नके अनेक प्रज्ञान ( ज्ञान ) सुषुप्ति-अवस्थामे एक अविद्या-रूपमे ( घनरूपमे ) हो जाते हैं, उस अविद्यामे स्थित जो अधिष्ठान कूटस्थ चेतनका प्रतिबिम्बरूप प्राज्ञ-जीव है, वह **प्रज्ञानघन** कहलाता है ।

ईश्वर और प्राज्ञ इन दोनोकी उपाधि एक कारण (अविद्या) ही है, अतः **प्राज्ञ, ईश्वरसे भिन्न नहीं अपितु ईश्वर-रूप ही** है अर्थात् प्राज्ञ और ईश्वर दोनोका परस्पर अभेद है ।

हे शिष्य ! जैसे प्राज्ञका ईश्वरसे अभेद है, उसी प्रकार ओंकारकी तीसरी मात्रा जो मकार है उसका भी ईश्वररूप प्राज्ञसे अभेद है; क्योंकि जैसे ब्रह्मके चार पादोमे तीसरा पाद ईश्वर है और आत्माके चार पादोमे तीसरा पाद प्राज्ञ है

उसी प्रकार ओंकारके भी मात्रारूप चार पादोमे तीसरा पाद मकार है। इस प्रकार ईश्वर, प्राज्ञ और मकारमे 'तीसरापन' रूप समान **धर्म** होनेके कारण, **इन तीनोंका परस्पर अभेद चिन्तन** करना चाहिए।

हे शिष्य! इस प्रकार तुमने अकारके वाच्य (वाच्य-अर्थ) विराट्-अभिन्न-विश्व, उकारके वाच्य हिरण्यगर्भ-अभिन्न-तैजस व मकारके वाच्य ईश्वर-अभिन्न-प्राज्ञ, इन तीनोका **पृथक्-पृथक् रूपसे अभेद-चिन्तन** सुना। इस चिन्तनके बाद फिर इन तीनो ( विश्व, तैजस व प्राज्ञका ) **आपसमें अभेद-चिन्तन** ( एकता-चिन्तन ) करना चाहिए।

**शंका :—** भगवन्! इस शरीरमे आपने तीन जीव बताए, (१) जाग्रत्का विराट्रूप **विश्व** (२) स्वप्नका हिरण्यगर्भरूप **तैजस** और (३) सुषुप्तिका ईश्वररूप **प्राज्ञ**। सो भगवन्! इन भिन्न भिन्न अवस्थावाले तीनो जीवोकी आपसमे एकता कैसे हो सकती है?

**उत्तर :—** हे शिष्य! वास्तवमे जीव एक ही है। यह जो तुम्हे भेद प्रतीत हो रहा है, वह केवल अवस्थाओंकी उपाधि से ही। यदि जाग्रत्, स्वप्न व सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ न होती तो तुम्हे विश्व, तैजस व प्राज्ञ, ये तीन प्रकारके जीवके भेद भी नजर न आते।

और ये जीव वास्तवमे ही यदि तीन होते तो स्वप्न की सृष्टिका भोक्ता तो है तैजस-जीव और जाग्रत्मे उस स्वप्न-सृष्टिका वर्णन करता है विश्व-जीव, यह कैसे बन सकता। देखे एक बताये दूसरा यह नही बन सकता। इसी

प्रकार सुषुप्ति अवस्थामे भी आनन्दका अनुभव करता है प्राज्ञ-जीव और जाग्रत्मे उस आनन्दका वर्णन करता है विश्व-जीव; क्योकि जाग्रत् अवस्थामे स्वप्न व सुषुप्ति अवस्थाका वर्णन करनेवाला प्राज्ञ व तैजस न मानकर केवल विश्व ही माना जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीव एक ही है केवल उपाधिके कारण उसके तीन नाम रखे गये है। **वही एक जीव,** जब सुषुप्ति अवस्था होती है तब स्वरूप-आनन्द-आकार अविद्याकी वृत्तिरूप उपाधि होनेके कारण **प्राज्ञ** कहलाता है और जब स्वप्न-अवस्थामे कण्ठ स्थानमे आता है तब **तैजस** कहलाता है तथा जब जाग्रत्-अवस्थामे नेत्र स्थानमें आता है तब **विश्व** कहलाता है।

, उस विश्वकी उपाधि, स्थूल सूक्ष्म व कारण (अज्ञान) ये तीनो है, इसलिए वह तीनो अवस्थाओंको जानता है। तैजस की उपाधि सूक्ष्म और कारण ये दो हैं, इसलिए वह उस समय जाग्रत्को नही जानता किन्तु स्वप्नको जानता है तथा इन्द्रियाँ कारण शरीरमे लीन है। और प्राज्ञकी उपाधि केवल कारण (अविद्या) है, इसलिए वह उस समय जाग्रत् व स्वप्नको नही जानता, क्योकि जाग्रत्को जाननेवाली इन्द्रियाँ व स्वप्न संसार सभीका उस समय अज्ञानमे लय हो जाता है। इस प्रकार उपाधिके भेदसे इन तीनोमे भेद प्रतीत होता है, परन्तु वास्तवमे इन तीनोमे स्वरूपसे कोई भेद नही है अर्थात् ये तीनो एकरूप ही हैं। इसलिए **इन तीनोंका ( विश्व, तैजस व प्राज्ञका ) आपसमें अभेद-चिन्तन करना चाहिये।**

**(४) तत्पदका लक्ष्य ईश्वर-साक्षी :—** विराट्, हिरण्यगर्भ

और ईश्वरमे अनुगत शुद्ध चेतन, जो इन तीनोका अधिष्ठान है वह **ईश्वर-साक्षी** वा **ब्रह्म** कहलाता है।

(४) **त्वं पदका लक्ष्य जीव-साक्षी** :— विश्व, तैजस और प्राज्ञमे अनुगत शुद्ध चेतन, जो इन तीनोका अधिष्ठान है वह **जीव-साक्षी** वा **कूटस्थ** कहलाता है।

हे शिष्य! जैसे विराट् और विश्व, हिरण्यगर्भ और तैजस, ईश्वर और प्राज्ञ इन सबका वास्तवमे अभेद है, वैसे विराट् हिरण्यगर्भ व ईश्वर इन तीनोमे अस्ति-भाति-प्रिय-रूपसे अनुगत (व्यापक) **ईश्वर-साक्षी** अर्थात् **ब्रह्म** और विश्व, तैजस व प्राज्ञ इन तीनोमे अस्ति-भाति-प्रियरूपसे अनुगत **जीव-साक्षी** अर्थात् **कूटस्थ** इन दोनोका भी वास्तव मे **अभेद** है। समष्टि-स्थूल-सूक्ष्म-कारण व व्यष्टि-स्थूल-सूक्ष्म-कारण उपाधियोसे ही केवल उस अधिष्ठानरूप एक चेतन के जीवसाक्षी (कूटस्थ) व ईश्वर-साक्षी (ब्रह्म) ये दो नाम पडे है। उस शुद्ध चेतनसे वास्तवमे इन तीनो उपाधियोका कोई सवन्ध नही है। वह नही वहि प्रज्ञ है, न अन्त प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न कर्म-इन्द्रियो व ज्ञानेन्द्रियोका विषय है, न बुद्धिका विषय है और न किसी शब्दका ही विषय है। ऐसा जो तुरीय है वही **शुद्ध-ब्रह्म** है।

हे शिष्य! जैसे ईश्वर-साक्षी ( ब्रह्म ) व जीव-साक्षी (कूटस्थ) दोनो एक है अर्थात् इन दोनोका आपसमे अभेद है, वैसे ॐकार का चौथा पाद जो अमात्र है [ओंकार की तीनो मात्रा अकार, उकार व मकारमे अस्ति-भाति-प्रियरूपसे अनुगत व्यापक शुद्ध चेतन जो ॐकार का परमार्थरूप है वह **अमात्र**

कहलाता है, क्योकि उस परमार्थरूपमें कोई मात्रा विभाग नही है। ] उसका भी ईश्वर-साक्षीरूप जीव-साक्षीसे अभेद है, क्योकि जैसे ब्रह्मके चार पादोमे चौथा पाद **ईश्वर-साक्षी** है और आत्माके चार पादोमे चौथा पाद **जीव-साक्षी** है, उसी प्रकार ॐकारके भी चार पादोंमे चौथा पाद अमात्र है। इस प्रकार ईश्वर-साक्षी जीव-साक्षी और अमात्रमे 'चौथापन' रूप समान धर्म होनेके कारण, इन तीनोंका आपसमें **अभेद चिन्तन** करना चाहिये।

इस प्रकार हे शिष्य ! ॐकार, ब्रह्म और आत्माको एकरूप समझकर उनके परमार्थ स्वरूपका चिन्तन करना चाहिये।

**शंका :–** भगवन् ! आपने ॐकार, ब्रह्म व आत्माके परमार्थ स्वरूप के चिन्तन करनेकी आज्ञा दी, किन्तु मैं इनके परमार्थरूपको नही जानता, अत: इन तीनोका परमार्थ स्वरूप और अपरमार्थ स्वरूप कौनसा है, यह कृपा करके समझाइये।

**उत्तर :–** हे शिष्य ! पहिले जो ब्रह्मरूप आत्माके चार पाद बताए थे, उनमेसे जो पहिले तीन पाद है वे ॐकार के वाच्य ब्रह्मरूप आत्माका **अपरमार्थ-स्वरूप** है, और चौथा पाद **परमार्थ-स्वरूप** है। जैसे ब्रह्म-अभिन्न-आत्माके दो स्वरूप है वैसे ॐकारके भी दो स्वरूप हैं।

(१) अकार, उकार और मकार ये तीन मात्रारूप जो अक्षर है वह ओंकारका **अपरमार्थ-स्वरूप** है। और

(२) तीनो मात्राओमे व्यापक जो अस्ति-भाति-प्रियरूप अधिष्ठान चेतन अमात्र है वह ॐकारका **परमार्थ-स्वरूप** है।

हे शिष्य ! इस प्रकार दो स्वरूपवाला जो ॐकार है, उसका दो स्वरूपवाले आत्मासे अभेद ( एकता ) जानना चाहिये और इन दोनोके ( आत्माके पादो और ॐकी मात्राओके ) अभेदको जाननेके बाद, **लय-चिन्तन** करना चाहिये, जिसमे ज्ञान उत्पन्न होकर मोक्ष प्राप्त होता है।

**शका** — भगवन् ! लय-चिन्तन कैसे किया जाय, यह कृपा करके समझाइये।

**उत्तर**.—हे शिष्य ! कार्यकी उत्पत्ति और लय दोनो कारणमे ही होते हैं, इसलिए कार्य कारणसे भिन्न नही अपितु कारण-स्वरूप ही है, जैसे घडेकी उत्पत्ति और लय दोनो मिट्टीमे ही होते हैं इसलिए घडा मिट्टीसे भिन्न नही अपितु मिट्टी-स्वरूप ही है, इस प्रकार कार्यके कारणमे लय करनेको **लय-चिन्तन** कहते है।

हे शिष्य ! अब तुझे मैं ओकारका उच्चारण करते समय आत्मा-अभिन्न-ब्रह्मके चार पादोका लय-चिन्तन कैसे किया जाय, यह समझाता हूँ :—

(१) **विश्वरूप जो अकार** है वह तैजसरूप उकारसे भिन्न नही किन्तु **उकार-रूप** ही है, इस प्रकार विश्वरूप अकारका तैजसरूप उकारमे लय करना चाहिये। [यहाँ विश्व शब्दसे विश्व-अभिन्न-विराट्का ग्रहण करना चाहिये इस प्रकार आगे भी जो तैजस व प्राज्ञ शब्द आवेंगे उनसे तैजस-अभिन्न-हिरण्यगर्भ व प्राज्ञ-अभिन्न-ईश्वरका ही ग्रहण करना चाहिए।]

(२) जिस उकारमे अकारका लय किया है, उस

**तैजसरूप** उकारका फिर **प्राज्ञरूप जो मकार** है उसमे लय करना चाहिये, अर्थात् तैजसरूप उकार, प्राज्ञरूप मकारसे भिन्न नही अपितु मकाररूप ही है, ऐसा चिन्तन करना चाहिये ।

(३) जिस **प्राज्ञरूप मकारमे** उकारका लय किया है, उस मकारका फिर **तुरीयरूप** जो ओकारका परमार्थरूप **अमात्र** है, उसमे लय करना चाहिये, क्योकि ओकारका जो परमार्थ-स्वरूप (अकार, उकार तथा मकारमे व्यापक अस्ति-भाति-प्रियरूप ) अमात्र है, वही अस्ति-भाति-प्रियरूप शुद्ध चेतन, आत्मा-अभिन्न-ब्रह्मका परमार्थ-स्वरूप तुरीय ( चौथा ) पाद है । और उस शुद्धब्रह्ममे ईश्वर और प्राज्ञ दोनो कल्पित हैं । यह नियम है कि, 'जो जिसमे कल्पित होता है वह कल्पित उस अधिष्ठानसे भिन्न नही अपितु उसका स्वरूप ही होता है' जैसे रस्सीमे कल्पित साँप रस्सीसे भिन्न नही अपितु रस्सी-स्वरूप ही है । इस नियमसे प्राज्ञ-अभिन्न ईश्वररूप मकार, साक्षी-अभिन्न-शुद्ध-ब्रह्म-रूप अमात्रसे भिन्न नहीं अपितु उसका स्वरूप ही है ।

इस प्रकार जिस ओकारके परमार्थ-स्वरूप शुद्ध ब्रह्मरूप अमात्रमे, सबका लय किया है,' **'वह मै हूँ"** ऐसा एकाग्र-चित्त होकर चिन्तन करना चाहिये । इस प्रकारके चिन्तनको **निर्गुण प्रणव** (ॐकार) का **अहग्रह ध्यान** कहा जाता है ।

इस रीतिसे हे शिष्य ! स्थावर-जगम-रूप, असग, अद्वय, अससारी, नित्य-मुक्त, निर्भय व ब्रह्मरूप जो ओकारका परमार्थ स्वरूप है "वह मै हूँ" ऐसा चिन्तन करनेसे आत्म-ज्ञान

उत्पन्न होता है। इसलिये ज्ञान-द्वारा मुक्तिरूप फलका देनेवाला यह ओंकारका निर्गुण-ध्यान सब ध्यानोंसे उत्तम माना जाता है।

जो पूर्वरीतिसे ओंकारके स्वरूपको जानता है वही **मुनि** है, क्योंकि मुनि नाम मनन करनेवालेका है। यह ओंकारका चिन्तन मननरूप है। जो यह मनन नहीं करता वह मुनि नहीं है। माण्डूक्य-उपनिषद्के गौडपादीय कारिकामें आया है "**ओंकारो विदितो येन, स मुनिर्नेतरो जनः ॥**" ( माण्डू० का० १ । २९ ) अर्थात् जिसने ओंकारको जाना है वही मुनि है, और कोई पुरुष नहीं। यह ओंकारका चिन्तन परमहंस आसक्ति-रहित महात्माओंका गोप्य धन है। संसारमें आसक्त बहिर्मुख वृत्तिवालोंको यह धन हाथ नहीं आसकता। जिसका स्वभाव सात्त्विक व वृत्ति अन्तर्मुख है वही इसके योग्य है और वही इस द्वारा ज्ञान प्राप्त करके **जीवन्मुक्तिके** आनन्दको लूटकर **कैवल्य-मोक्षको** प्राप्त कर सकता है।

**शंका :—** भगवन् ! जिस व्यक्तिकी इस निर्गुण-ध्यानमें वृत्ति न लग सके, उसे क्या करना चाहिये ?

**उत्तर :—** हे शिष्य ! यह निर्गुण-ध्यान यदि न हो सके तो माया-विशिष्ट-चेतन **कारण-ब्रह्म-रूप** सगुण ईश्वरका ध्यान करना चाहिये। वह भी न हो सके तो हिरण्यगर्भ वैश्वानर, हरि, हर, गौरी, गणेश, सूर्य और उनके अवतार **कार्य-ब्रह्म-रूप** सगुण साकार ईश्वरका ध्यान करना चाहिये। वह भी न हो सके तो उनकी प्रतिमादि प्रतिनिधिरूप

सगुण साकार ईश्वरका ध्यान करना चाहिये। यदि सगुण-साकार-उपासना भी न हो सके तो फलकी कामनासे रहित स्ववर्णाश्रमके अनुसार कर्मोंको ईश्वरार्पण-बुद्धिसे करके उनके साथ साथ नामकीर्तनादि द्वारा भगवान्‌का भजन करना चाहिये। और यदि वह भी न हो सके तो सकाम ( किसी कामनासे भी ) शुभ कर्म तो अवश्य ही करने चाहिये। और जो भाग्य-हीन दुष्ट पुरुष शुभ कर्म भी नही कर सकता वह तो इस ससार-सागरमे गोता खाता रहेगा और नाना ठोकरो ( दु खो ) का अनुभव करता हुआ इस जन्म-मरणके चक्रमे भटकता रहेगा। किन्तु हे शिष्य ! जिनके कोई पुण्य कर्म उदित होते हैं वे निष्काम कर्म व उपासना-द्वारा अन्त.करण शुद्ध होनेके बाद, प्रभु-कृपासे गुरु-प्राप्ति होनेपर आत्म-ज्ञान प्राप्त करके इस ससारके जन्म-मरणके चक्रसे मुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार गुरु-मुखसे श्रवण करके, अदृष्टि नाम जो मध्यम-शिष्य था वह उस परमानन्दको प्राप्त करनेके लिये निर्गुण ओंकारके अहग्रह-ध्यानमे प्रवृत्त हो गया।

इति श्रीविचारसागरदर्पणे गुरु-वेदादि-व्यावहारिक-प्रतिपादनं वा मध्यमाधिकारी-साधन-वर्णनं नाम पंचमस्तरंगः समाप्तः ॥ ५ ॥



## षष्ठस्तरंगः

# अथ श्रीगुरु-वेदादि-साधन-वर्णनम्

पहिले तरगमे ॐकारकी उपासना और ससारकी उत्पत्तिके कथनसे पहिले, यह कहा गया था कि जो चेतन से भिन्न अज्ञान और अज्ञानका कार्य ससार है उसे अनात्मा कहते है, और वह **सारा अनात्म ससार स्वप्नकी तरह मिथ्या** है। इस बातको सुनकर दोनो भाइयोको शान्त देखकर छोटा भाई 'तर्क-दृष्टि' गुरुजीसे पूछने लगा।

**शका** — भगवन्! आपने जगत्को मिथ्या बतलानेके लिए स्वप्नका उदाहरण दिया। किन्तु सपना यदि मिथ्या होता तब तो आपका यह दृष्टान्त ठीक बन सकता, परन्तु मुझे तो सपना सत्य प्रतीत होता है, क्योकि सपना एक प्रकारसे ससारके सत् पदार्थोकी स्मृति (यादास्त) ही है। हम देखते हैं कि जिन पदार्थोका हमे जाग्रत्मे किसी भी प्रकारका अनुभव नही होता, उनके सपने भी नही आते और जिनका अनुभव होता है केवल उनके ही सपने आते हैं, इससे सिद्ध होता है कि सपना जाग्रत्के पदार्थोंकी

स्मृति ही है। और सत्य पदार्थोंकी स्मृति भी सत्य ही कहलाती है, इसलिए सपना भी सत्य ही है।

**उत्तर**:— हे शिष्य! यह तुम्हारा कहना ठीक नही, क्योकि जिन पदार्थोंकी स्मृति होती है वे पदार्थ सामने प्रत्यक्ष नही दीखते, किन्तु सपनेमे तो हमे सपनेके समस्त पदार्थ सामने प्रत्यक्ष दीखते है। इसलिए हम स्वप्नके पदार्थों को जाग्रत्के पदार्थोंकी स्मृति नही कह सकते। यदि सपने में केवल स्मृति-ज्ञान (यादास्त) ही होता तो जगनेके बाद स्वप्न-द्रष्टा ऐसे कहता कि "मुझे सपनेमे जाग्रत्के हाथी घोडे इत्यादि पदार्थोंकी याद आई थी।" किन्तु ऐसा कोई नही कहता। सब यही कहते है कि "मैंने सपनेमे **जाग्रत् जैसे** हाथी-घोडे देखे।" इन प्रत्यक्ष अनुभवोसे यह सिद्ध होता है कि सपना जाग्रत्के पदार्थोंकी स्मृति नही है। और जब सपना स्मृति सिद्ध नही हुआ, तो यह कहना कि "जाग्रत् के सत्य पदार्थोंकी स्मृति होनेके नाते सपना सत्य है" यह ठीक नही। और यह भी नियम नही है कि जिन पदार्थोंका जाग्रत्मे अनुभव होता है वे ही हमे सपनेमे दीखते हैं, क्योकि कभी कभी सपनेमे ऐसे भी पदार्थ दिखते हैं, जिनको न कभी देखा हो, न सुना हो।

**शंका**:— भगवन्! इसी जन्ममे देखे सुने पदार्थोंकी ही केवल स्मृति नही होती किन्तु जिन पदार्थोंका अनुभव हमने पहिले जन्मोंमे किया है, उनकी भी स्मृति हुआ करती है; जैसे बालक जन्मते ही माँका दूध पीनेके लिए स्तनोकी तरफ बढता है। अब उस समय उस बालकको कौन बताता अथवा

सिखाता है कि 'माँके स्तनोमे दूध होता है और उसको इस प्रकार पीना चाहिये,' कोई नही। इससे यह सिद्ध होता है कि पहिले जन्मोमे अनुभव किये हुए स्तनपानकी उसको स्मृति होती है और उसी स्मृतिसे वह दूध पीनेमे प्रवृत्त होता है। अत यह मानना चाहिये कि सपनेमे जो ऐसे पदार्थ दीखते है, जिनका जाग्रत्मे अनुभव न किया हो, तो पहिले जन्मोमे उनका अनुभव अवश्य ही किया हुआ होगा।

**उत्तर**:—हे शिष्य! स्वप्नमे तो कभी कभी ऐसे भी पदार्थ दीखते है, जिनका किसी भी जन्ममे ज्ञान होना असभव है। जैसे कभी स्वप्नमे अपने कटे हुए सिरको भी देखा जाता है। इस प्रकारका ज्ञान तो कभी जाग्रत्मे हो ही नही सकता। अथवा जाग्रत्-सस्कारोका मिला जुला रूप सपनेमे दिखता है। और यह तो तुमने पहिले सुन ही लिया कि यह स्वप्न जाग्रत्-पदार्थोकी स्मृति होता तो प्रत्यक्ष नही दिखता, क्योकि स्मृति प्रत्यक्ष नही होती और स्वप्न मे तो पदार्थ प्रत्यक्ष दिखते हैं। इसलिए हे शिष्य! स्वप्न के पदार्थोको जाग्रत्के पदार्थोकी स्मृति कहना ठीक नही है।

**शका**:—अच्छा गुरुजी! कुछ लोग तो ऐसा कहते है कि—स्वप्नमे सूक्ष्म-शरीर स्थूल-शरीरसे बाहर निकलकर जाग्रत्के सत्य पदार्थोको भोगता है इसलिए सपना मिथ्या नही किन्तु सत्य है, क्योकि जाग्रत्के पदार्थ सत्य है तो उनका भोगना भी सत्य है।

**उत्तर**.—हे शिष्य! यह उनका कहना ठीक नही, क्योकि यदि सूक्ष्म शरीर बाहर निकल जाय, तो प्राण भी सूक्ष्म शरीरके अन्तर्गत (शामिल) है, उनके निकलनेसे तो

यह स्थूल-शरीर मुर्देकी तरह अमगल हो जायगा। किन्तु हम देखते है कि सोए हुए मनुष्योके प्राण (श्वास) चला करते हैं। यदि तुम कहो कि प्राण तो रहते है, किन्तु अन्तःकरण और ज्ञान-इन्द्रियाँ बाहरके पदार्थोको भोगनेके लिए निकलती है, तो यह कहना भी ठीक नही। क्योकि प्राण, मन और इन्द्रियोंका राजा है, अतः उसके विना निकले, वे इन्द्रियाँ अपने आप बाहर नही निकल सकती, क्योकि शरीरसे बाहर निकलना और फिर अन्दर आना, यह क्रिया बिना प्राणके, केवल मन व इन्द्रियोमे नहीं हो सकती। योग-शास्त्रमे भी कहा है कि "प्राणके रोकनेसे मन रुकता है और प्राणके चलनेसे मन चलता है।" इस से भी यह सिद्ध होता है कि मन तथा इन्द्रियोका गमन प्राण के आधीन है। अतः यदि प्राण बाहर नहीं निकलेगा तो मन व इन्द्रियाँ भी बाहर नही निकल सकती। और यदि थोडी देरके लिए 'दुर्जन-तोषन्याय' से तुम्हारी बात मान भी ले, तो फिर सपनेमे जितना व्यवहार होता है उसका सबन्ध जाग्रत्मे भी रहना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नही। हम सो रहे हैं रात्रिको और सपना आ रहा है दिनका, या दिनमे सपना आ रहा है रात्रिका। और यदि कभी तुमने किसीसे सपनेमे कर्जा लिया हो तो वह जाग्रत्मे फिर चुकाना चाहिए। किन्तु तुम तो कहोगे कि "मैंने जो सपनेमे रुपये लिये थे वे कोई जाग्रत्वाले सच्चे थोडे ही है।" इससे यह सिद्ध होता है कि सपनेका कोई सबन्ध इस जाग्रत् ससारसे नही है; किन्तु वह सारा ससार अर्थात्

ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय ( अन्त करण, इन्द्रिय और विषय ) ये तीनो ( त्रिपुटी समाज ) सपनेमे ( कण्ठकी हितानामक नाडी मे) नए ही कल्पित (अनिर्वचनीय) उत्पन्न होते है। हे शिष्य ! जिस प्रकार स्वप्नमे अनिर्वचनीय पदार्थ नए उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार जितने भी भ्रम-स्थल हैं अर्थात् जहाँ जहाँ भ्रम होता है वहाँ वहाँ विषयकी ( अनिर्वचनीय पदार्थ की ) नई उत्पत्ति होती है।

**शका** —स्वामी जी ! जैसे सपनेमे पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है, ऐसे जाग्रत्मे भी घडा, हाथी, घोडा इत्यादि सब पदार्थ उत्पन्न होते है, अत जैसे हम जाग्रत्के पदार्थोको उत्पन्न होनेके नाते सत्य मानते है, उसी प्रकार सपनेके पदार्थोंको भी उत्पन्न होनेके नाते सत्य ही मानना पडेगा। अत सपनेके पदार्थोको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए आपको यह कहना चाहिये कि जाग्रत्के पदार्थ तो उत्पन्न होकर प्रतीत होते हैं इसलिये सत् हैं, और स्वप्नके पदार्थ विना उत्पन्न हुए ही प्रतीत होते है इसलिए मिथ्या हैं।

**उत्तर** —हे शिष्य ! यह तुम्हारा कहना ठीक नही, क्योकि जो पदार्थ उत्पन्न ही नही होता है तो उसकी प्रतीति भी नही होती, जैसे वाँझके पुत्र उत्पन्न ही नही होता है तो दीखता भी नही। किन्तु सपना तो प्रत्यक्ष दीखता है, इसलिए सपनेके पदार्थ उत्पन्न होते हैं, ऐसा मानना पडेगा। परन्तु जो पदार्थ विना देश, काल आदि सामग्रीके उत्पन्न होते है, जैसे वाज़ीगरका ( जितना समय चाहिए उससे पहिले ) उत्पन्न किया हुआ आमका पेड अथवा मेस्मेरिज़मसे पैदाकी हुई रुपयो

की वर्षा, उनको सच्चा नही किन्तु मिथ्या ही माना जाता है। इस प्रकार सपनेमे जो बडा देश और वर्षों तक लंबा काल ( समय ) नजर आता है वह स्वयं कल्पित है तो फिर विना सच्चे देश काल आदिके जो हाथी घोडे इत्यादि पदार्थ बनते हैं वे भी मिथ्या ही है। और वही सपनेमे जो एक दूसरेके कार्य-कारण दीखते हैं, जैसे सपनेके पुत्रका कारण पिता दीखता है तो वह भी भ्रान्ति ही है, क्योकि वहाँ तो पिता-पुत्र दोनो एक ही समयमे इकट्ठे अनिर्वचनीय उत्पन्न होते है, इसलिए वहाँ कोई किसीका कार्य तथा कारण नही माना जा सकता। किन्तु सपनेके सारे पदार्थोंका उपादान-कारण अज्ञान है और अधिष्ठान ब्रह्म है, क्योकि जितने भी मिथ्या ( अनिर्वचनीय ) पदार्थ होते है, उन सब का उपादान-कारण अज्ञान ( माया ) और अधिष्ठान ब्रह्म ही माना जाता है। जैसे रस्सीमें कल्पित सर्पका उपादान-कारण रस्सी-उपहित-चेतनके आश्रित **अज्ञान** है, और अधिष्ठान रस्सी-उपहित-**चेतन** है। अतः जिस प्रकार रस्सीमे कल्पित सर्पको अज्ञानका परिणाम और चेतन ( ब्रह्म ) का विवर्त माना जाता है, उसी प्रकार स्वप्न भी अज्ञानका परिणाम और चेतनका विवर्त ही है।

**शंका**.— भगवन् ! आपने पहिले कहा था कि भ्रान्ति की निवृत्ति अधिष्ठानके ज्ञानसे ही होती है, तो स्वप्नकी निवृत्ति भी उसके अधिष्ठान ( ब्रह्म ) के ज्ञानसे ही होनी चाहिए। फिर बिना ब्रह्म-ज्ञानके ही अज्ञानीके स्वप्नकी निवृत्ति कैसे हो जाती है ?

**उत्तर**:— हे शिष्य ! निवृत्ति दो प्रकारकी होती है, एक अत्यन्त-निवृत्ति, दूसरी लयरूप-निवृत्ति ।

(१) **अत्यन्त-निवृत्ति** — कारण-सहित कार्यकी निवृत्ति को **अत्यन्त-निवृत्ति** कहते हैं। जैसे सर्पका कारण रस्सीका अज्ञान और सर्प, इन दोनोकी निवृत्ति एक साथ ही होती है।

(२) **लयरूप-निवृत्ति** —कार्यके कारणमे लय होनेको **लयरूप-निवृत्ति** कहते है। जैसे सोनेके जेवरोका गलनेके बाद, सोनेमे लय हो जाता है। उनमेसे लय-रूप-निवृत्ति तो अधिष्ठानके ज्ञानके विना भी हो सकती है। जैसे विना अधिष्ठानके ज्ञानके भी, जेवरका गलनेके बाद, अपने अधिष्ठान सोनेमे लय हो जाता है। परन्तु अत्यन्त-निवृत्ति विना अधिष्ठानके ज्ञानके नही हो सकती। इसलिए स्वप्नकी अत्यन्त-निवृत्ति तो विना ब्रह्म-ज्ञानके नही होती, किन्तु अपने कारण ( अज्ञान ) मे लय-रूप-निवृत्ति तो विना ब्रह्म-ज्ञानके हो जाती है।

**शका**:— भगवन् ! आपने जैसे स्वप्नका अधिष्ठान ब्रह्म और उपादान-कारण अज्ञान कहा, वैसे वेदान्त मतमे जाग्रत् के व्यावहारिक पदार्थोंका भी अधिष्ठान ब्रह्म है, और उपादान-कारण अज्ञान है। तो फिर दोनोकी सत्ता भिन्न भिन्न क्यो मानी जाती है, या तो दोनोकी सत्ता व्यावहारिक मानें या प्रातिभासिक माने।

**उत्तर**.— हे शिष्य ! वस्तुत तो दोनो ( जाग्रत् और स्वप्न ) एक ही अधिष्ठान ब्रह्ममे कल्पित होनेके नाते मिथ्या

अथवा प्रातिभासिक ही हैं, किन्तु उनमे व्यावहारिकपन और प्रातिभासिकपनका जो भिन्न भिन्न व्यवहार होता है, वह उनके उपादान-कारणकी दृष्टिसे ही, क्योकि जाग्रत्के पदार्थोका उपादान-कारण केवल अनादि अज्ञान ( मूलाज्ञान ) है और स्वप्नके पदार्थोका उपादान-कारण निद्रा-दोष-सहित अज्ञान ( तूलाज्ञान ) है।

इस दृष्टिसे तीन प्रकारकी सत्ता मानी जाती है। जिन पदार्थोका कारण केवल अनादि अज्ञान है उनकी सत्ता **व्यावहारिक**, और जिन पदार्थोका कारण किसी दोष-सहित अज्ञान है, उनकी सत्ता **प्रातिभासिक** और चेतन ( ब्रह्म ) की सत्ता **पारमार्थिक** मानी जाती है। किन्तु वस्तुतः जाग्रत् और स्वप्नमे कोई अन्तर ( भेद ) नही है, क्योकि जैसे सपना जाग्रत्मे नही रहता इसलिए मिथ्या कहलाता है, इस प्रकार जाग्रत् ससार भी तो सपनेमे नही रहता अर्थात् प्रतीत नही होता इसलिए मिथ्या ही है। जैसे सपनेका ससार बिना देश और कालके उत्पन्न होता है, इसलिए मिथ्या है तो इस प्रकार जाग्रत् ससारको भी मिथ्या ही कहना चाहिये; क्योकि इस जाग्रत् ससारकी उत्पत्ति जिस ब्रह्मसे हुई है, उसमे तो देश-कालका लेशमात्र भी नही है; बल्कि सपनेके ससारके लिए तो थोडा देश ( कण्ठकी हिता नाडी ) और थोडा समय माना भी जाता है, किन्तु जाग्रत् ससारके कारणरूप ब्रह्ममे तो थोडासा भी देशकाल नही है, इसलिए दोनो ( जाग्रत् और स्वप्न ) बिना देशकालके उत्पन्न होनेके कारण *मिथ्या* ही हैं।

शका — भगवन्! हम तो देखते है कि सब वस्तुएँ अपने अपने समयपर और अपने अपने स्थानपर ही उत्पन्न होती है। जैसे सब ऋतुएँ अपने अपने समयपर अपना अपना फल देती है, और भिन्न भिन्न फल भिन्न भिन्न देशो मे भी उत्पन्न होते है। तो फिर आपने यह कैसे कहा कि सपनेकी तरह जाग्रत्के पदार्थ भी विना देश और कालके उत्पन्न होनेके कारण मिथ्या हैं।

उत्तर — हे शिष्य! जैसे तुम्हे जाग्रत्मे जाग्रत्के पदार्थ अपने अपने देशकालमे उत्पन्न हुए प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार स्वप्नमे भी तो सपनेके पदार्थ अपने अपने स्थान पर और अपने अपने समयपर उत्पन्न हुए प्रतीत होते है। जैसे सपनेके कश्मीरमे कश्मीरके फल, और सपनेके मरुस्थल मे वे ही वालूके टीले नजर आते है, तथा भिन्न भिन्न ऋतुओका भिन्न भिन्न प्रभाव भी दीखता है, किन्तु ये सब देशकाल सपनेमे सच्चे प्रतीत होते हुए भी जैसे मिथ्या माने जाते है, उसी प्रकार जाग्रत्के देशकाल भी सच्चे मालूम होते हैं, किन्तु हैं मिथ्या। क्योकि जिस प्रकार जिस अज्ञान (व्यष्टि अज्ञान अर्थात् अविद्या) ने सपनेके पदार्थोंको खडा किया है, उसी अज्ञानने सपनेके देशकाल को तथा उस देशकालमे कारणपनेको भी उत्पन्न किया है, ठीक इसी प्रकार जिस अज्ञान (समष्टि अज्ञान अर्थात् माया) ने इस जाग्रत् ससारके पदार्थोंको उत्पन्न किया है, उसी अज्ञान अर्थात् मायाने जाग्रत्के देशकालको तथा उसके कारणपनेको भी उत्पन्न किया है।

सारांश यह है कि जैसे सपनेके सारे देशकाल इत्यादि पदार्थ अज्ञानके परिणाम ( परिवर्तित स्वरूप ) और चेतन (साक्षी) के विवर्त होनेके कारण मिथ्या है; ठीक इसी प्रकार इस जाग्रत् ससारके भी सारे देशकाल इत्यादि पदार्थ अज्ञान (माया) के परिणाम और चेतन (ब्रह्म) के विवर्त होनेके कारण मिथ्या ही है।

**शंका :—** स्वामीजी ! ये आपकी बाते समझमे तो आती हैं किन्तु हृदयमें जचती नही, क्योकि सपना तो थोडी देर तक ही रहता है, और सपनेके पदार्थ बिना किसी कारणके ही उत्पन्न हो जाते है, इसलिए सपना तो मिथ्या है, किन्तु जाग्रत् मे तो हम वर्षों तक जीवित रहकर अपना अपना व्यवहार करते हैं, और सब वस्तुएँ अपने अपने कारणसे उत्पन्न होती हैं, घड़ा मिट्टीसे बनता है, बिना वृक्षके फल नही लगता, बिना माता पिताके कोई सन्तान उत्पन्न नही होती। इस प्रकार सब जाग्रत् पदार्थ अपने अपने कारणसे ही उत्पन्न होते है; अत. वे मिथ्या कैसे हो सकते है ?

**उत्तर :—** हे शिष्य ! सपनेमे भी तो जब तक स्वप्न चलता है, तब तक जाग्रत्की तरह वो ही लम्बा समय और एक दूसरे के कारण व कार्य प्रतीत होते हैं। मानलो कि कोई छोटा १५ वर्षका लड़का है उसको ऐसा सपना आया है कि मैं अब पच्चीस वर्षका नवयुवक हो गया हूँ, और विवाह कर लिया है, पुत्र पौत्र भी हो गए हैं। अब वह बूढा होनेके बाद एक दिन अपने पौत्रको जल लानेके लिए कहता है, वह पौत्र सामने रखे हुए मिट्टीके घड़ेमेसे जल लाकर जब पिलाता है, तब वह

अपने पौत्रको आज्ञाकारी देखकर बडा प्रसन्न होता है। और उसी क्षण अकस्मात् उसकी आँखे खुलते ही उसका सारा वर्षो का बना हुआ ससार क्षण-भरमे नष्ट हो जाता है।

उस समय सपनेमे वह लडका अपने आपको बूढा समझ रहा था और बराबर जैसे पचासो वर्ष बीत गए हो, ऐसा लम्बा समय उसे प्रतीत हो रहा था। मेरा पुत्र मेरेसे तथा मेरा पौत्र मेरे पुत्रसे उत्पन्न हुआ है, और घडा मिट्टीसे ही बना है, उसमे जल कुएँका है, इस प्रकार एक दूसरेमे कार्य-कारण-भावको समझ रहा था, और उसी ससारसे अपने आपको कृतकृत्य दु खी और सुखी भी मान रहा था। इस प्रकार जाग्रत् की तरह लम्बा प्रतीत होता हुआ भी जैसे सपना मिथ्या है, उसी प्रकार यह जाग्रत् भी जाग्रत्के समय इतने लम्बे समय वाला और एक दूसरेसे उत्पन्न होनेवाला प्रतीत होता हुआ भी मिथ्या ही है।

**शका**·—प्रभो! यदि यह ससार मिथ्या है, तो फिर सत्य क्यो प्रतीत होता है, और देशकाल इसके कारण है, ऐसी भ्रान्ति क्यो होती है?

**उत्तर**—हे शिष्य! इस प्रकारकी भ्रान्ति तुम्हे ससार और ब्रह्मका विवेक (विवेचन = भिन्न भिन्न समझना) न करने से ही होती है। जिस प्रकार दूर रखे हुए लाल जलसे भरे हुए सफेद काचके ग्लासको (ललाई जलकी है, और ग्लास स्वय सफेद है, ऐसा विवेक न होनेके कारण) हम लाल ही समझ लेते है, यह भ्रान्ति है, क्योकि ललाई है जलकी और हम मान रहे है ग्लासमे, तथा अधिष्ठान चेतन ( साक्षी ) मे

कल्पित सपनेको (सपना स्वय मिथ्या है, और अधिष्ठान चेतन सत्य है ऐसा विवेक न होनेसे) हम सत्य मान लेते हैं, यह भ्रान्ति है, [इसको अन्यथा-ख्याति भी कहते है]; क्योकि सत्यता है चेतनकी और प्रतीत हो रही है सपनेके संसारमे। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मसे उत्पन्न हुए इस ससार को [ससार स्वय मिथ्या है, व ब्रह्म ही सत्य है और वही संसारका कारण है ऐसा विवेक न होनेके कारण] हम सत्य मानते है और इसी ससारके अन्तर्गत (शामिल) देशकाल को ससारका कारण भी समझ लेते हैं, यह भ्रान्ति ही है, क्योकि कारणता और सत्यता है ब्रह्मकी और हमे प्रतीत हो रही है ससारमे।

अथवा जैसे सपनेमे पिता आदि पदार्थ अज्ञानके रचे हुए हैं तो वहाँ पिता आदिमे जो पुत्र आदिकी कारणता दीखती है, वह भी अज्ञान-द्वारा ही मिथ्या रची हुई है, उसी प्रकार जैसे सारे जाग्रत् ससारके पदार्थ और देशकाल, सब मायाके परिणाम हैं अर्थात् मायाके रचे हुए है वैसे देशकालमे जो कारणता दीखती है वह भी मायाका ही परिणाम है, अर्थात् मायाकी ही रची हुई है, क्योकि ब्रह्म तो कारण इत्यादि धर्मोसे रहित असग है, उसमे कारणता होती तो यह कहना बन सकता था कि 'ब्रह्मकी कारणता देशकालमे प्रतीत होती है', किन्तु वास्तवमे ब्रह्म मे किसीकी कारणता नही है, अतः जो देशकालमे कारणता प्रतीत होती है वह केवल भ्रान्ति ही है अर्थात् जिस माया ने इस देशकाल आदि प्रपचको अनिर्वचनीय उत्पन्न किया

है, उसी माया द्वारा देशकालमे, यह कारणता भी अनिर्वचनीय उत्पन्न की हुई है। तो इसलिए 'बिना देशकालके उत्पन्न हुई वस्तु मिथ्या होती है,' इस नियमसे यह सिद्ध होता है कि देशकाल आदि सामग्रीके बिना ही उत्पन्न हुआ यह जाग्रत् संसार भी स्वप्नकी तरह मिथ्या ही है।

शंका — भगवन्! यदि जाग्रत् संसार भी बिल्कुल सपने की तरह मिथ्या (कल्पित) ही है, तो फिर सपना जैसे आँख खुलने व याद आनेपर हमें झूठा प्रतीत होता है, वैसे ही इस संसारके झूँठेपनेका हमे अनुभव क्यों नहीं होता?

उत्तर — हे शिष्य? जैसे सपनेका झूठापन सपनेके टूटने से और जाग्रत् अवस्थाके आनेपर ही प्रतीत होता है, वैसे जाग्रत्का झूँठापन भी जाग्रत्के टूटनेपर और सहज समाधि अवस्थाके अनुभव करनेपर, अर्थात् ज्ञानरूपी नेत्र खुलनेपर ही प्रतीत होता है। सो तुम्हे अब तक दृढ अपरोक्ष ज्ञान नहीं हुआ है इसलिए ही संसारके झूठेपनका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो रहा है।

और जैसे सपना भी याद करनेमे कल्पित (झूँठा) प्रतीत होता है, उसी प्रकार इस बीते हुए संसाररूपी सपनेको भी जब हम याद करते है तो यह भी बिल्कुल सपनेकी तरह कल्पना-मात्र ही प्रतीत होता है। जब हम कभी अपनी बीती हुई जिन्दगीको याद करते हैं कि हम इतने छोटे थे, माताकी गोद मे तथा मिट्टीमे खेला करते थे, बडे होनेपर स्कूलमे पढते थे, कई परीक्षाऐ पास की, फिर विवाह किया, सन्तान उत्पन्न हुआ, पुत्र पौत्र हो गये, कई खेल किये, अब तो हम बूढे हो गये

हैं किन्तु इतना सारा लम्वा समय ऐसे वीत गया जैसे केवल कोई कल्पना ही हो, तव उस समय इस ससारका विल्कुल सपनेकी तरह प्रत्यक्ष अनुभव होता है ।

अतः जिस प्रकार सपना याद करनेसे कल्पित प्रतीत होता है, उसीप्रकार यह जाग्रत् ससार भी याद करनेसे कल्पित सपनेकी तरह ही प्रतीत होता है । जब बीता हुआ समय हमें सपना प्रतीत होता है, तो जो चल रहा है वह भी सपना ही है, और जो आएगा वह भी सपना ही है । ऐसा विचार करने से स्पष्ट अनुभव होता है कि यह जाग्रत् ससार भी सपनेकी तरह मिथ्या ( कल्पित ) ही है ।

**शंका :—** भगवन् ! आपका उपदेश सुननेसे अब मुझे कुछ कुछ अनुभव होने लगा है कि वास्तवमे यह ससार सपने की तरह मिथ्या ही है । किन्तु एक शका और उठ रही है, कृपा करके उसका भी समाधान कर दीजिए । वह यह है कि जब हम सपनेसे जाग्रत्मे आते हैं, तो सपनेके पदार्थ बिल्कुल रहते ही नही हैं, किन्तु जब हम जाग्रत्मेसें स्वप्नमे जाते है तो फिर भी जाग्रत्के पदार्थ तो अपनी जगह रहते ही हैं; क्योकि जब हम सोकर उठते हैं, तब हमे वोके वो हजारो वर्ष पहिलेके जाग्रत्के पदार्थ दिखलाई देते है । यदि यह जाग्रत् वास्तवमे स्वप्न ही होता, तो इतने वर्षोंके पुराने वोके वो पदार्थ अर्थात् **स्थायी पदार्थ** कैसे दीखते ?

**उत्तर :—** हे शिष्य ! यह शंका तुम्हे वेदान्तके सिद्धान्त को न जाननेसे ही हो रही है; क्योकि सिद्धान्त तो यह

है कि सारा ससार चेतनका विवर्त और अविद्या (अज्ञान) का परिणाम है। [ जैसे रस्सीमे कल्पित साँप व उसका ज्ञान साक्षी चेतनका विवर्त है और उस अधिष्ठान चेतनके आश्रित अविद्या ( अज्ञान ) का परिणाम है ] वह अज्ञानका परिणाम :— **विषय और विषयके ज्ञानरूपसे** [ जैसे सर्प और सर्पके ज्ञानरूपसे ] दो प्रकारका होता है। उस अज्ञान ( माया ) मे तीन गुण है अत ( १ ) विषयरूप परिणाम, अज्ञानके **तमोगुण अशका** होता है और ( २ ) विषयका ज्ञानरूप ( वृत्ति-ज्ञानरूप ) परिणाम अज्ञानके **सत्त्वगुण अशका** होता है।

इस सिद्धान्तसे सारे ससारके पदार्थ और उनका ज्ञान, ये दोनो ईश्वर-साक्षीके आश्रित अज्ञान ( माया ) के परिणाम है। पदार्थ तो मायाके तमोगुणके परिणाम है व उनका ज्ञान, मायाके सत्त्वगुणका परिणाम है, और ये दोनो परिणाम ( विषय और विषयका ज्ञान ) साथ साथ उत्पन्न होते है, और साथ ही नष्ट होते है। जैसे रस्सीमे सर्प और सर्पका ज्ञान, ये दोनो साथ साथ ही उत्पन्न होते हैं और साथ साथ ही नष्ट होते है अथवा जैसे स्वप्नके पदार्थ और उनका ज्ञान, ये दोनो भी साथ ही उत्पन्न होते हैं तथा साथ ही नष्ट होते है, ठीक इसी प्रकार जाग्रत् ससारके पदार्थ और उनका ज्ञान ये दोनो भी साथ साथ उत्पन्न होते है और साथ साथ ही नष्ट होते हैं। परन्तु हे शिष्य ! जाग्रत् व स्वप्नमे केवल इतना अन्तर हैं कि स्वप्न तो हम व्यष्टि जीवोके अपने अपने सकल्पसे

रचा हुआ ससार है और जाग्रत् ब्रह्माण्ड समष्टि जीवोके कर्मानुसार ईश्वरके सकल्पसे रचा हुआ ससार है। अतः जैसे यज्ञदत्तके सपनेके अन्तर्गत कल्पित देवदत्तको वहाँके स्वप्नके पदार्थ **स्थायी** नजर आते है परन्तु है मिथ्या, उसी प्रकार इस ईश्वरीय स्वप्नके अन्तर्गत कल्पित हम लोगो को ये जाग्रत्के पदार्थ **सत्य व स्थायी** प्रतीत होते हैं परन्तु हैं मिथ्या, क्योकि जो पदार्थ अविद्याके परिणाम होते हैं, चाहे व्यष्टि अविद्याके हो चाहे समष्टि अविद्याके, और जो पदार्थ सकल्पसे रचे हुए होते हैं, चाहे हमारे सकल्पसे जैसे सपना, चाहे ईश्वरके सकल्पसे जैसे यह जाग्रत्; वे दोनो मिथ्या ही होते हैं। और चूँकि हम लोग इस ईश्वरीय स्वप्नके अन्तर्गत हैं इसलिए इन जाग्रत्-पदार्थोंका हम लोगो को स्थायी प्रतीत होना स्वाभाविक ही है।

**शंका :**— गुरुजी ! अब यह समझमे आरहा है कि जैसे सपनेके पदार्थ कल्पित हैं वैसे इस जाग्रत् ब्रह्माण्डके पदार्थ भी कल्पित ही हैं। अब भगवन् ! मुझे केवल यह बात समझमे नही आरही है कि यह आकाश, वायु, तेज, जल, और पृथ्वी आदि सभी पदार्थ यदि सपनेकी तरह एक साथ कल्पित उत्पन्न होते हैं और एक दूसरेके कार्य-कारण भी नही है तो फिर इनका क्रमसे उत्पन्न होना, और एक दूसरेका कार्य-कारण-भाव श्रुति ( वेद ) ने क्यो वताया है ?

**उत्तर :**— हे शिष्य ! जैसे घडा, सुराही, ढक्कन इत्यादि सब मिट्टीके वने हुए पदार्थोंमे किसी वच्चेको मिट्टीका दर्शन करवानेके लिए और उन सब मिट्टीके वर्तनोमे वस्तुतः

केवल मिट्टीके सिवाय और कुछ है ही नही, इस वातको समझानेके लिए हम उसे घडे इत्यादि पदार्थोंकी उत्पत्तिका क्रम वतलाते है, कि पहिले केवल चिकनी मिट्टी ( किसी भी दोषसे रहित साफ मिट्टी ) थी। उसको पानीसे गीली करके गूंदा गया। फिर एक वडा ढेला वनाकर चक्रके वीचमें रखकर जैसा पदार्थ उस मिट्टीसे वनाना था उसके अनुसार दण्डसे चक्रको घुमाकर हाथोसे उसका रूप वनाया गया और फिर अग्निसे पकाकर मिट्टीके वर्तन वनाये गये। यो इस क्रमको सुनकर वच्चेको यह समझमे आजाता है कि घडे इत्यादि पदार्थोंमे किस प्रकार मिट्टी व्यापक है और किस प्रकार वह मिट्टी अद्वितीय अर्थात् द्वैतसे रहित ( अकेली ) है, ठीक इसी प्रकार आकाश, वायु, अग्नि, जल व पृथ्वी इत्यादि ब्रह्मरूपी कारणसे उत्पन्न हुए सभी जगत् के पदार्थोंमे, अज्ञानीरूपी वच्चोको ब्रह्मका दर्शन करवानेके लिए अर्थात् ब्रह्मकी व्यापकताको वतलानेके लिए और इन सव ससारके पदार्थोंमे वास्तवमे केवल ब्रह्मके सिवाय और कुछ है ही नही अर्थात् ब्रह्म अद्वितीय है इस वातको समझानेके लिए ही श्रुति ( वेद ) ने आकाश इत्यादि ससार के पदार्थोंकी उत्पत्तिका क्रम वतलाया है, कि पहिले केवल एक शुद्ध ब्रह्म ही था। फिर उसका अनादि कल्पित ( अनिर्वचनीय ) मायासे सवन्ध होनेपर अर्थात् उस मायामें जो जीवोके अनेक सस्कार रहते थे वे जव अपना फल देनेके लिए तैयार हुए तव उस माया-विशिष्ट-चेतनमे ससार को उत्पन्न करनेका सकल्प हुआ। सकल्प होते ही माया

से आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे पृथ्वी उत्पन्न होकर यह सारा ब्रह्माण्ड बना। अब इस प्रकार सृष्टिके क्रमको सुनकर अज्ञानीरूपी बच्चोको यह समझमे आजाता है कि जैसे मिट्टीके सब वर्तन मिट्टीसे उत्पन्न होते हैं, मिट्टीमे स्थित है और मिट्टीमे ही लीन हो जाते हैं; इसलिए सभी मिट्टी-स्वरूप है और मिट्टी के सिवाय कुछ है ही नही, ठीक इसी प्रकार ये सब जाग्रत् के पदार्थ ब्रह्मसे ही उत्पन्न होते हैं, ब्रह्ममे स्थित हैं और ब्रह्ममे ही लीन हो जाते हैं; इसलिए ये सब ब्रह्म-स्वरूप हैं, अर्थात् सबमे ब्रह्म ही व्यापक है और ब्रह्मके सिवाय कुछ है ही नही, अर्थात् वह ब्रह्म अद्वितीय ( केवल एक ही ) है। मायाके साथ भी उसका द्वैत सिद्ध नही हो सकता, क्योकि माया कल्पित है और ब्रह्म वास्तविक ( सत्य ) है। कल्पित और सत्यका आपसमे द्वैत नहीं हो सकता; क्योकि द्वैत सर्वदा समान सत्तावालोमे ही होता है। जैसे रस्सी और रस्सीमे कल्पित सर्प ये दो नही माने जाते किन्तु वास्तवमे एक रस्सी ही होती है, इसी प्रकार ब्रह्म और कल्पित माया, ये दो नही माने जाते, किन्तु वास्तवमे एक ब्रह्म ही है। और शक्तिकी सत्ता शक्तिमान्की सत्तासे अलग नही होती है, इस नियमके अनुसार भी ब्रह्मकी शक्ति मायाकी सत्ता ब्रह्मकी सत्तासे अलग नही है। अत वास्तवमे सत्ता एक ब्रह्मकी होनेसे द्वैत नही किन्तु अद्वैत ही है। इस प्रकार ब्रह्मका अद्वैतज्ञान करानेके लिए और लय-चिन्तनकी विधि (तरीके) से ब्रह्मके दर्शन करवानेके लिए

ही वेदने ससारकी उत्पत्तिका क्रम बतलाया है, किन्तु वस्तुत जैसे सपनेकी सृष्टिका कोई क्रम विशेष नही, केवल एक साथ ही हो जाती है, इसी प्रकार इस जाग्रत् सृष्टिका भी कोई क्रम नही है, यह जाग्रत् सृष्टि और इसका ज्ञान भी एक साथ ही उत्पन्न होते है और साथ ही नष्ट होते हैं। इसीको '**दृष्टि-सृष्टि-वाद**' कहते है । यह 'दृष्टि-सृष्टि-वाद' वेदान्तका सर्वोच्च सिद्धान्त है ।

**शका**:— स्वामीजी ! * इस 'दृष्टि-सृष्टि-वाद'का कुछ स्पष्टीकरण करनेकी कृपा करे ?

**उत्तर**:—हे शिष्य ! इस वादके अनुसार जैसे रस्सीमे सर्प अथवा सपनेके सारे पदार्थ अज्ञानके कार्य है उसी प्रकार जाग्रत् ससारके भी सभी पदार्थ अज्ञान (माया) के ही कार्य है। और उन सबका प्रकाश, अज्ञानकी वृत्तिसे उपहित चेतन जीव-साक्षी तथा मायाकी वृत्तिसे उपहित चेतन ईश्वर-साक्षी द्वारा ही होता है, इसलिए सपनेके अथवा जाग्रत्के सब पदार्थ **साक्षि-भास्य** कहलाते हैं ।

इस प्रकार सपने और जाग्रत्के पदार्थोमे कोई अन्तर (भेद) न होनेके कारण दोनोकी एक प्रातिभासिक सत्ता ही मानी जाती है। यो तीन सत्ताओकी जगह दो सत्ताएँ ही मुख्यरूपसे मानी जाती है:—

(१) चेतनकी परमार्थ सत्ता और (२) चेतनसे भिन्न सभी अनात्म-पदार्थोंकी प्रातिभासिक सत्ता ।

**शका**:— भगवन् ! इस वादका नाम 'दृष्टि-सृष्टि-वाद क्यो रखा गया है ?

---

* इस दृष्टि-सृष्टि-वादका स्पष्ट व विस्तृत वर्णन, इस ग्रन्थके पीछे छपे हुए 'दृष्टि-सृष्टि-वाद' नामक छोटी पुस्तकमे किया गया है ।

**उत्तर:**—पहिले मैंने तुम्हे यह बताया था कि अज्ञानका परिणाम (परिवर्तन) दो प्रकारसे एक ही समयमे होता है। एक विषयरूपसे व दूसरा विषयके ज्ञानरूपसे।

जब वह चेतनके आश्रित **अज्ञान** विषयके ज्ञानरूपसे परिणामको प्राप्त होता (पलटता) है तब उस विषयके ज्ञान को अज्ञानकी वृत्ति अथवा **दृष्टि** कहते है। और उसी समय वह अज्ञान जिस विषय (ज्ञेय) रूपसे पलटता है उस विषय को **सृष्टि** कहते है। ये दृष्टि और सृष्टि [विषय और उसका ज्ञान (जैसे कल्पित सर्प है सृष्टि व उसका ज्ञान है दृष्टि उसी प्रकार यह ससार है सृष्टि और उसका ज्ञान है दृष्टि)] दोनो साथ साथ उत्पन्न होते है और साथ साथ ही नष्ट होते हैं तथा दोनोका आकार भी एक ही प्रकारका होता है अर्थात् पदार्थ हो एक और ज्ञान हो दूसरे प्रकारका ऐसा नही होता। हे शिष्य! जब इस प्रकारसे स्वप्न व जाग्रत्की वास्तविकता (असलियत) बतलाई जाती है तब इस बतानेके प्रकार (तरीके) को कहते हैं **दृष्टि-सृष्टि-वाद**। इस दृष्टि-सृष्टि-वादको **अजात-वाद** भी कहते है, क्योकि दृष्टि और सृष्टि (ज्ञान और ज्ञेय) ये दोनो अज्ञानके परिणाम हैं, और वह अज्ञान कल्पित है और कल्पितका अधिष्ठानमे वस्तुतः अभाव होता है। जैसे कल्पित सर्पका वस्तुतः रस्सीमे अभाव है अर्थात् हैं ही नही, उसी प्रकार कल्पित अज्ञान और उसीके परिणाम ससारका भी वस्तुतः अधिष्ठान ब्रह्ममे अभाव ही है अर्थात् ब्रह्ममे अज्ञान और ससार तीनो कालोमे है ही नही। इस प्रकार दृष्टि-सृष्टि-वादसे यह जाना जाता है कि वास्तवमे

यह ससार ब्रह्ममे अजात है अर्थात् उत्पन्न ही नही हुआ है। इसीलिए इस दृष्टि-सृष्टि-वादको अजात-वाद भी कहते हैं। इस दृष्टि-सृष्टि-वादके मुख्य तीन स्वरूप हैं —

(१) जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि।

(२) जब तक दृष्टि तब तक सृष्टि।

(३) जिसके लिए दृष्टि उसके लिए सृष्टि।

अर्थात् जैसे जिसको जिस समय जैसा सपना दीखता है, उस समय वैसा सपना उसीके लिए ही है, दूसरेके लिये नहीं, ठीक इसी प्रकार ईश्वरको जिस समय जैसा जाग्रत् संसार भासता है उस समय वैसा जाग्रत् ससार ईश्वरकी दृष्टिमे है, दूसरेके लिए नही, दूसरे तो सपूर्ण ब्रह्माण्डको देख भी नही सकते।

**शंका** — भगवन्! यदि यह ससार जो अनादि कालसे प्रतीत हो रहा है, जिसमे असख्य व्यक्ति वन्धनमे फसे हुए हैं, और ज्ञानी लोग मुक्त हो जाते है, ऐसा यह ससार यदि सपनेकी तरह मिथ्या ही है, तव तो सपनेकी भाँति क्षणभर, पन्द्रह वीस मिनट, आधा घण्टा, घण्टा अथवा अधिकसे अधिक प्रहरभर ही चलेगा। अत जिस प्रकार सपना अपने आप टूट जाता है, उसी प्रकार जाग्रत्‌रूपी ईश्वरका सपना भी अपने आप ही थोडा समय चलकर टूट जायगा, फिर इससे छूटनेके लिए अर्थात् मोक्ष प्राप्त करनेके लिए आत्म-ज्ञान और उसके साधन वेदान्तका श्रवण, मनन इत्यादि करनेकी क्या आवश्यकता है?

**उत्तर** :— हे शिष्य! जिस प्रकार तुम्हारा व्यष्टि स्वप्न,

व्यष्टि स्वप्न-आरम्भक सस्कारोके समाप्त होनेपर टूट जाता है उसी प्रकार इस समष्टि स्वप्न (जाग्रत्-ससार) का प्रलय भी तब होगा जब समष्टि ब्रह्माण्डके आरम्भक सस्कार अपना समष्टि फल देकर समाप्त होगे, परन्तु व्यष्टि अथवा समष्टि स्वप्नका अत्यन्त-अभाव (मोक्ष) बिना ब्रह्म-ज्ञानके नही होगा। और पारमार्थिक दृष्टिसे हे शिष्य ! जिस प्रकार अज्ञानसे सपनेमे अध्यापक, अध्ययन, वेद, शास्त्र, पुराण, और उनका पढनेवाला; कर्म और उसका फल, सुख और दुःख, इन सबको सत्य समझकर अर्थात् सपनेके ससार-रूपी बन्धनको सत्य समझकर उससे मोक्षको प्राप्त करनेके लिए अर्थात् उससे छूटनेके लिए सपनेके गुरुके पास जाना, और वहाँ वेदान्त सुनकर ज्ञान-द्वारा मोक्षको प्राप्त करना, इत्यादि सब मिथ्या ही है, क्योंकि वास्तवमे न तो सपनेका बन्धन है न मोक्ष।

ठीक इसी प्रकार यह संसार जो तुम्हे सत्य प्रतीत हो रहा है, और इस दु ख-रूप ससारको बन्धन समझकर, इससे जो तुम्हे छूटनेकी इच्छा हो रही है तथा इसलिए (ससारसे मोक्ष प्राप्त करनेके लिए) मुझे गुरु मानकर जो तुम वेदान्तका श्रवण, मनन व निदिध्यासन आदि कर रहे हो, इन सबको सत्य मानना भ्रान्ति-मात्र ही है, क्योंकि सपनेकी तरह यह जाग्रत् भी मिथ्या कल्पित (ईश्वरका सकल्प-मात्र) होनेके कारण, वास्तवमे पारमार्थिक दृष्टिसे न गुरु है, न शास्त्र और न बन्धन है न मोक्ष।

**शका :—** भगवन् ! जब यह सारा संसार कल्पित ही है

तो फिर इससे छूटनेके लिए गुरुके उपदेशकी क्या आवश्यकता है ?

**उत्तर**:— हे शिष्य ! यह तुम्हारा कहना सही है कि इस कल्पित ससारका वन्धन भी कल्पित है, फिर इससे छूटना क्या ? किन्तु जव तक कल्पितको कल्पित नही समझा जाता, तव तक वह कल्पित वन्धन भी सच्चा प्रतीत होकर दुःखदायी हो जाता है। जैसे रस्सीमे कल्पित सर्पको जब तक कल्पित नही समझा जाता, तव तक उससे भय होता ही रहता है। उस भयसे मोक्ष (छुटकारा) तब ही हो सकता है, जव हम उस कल्पित सर्पको कल्पित ही समझ ले। ठीक इसी प्रकार जव तक ससार कल्पित समझमे नही आता तव तक ही भय, हर्ष, शोक, जन्म-मरण इत्यादि दु:ख प्रतीत होते है। इन दु:खोसे मोक्ष तब ही हो सकता है, जव हम इस कल्पित ससारको कल्पित ही समझ ले। यद्यपि यह दु:खरूप वन्धन कल्पित है और इससे मोक्षको प्राप्त करना भी कल्पित ही है, तथापि जैसे सपनेके कल्पित शेरकी निवृत्तिके लिए कल्पित वन्दूककी ही आवश्यकता होती है, इसी प्रकार इस कल्पित ससारकी निवृत्तिके लिए (कल्पित ससारको कल्पित समझनेके लिए) भी कल्पित गुरुके कल्पित उपदेशकी ही आवश्यकता है।

इस बातको समझानेके लिए मैं तुम्हे एक अगृधदेवकी कथा सुनाता हूँ। जिस प्रकार तुम्हे इस जाग्रत्‌रूप सपनेमे सब पदार्थ सच्चे प्रतीत हो रहे हैं और मैं जीव हूँ, मैं कर्त्ता भोक्ता हूँ, मैं दु:खी हूँ, ऐसा मानकर दु:खी हो रहे

हो और इस दुःखसे छूटनेके लिए गुरुको खोजते खोजते मेरे पास पहुंचे हो, इसी प्रकार वह अगृधदेव भी सपनेमे सपनेके ससारको सच्चा समझकर और अपने आपको एक जलते हुए बनमे भटकता हुआ देखकर, व अपने को चाँडाल समझ करके दुःखी होकर सोचने लगा कि "किस प्रकार मै इस जलते हुए बनसे बाहर निकलू, अथवा कमसे कम इस चाँडालपनेसे छूटकर देवतारूपमे अगृध-(इच्छा-रहित) देव होकर रहूँ।

ऐसा सोचते २ उसको किसी सज्जनने कहा कि "ब्रह्म-ज्ञानका उपदेश करनेवाले आचार्य अपने शिष्योका उद्धार करते हैं अर्थात् अपने शिष्योको इस जलते हुए बनसे बाहर निकाल देते है।" ऐसा सुनकर वह ब्रह्मनिष्ठ व ब्रह्मश्रोत्रिय गुरुकी खोजमे निकला। खोजते खोजते उसको सपनेमे ब्रह्मज्ञानी गुरु मिल गया। गुरुको नमस्कार करके तथा विधि-पूर्वक आज्ञा लेकर उस अगृधदेवने तीन प्रश्न किये —

(१) मैं कौन हूँ ?

(२) ससारका कर्त्ता कौन है ?

(३) मुक्तिका हेतु (साधन) ज्ञान है अथवा कर्म है वा उपासना है, अथवा इनमेसे कोई दो हैं या तीनो ही है ?

पहले प्रश्नका अभिप्राय यह है— कि हे भगवन्! मैं कौन हूँ? मैं शरीर हूँ अथवा शरीरसे भिन्न हूँ? यह सशय मुझे इसलिए हो रहा है कि मुझे, 'मै मनुष्य हूँ और मेरा मनुष्यका शरीर है,' इस प्रकारकी दो प्रतीतियाँ ( ज्ञान ) हो

रही है। यदि आप कहो कि मैं शरीर से भिन्न हूँ, तो मैं कर्त्ता-भोक्ता हूँ अथवा अक्रिय (क्रिया-रहित) हूँ। यदि अक्रिय कहो तो भी मैं सभी शरीरोमे एक ही हूँ अथवा नाना (अनेक) हूँ। इस पहिले प्रश्नके अभिप्रायको समझ कर वे सपनेवाले कल्पित गुरु, उस कल्पित चाँडाल शिष्य को, यह उपदेश देने लगे कि —

"सत् चित् आनद एक तू, ब्रह्म अजन्म असग"

अर्थात् हे शिष्य! तू तो सत् चित् आनन्द स्वरूप और शरीर असत्, जड व दुःखरूप है। इसलिए तू शरीरसे भिन्न है, और पुण्य पाप कर्मोंका भोक्ता भी यही स्थूल-सूक्ष्म-सघात (स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरका सयुक्त स्वरूप) है, तू नही। तू तो इन दोनोका साक्षी है। वह साक्षि-रूप आत्मा एक है, नाना नही। यदि आत्मा कर्त्ता-भोक्ता होता, तो वह अनेक होता, क्योकि हम देखते है कि कोई दुःख भोगता है, कोई सुख भोगता है, अर्थात् दुःखसुखके भोगनेवाले अनेक दीखते है। इससे सिद्ध होता है कि पुण्य-पापके कर्त्ता भी अनेक है, किन्तु आत्मा नही कर्त्ता है न भोक्ता, अतः वह एक ही है।

**शका** — स्वामिन्! जैसे आपने कहा कि आत्मा कर्त्ता-भोक्ता नही है, वैसे साँख्य-मतवाले भी आत्माको कर्त्ता-भोक्ता नही मानते, फिर आपमे और उनमे क्या अन्तर है?

**उत्तर** — यह ठीक है कि साँख्य-मतवाले भी आत्माको कर्त्ता-भोक्ता नही मानते, किन्तु अन्तर (भेद) यह है कि हम (वेदान्ती) तो आत्माको एक मानते है और साँख्य-मत-वादी

आत्माको अनेक मानते है ।

**शंका :**— स्वामीजी ! मुझे साँख्य मतका पूरा ज्ञान नही है, कृपया जब प्रसंग छिडा है तो साँख्य-मतका भी थोडेमे वर्णन कीजिये ।

**उत्तर :**— साँख्य मतमे सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी समान ( बराबर ) अवस्थाको **प्रधान** कहते हैं । वह प्रधान महत्तत्त्वका उपादान-कारण होनेके नाते **प्रकृति** कहलाती है और जब उसका कार्यरूपसे परिणाम ( परिवर्तन ) होता है, तब उस कार्यको **विकृति** कहते हैं ।

(१) इस मतमे २५ तत्त्व माने जाते है, जिनको **पदार्थ** भी कहते है । वे ये है :—

महत्तत्त्व, अहकार, पाँच तन्मात्रा, पाँच महाभूत, दश इन्द्रियाँ, मन, प्रकृति और पुरुष । (२) साँख्यवादी ईश्वरको नही मानते (३) प्रकृति स्वतत्ररूपसे (बिना चेतनकी सहायताके ही) जगत्का कारण है (४) पुरुषके भोग और मोक्षके निमित्त प्रकृति ही प्रवृत्त होती है, न कि पुरुष । (५) प्रकृतिका जो विषयरूपसे परिणाम ( परिवर्तन ) होता है, उससे पुरुषको भोग-प्राप्ति होती है । (६) बुद्धि-द्वारा जो प्रकृतिका विवेक रूपसे परिणाम होता है, उससे मोक्ष होता है अर्थात् जब प्रकृति और पुरुषका विवेक ( विवेचन ) होता है, तभी मोक्ष होता है । (७) यद्यपि पुरुष असग है, उसमे भोग ( बन्धन ) और मोक्ष नही बन सकता तो भी जिस बुद्धिके ज्ञान, सुख, दु ख राग व द्वेष इत्यादि रूपसे कई परिणाम होते हैं, उस बुद्धिका आत्मासे अविवेक है अर्थात् उस बुद्धिको और आत्माको अलग

नही समझते । इसीलिए ही आत्मामे कल्पित बन्धन और मोक्ष बनता है किन्तु वास्तवमे नही है । (८) अविवेकसे आत्मामे भोग प्रतीत होनेके कारण ही आत्माको साँख्य-मतमे भोक्ता माना जाता है । (९) वस्तुत आत्मा भोक्ता नही, किन्तु बुद्धि ही भोक्ता है । (१०) बुद्धि आत्मासे भिन्न है । (११) इस प्रकारके ज्ञानको विवेक कहते है । (१२) इस प्रकारके ज्ञानके अभावको (नही होनेको) अविवेक कहते है । (१३) इस रीतिसे साँख्य-मतमे आत्मा असग है । (१४) सुख दु ख आदि बुद्धिके परिणाम (परिवर्तित-रूप) होनेके कारण बुद्धिके ही धर्म है और (१५) आत्मा नाना (अनेक) है ।

हे शिष्य ! यह जो तुमने साँख्य-मत सुना, इस मतमे प्रकृतिको जड कह कर फिर यह कहना कि प्रकृति स्वतन्त्र-रूपसे अर्थात् विना चेतनकी सहायताके ही जगत्को उत्पन्न करती है अर्थात् जगत्के रूपमे परिणत होती है (बदलती है), यह ठीक नही, क्योकि विना चेतनके सम्बन्धके, केवल जडसे कभी कार्यकी उत्पत्ति नही होती । अत साँख्य-मतवालोको ऐसा मानना चाहिए कि प्रकृति-(माया)-विशिष्ट-(सहित)-चेतन, जो ईश्वर है, वही ससारका कर्त्ता है । यो ईश्वरको अगीकार करलेनेसे साँख्य-मतमे दोष नही आएगा । और आत्माको अनेक मानना भी निष्फल व युक्ति-हीन (बेदलील) है, क्योकि वे सुख-दु ख व बन्धन-मोक्ष आदिको, यदि आत्मा के धर्म मानते होते, तब तो यह उनका दलील ठीक हो सकता था कि "यदि आत्मा एक होता, तो एकके सुखी, दुःखी, बद्ध (बन्धा हुआ), अथवा मुक्त होनेसे सभी सुखी, दु खी, बद्ध

अथवा मुक्त हो जाते, परन्तु ऐसा होता नही, अत आत्मा एक नही परन्तु अनेक है।" किन्तु यह उनका कहना ठीक नही, क्योकि उनके मतमे ( साँख्य-मतमे ) भी ये सुख, दुःख, बन्धन व मोक्ष इत्यादि सब धर्म बुद्धिके ही माने जाते हैं न कि आत्माके। यदि वे सुख-दुःख आत्माके धर्म मानते तब तो आत्मामे अनेकपना सिद्ध कर सकते, अतः ये सुख-दुःख इत्यादि धर्म, बुद्धिके मानकर बुद्धिको ही अनेक मानना ठीक है, न कि आत्माको। आत्माको अनेक मानना युक्ति-हीन होनेके कारण, एक ही मानना उचित है।

और साँख्य-मतमे आत्माको अनेक माननेसे एक आत्माका दूसरी आत्माओसे **सजातीय-सम्बन्ध** तथा प्रकृतिको नित्य माननेसे आत्माका प्रकृतिके साथ **विजातीय-सम्बन्ध** (सग) हो जानेसे आत्मा असङ्ग कैसे सिद्ध हो सकेगा ? और इस प्रकार आत्मामे सग सिद्ध हो जानेके बाद फिर आत्माको असङ्ग कहना, साँख्य-मतमे **व्याघात दोष** अर्थात् उल्टा कथन है, जैसे कोई कहे कि मेरा पिता बाल-ब्रह्मचारी है। अत. साँख्य मतमे आत्माको असग मानना तभी सही हो सकता है, जब आत्माको अनेक न मानकर **एक** ही माना जाय तथा प्रकृतिको नित्य न मानकर असत् (मिथ्या) ही माना जाय।

**शंका :—** स्वामीजी ! जिस प्रकार साँख्य मतमे आत्माको अनेक मानना आपने असगत (युक्ति-रहित) कहा, क्या इस प्रकार न्याय मतमे जो आत्माको अनेक मानते है, वह भी असंगत ही है ?

**उत्तर :—** हे शिष्य ! यह तुम निश्चय करलो कि आत्मा

को अनेक माननेवाले सभी मत असगत है, क्योकि आत्मा को अनेक मानना वेदके विरुद्ध व युक्ति-रहित (बेदलील) है।

**शका** — भगवन् ! जिस प्रकार आपने साँख्य-मतका थोडा परिचय दिया, उसी प्रकार कृपा करके न्याय मतका भी आत्म-सम्बन्धी थोडा परिचय करा दीजिये।

**उत्तर** — न्याय-मतमे (१) ज्ञान (२) इच्छा (३) प्रयत्न (४) सख्या (५) परिणाम (६) पृथक्ता (अलगपना) (७) सयोग (८) विभाग (९) सुख (१०) दु ख (११) धर्म (१२) अधर्म (१३) द्वेष और (१४) ज्ञानके सस्कार, ये चौदह गुण जीवरूप आत्माके (जीवात्माके) है। और इनमेसे पहिलेवाले आठ गुण ईश्वरमे भी है। इनमेसे पहिले तीन गुण (ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न) ईश्वरमे नित्य है, और जीवमे अनित्य है। इस मतमे ईश्वर और जीवको व्यापक और नित्य मानते हुए भी जीवको अनेक मानते है। और इस मतमे केवल जीव व ईश्वरको ही नित्य नही मानते, किन्तु आकाश, काल, दिशा और मन भी नित्य है, तथा पृथ्वी, जल, तेज और वायुके परमाणु भी नित्य ही है। इनके सिवाय और भी जाति इत्यादि कई पदार्थ न्याय-मतमे नित्य माने जाते है।

इस मतमे इक्कीस प्रकारके दु खोके नाशको **मोक्ष** कहते है, वे इक्कीस प्रकारके दु ख ये है :— एक शरीर, और कान, त्वचा (चमडी), आँख, रसना, नाक, व मन, ये छ इन्द्रियाँ तथा इन छ इन्द्रियोके विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध और सकल्प-विकल्प-रूप चिन्तन) और इन छ विषयोके ज्ञान

तथा सुख और दुःख ।

इन इक्कीस प्रकारके दुःखोसे छूटना (मोक्ष) तभी होगा जब भ्रान्ति टूटे । और वह भ्रान्ति टूटेगी तत्त्वज्ञानसे, इनके मतमे शरीरको आत्मा समझना ही **भ्रान्ति** है । और शरीर आदि सब पदार्थोंसे आत्माको भिन्न समझना ही **तत्त्व-ज्ञान** कहलाता है । और इसी तत्त्वज्ञानसे मोक्ष को प्राप्त करनेकी परम्परा (सिलसिला) यह है :— तत्त्वज्ञान से "मैं ब्राह्मण हूँ, मैं मनुष्य हूँ," इस प्रकारकी जो शरीर मे आत्म-भ्रान्ति होती है, वह नष्ट होगी । आत्म-भ्रान्ति के नष्ट होनेपर राग-द्वेषका नाश होगा । राग-द्वेषके न रहनेपर धर्म और अधर्मंमे प्रवृत्ति नही होगी । धर्म और अधर्मंमे प्रवृत्ति न होनेसे दूसरा जन्म नही मिलेगा और प्रारब्धका भोगसे नाश हो जायगा । जन्मके न मिलनेसें इक्कीस दुःखोका नाश हो जायगा । और वह इक्कीस दुःखो का नाश ही **मोक्ष** है ।

इस प्रकार न्याय-मतवाले तत्त्वज्ञानसे मोक्षको मानते हुए भी सुख-दुःख और बन्ध-मोक्षको आत्मामे मानते हैं, और इसी कारण उन्हे आत्माको व्यापक मानते हुए भी नाना (अनेक) मानना पडता है । जैसे अपने ( वेदान्त ) मतमे सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदसे रहितको व्यापक मानते हैं, वैसे नैयायिक नही मानते । वे लोग उसको व्यापक कहते हैं जिसका सभी अल्प (परिच्छिन्न परिमाणवाले) पदार्थों [मूर्त=क्रियावान् द्रव्यो] से संयोग हो । किन्तु उनका यह मानना ठीक नही, क्योकि यदि

[illegible] जावेंगे [illegible] भी [illegible] सभी आत्माओंका सम्बन्ध भी मानना होगा [illegible] किस आत्माके कौनसा [illegible] निश्चय नहीं [illegible] होगा। [illegible] हो [illegible] सभी आत्माओंके सभी [illegible] हो जावेंगे।

यदि [illegible] यह [illegible] कि जिस आत्माके कर्मों से जो शरीर उत्पन्न होता है उस आत्माका वही शरीर है तो उनकी यह दलील भी ठीक नहीं, क्योंकि स्वयं मानने जब सभी आत्माओंका सभी शरीरोंसे सम्बन्ध है तब जिस शरीर-द्वारा पहिले कर्म किये थे उस शरीरसे भी सभी आत्माओंका सम्बन्ध होगा अत उस शरीर-द्वारा किये हुए कर्म भी सभी आत्माओंके माने जावेंगे। ऐसी दशामें किस आत्माके कर्मोंसे कौनसा शरीर उत्पन्न हुआ है, यह निश्चय कैसे होगा? और जब यह निश्चय नहीं हो सकेगा, तब हम कैसे समझ सकेंगे कि किस आत्माका कौनसा शरीर है अत सभी आत्माओंके सभी शरीर हैं ऐसा ही मानना पड़ेगा। और इस प्रकार जब सभी आत्माओंका सभी मनोंके साथ सम्बन्ध है तब कौनसा मन किस आत्माका है, यह निश्चय भी नहीं होगा किन्तु सभी आत्माओंके सभी मन हैं ऐसा ही मानना पड़ेगा। इसी प्रकार सभी इन्द्रियाँ भी सब आत्माओंकी हो जावेंगी और सभी पदार्थ भी सभी आत्माओंके हो जावेंगे। और

जब किसी एक शरीरमे एक आत्माको मैपनकी बुद्धि होती है (जैसे मै मनुष्य हूँ, मैं यज्ञदत्त हूँ, इस प्रकारकी शरीरमे मैपनकी बुद्धि होती है) और उसी शरीरसे यदि सभी आत्माओका सम्बन्ध है, तब उसी एक शरीरमे सभी आत्माओको मैपनकी बुद्धि होनी चाहिये। इस प्रकार जब सभी मनोसे सभी आत्माओका नैयायिक लोग सम्बन्ध मानते है, तब सभी मनो मे जो सुख-दु.ख होते हैं, उनका अनुभव भी सभी आत्माओको होना चाहिए, किन्तु ऐसा नही होता, इसलिए न्याय-मतमे आत्माको अनेक व्यापक (सभी अल्प पदार्थोसे सयोगवाला) और जो कर्त्ता भोक्ता माना जाता है, वह वेदके विरुद्ध और युक्ति-हीन (बेदलील) होनेके कारण ठीक नही है।

इसलिए वेदान्त-सिद्धान्ताऽनुसार आत्माको व्यापक (सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदसे रहित) और एक ही माना जाता है। और उस आत्मामे यदि धर्म, अधर्म, सुख, दुःख, बन्धन व मोक्ष आदि स्वीकार करेंगे, तो किसीको सुख, किसीको दुःख, किसीको बन्धन, किसीको मोक्ष, यह व्यवहार नही बन सकेगा। इसलिए धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, इत्यादि सब धर्म बुद्धिके ही माने जाते है, न कि आत्माके। यद्यपि बुद्धि आत्मामे कल्पित है, इसलिए जो बुद्धिके धर्म हैं, वे भी आत्मामे ही कल्पित हैं किन्तु जो वस्तु जिसमें कल्पित होती है, वह वस्तु उस अधिष्ठानमे परमार्थसे (वास्तवमे) नही होती। जैसे रस्सीमे कल्पित सर्प वास्तवमें रस्सीमे नही होता, उसी प्रकार राग-द्वेष, धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, बन्धन-मोक्ष ये सब वास्तवमें आत्मामे नही है। इसलिए **आत्मा इन सब धर्मोसे रहित,**

व्यापक और एक है।

जैसे हम देखते है कि संसारमे उसी वस्तुका नाश होता है, जो परिच्छिन्न (महदूद) होती है किन्तु आत्मा व्यापक है (परिच्छिन्न नही किन्तु बेहद है), इसलिए आत्माका कभी नाश नही होता। और जिसका कभी (तीनो-कालोमे) नाश नही होता, उसको सत् कहते हैं। इसलिए आत्मा **सत्** है।

यदि कोई कहे कि मैंने आत्माके नाशका अनुभव किया है (आत्माके नाशको जाना है) तो हम कहेगे कि जानने वाला तो फिर भी रह गया, और वही आत्मा है। और उसका (उस साक्षीका) तो नाश हुआ ही नही, इसलिए वह साक्षीरूप आत्मा सत् है।

वह आत्मा चित् (चैतन्य) है, क्योकि चित् कहते हैं प्रकाशरूप ज्ञानको। अन्तःकरण और इन्द्रियाँ तो जड हैं, उनसे किसी वस्तुका प्रकाश (ज्ञान) हो ही नही सकता। इसलिए आत्मा सबका प्रकाश होनेके कारण **प्रकाशरूप** (चित् अथवा ज्ञान-स्वरूप) ही सिद्ध होता है।

यदि कोई कहे कि आत्मा जड है और ज्ञान केवल उसका गुण है, न कि स्वरूप। तो हम उनसे पूछते हैं कि आप जिस ज्ञानको आत्माका गुण मानते हो, वह नित्य है या अनित्य। यदि नित्य कहोगे तो आत्माका स्वरूप ही मानना पडेगा. क्योकि आत्मासे भिन्न सब वस्तु अनित्य हैं। और यदि ज्ञानको आत्मासे भिन्न मानोगे, तो अनित्य

मानना पडेगा। इसलिए यह कहना चाहिए कि ज्ञान आत्मा से भिन्न नही, किन्तु आत्माका ही स्वरूप है। और आत्माको ज्ञान-स्वरूप मान करके फिर जड कह देना अपनी वुद्धिकी मन्दताको प्रकट करना ही है।

यदि कोई कहे कि ज्ञान आत्माका गुण तो है, किन्तु नित्य नही, अनित्य है तो यह कहना भी ठीक नही; क्योकि हम देखते है कि जो वस्तुए अनित्य होती है, वे सब जड ही होती हैं, जैसे घडा इत्यादि। और यदि ज्ञानको अनित्य मानकर जड स्वीकार कर लोगे, तो जो वस्तु स्वय जड है, वह दूसरे को कैसे जनवा सकती है ? इसलिए ज्ञानको अनित्य न मान कर नित्य ही मानना चाहिए।

इतना समझाने पर भी यदि कोई हठ करे कि ज्ञान तो अनित्य ही है, तो फिर उसको यह कहना पडेगा कि "इन्द्रिय अथवा अन्त.करणसे ज्ञान उत्पन्न होता है।" किन्तु वह ठीक नही, क्योकि यदि ऐसा होता तो सुषुप्ति (गहरी नीद) मे इन्द्रिय अथवा अन्त करण आदिके न होनेपर भी जो सुखका ज्ञान होता है वह नही होना चाहिए।

और अनित्य वस्तु तो कभी होती है और कभी नही होती, किन्तु ज्ञान तो जाग्रत्मे जाग्रत्के पदार्थोका, स्वप्नमे स्वप्नके पदार्थोका और सुपुप्तिमे अ.न्दका, इस प्रकार सदा रहता ही है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान अनित्य नही किन्तु नित्य ही है। और वह नित्य ज्ञान आत्माका स्वरूप ही सिद्ध हो सकता है। अत यह सिद्ध हुआ कि **आत्मा ज्ञान-स्वरूप अर्थात् चित् (चैतन्य) है।**

इसी भाँति आत्मा आनन्द-स्वरूप भी है, क्योकि यदि आत्मा आनन्द-स्वरूप न होती तो सुषुप्तिमे अथवा समाधिमे जहाँ विषयोका नाम भी नही है, वहाँ आनन्दका भान न होता। तथा विषय-सम्बन्धसे जो आनन्द प्रतीत होता है, वह भी उसी आत्मस्वरूप आनन्दका ही प्रतिबिम्ब है, क्योकि यदि विपयोमे आनन्द होता तो जिस विषयसे एक पुरुषको आनन्द आता है, उस विषयसे दूसरेको दुःख नही होना चाहिए। परन्तु हम देखते हैं कि एक पुरुषको देखकर उसके मित्रको तो आनन्द होता है किन्तु उसके शत्रुको दुःख होता है। यदि कोई कहे कि विषय ही आनन्दरूप है तो यह उनका कहना ठीक नही, क्योकि यदि विषय ही आनन्दरूप होते तो जैसा आनन्द भोग के समय आता है, वैसा तृप्तिके बाद भी आना चाहिए किन्तु ऐसा नही होता। हम देखते है कि किसी बच्चेको जब तक भूख रहती है, तब तक तो उसे मिठाईसे आनन्द आता रहता है किन्तु जब पेट भरकर तुम्बा हो जाता है, तब उसी मिठाई से उसको घृणा हो जाती है। यदि मिठाई आनन्द-स्वरूप होती तो जैसा आनन्द भूखके समय आता है, वैसा ही तृप्तिके बाद भी आना चाहिए, किन्तु नही आता। इसलिए यह मानना चाहिए कि विषय स्वयं आनन्द-स्वरूप नही है, और जो उनमे आनन्द आता है उसका कारण यह है कि जब हमारा मन विषयको भोगते समय विषयमे तल्लीन (एकाग्र) हो जाता है, तब उसी एकाग्र मनमे आनन्द-स्वरूप आत्माका प्रतिबिम्ब (अक्स) पडता है। और यह नियम है कि जैसा बिम्ब वैसा प्रतिबिम्ब। अतः आत्मा आनन्द-स्वरूप होनेके

कारण, उसका प्रतिविम्ब भी आनन्दरूप ही पड़ता है। जिस समय मन विषयमे एकाग्र हो जाता है, उस समय हमे जिस आनन्दकी प्रतीति होती है, वह आनन्द तो वास्तवमें आत्माका ही प्रतिविम्ब है अर्थात् प्रतिबिम्व-रूपसे आत्मासे ही आता है, किन्तु अज्ञानी लोग समझते हैं कि यह आनन्द विषयसे ही आरहा है। यदि यह आत्मा, आनन्द-स्वरूप न होती तो इसका प्रतिबिम्ब भी **आनन्द**-स्वरूप न पड़ता। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा (अपना-आप) **आनन्द-स्वरूप** है।

यह भी देखा जाता है कि हम ससारमें उसीसे प्रेम करते है, जो सुखरूप हो; क्योकि दुःखको तो कोई नही चाहता। इससे सिद्ध होता है कि जिसको सब चाहते है, उसका नाम **आनन्द** है। अब हमे देखना है कि हम सब किसको चाहते हैं? वास्तवमे हम सब चाहते हैं, अपने-आपको, क्योकि स्त्रीको, धनको और पुत्र आदिको भी हम अपने लिए ही चाहते है, अधिक क्या कहे, हम ससारके सभी पदार्थोंको भी अपने लिए ही चाहते हैं, किन्तु अपने-आपको और किसीके लिए नही चाहते अर्थात् हमारा जो अपने आपमे प्रेम है वह दूसरेके लिए नही, किन्तु खुदके लिए ही है। इससे सिद्ध होता है कि हम सब अपने-आपको ही चाहते है। प्रथम हम बतला चुके हैं कि जिसको हम सव चाहते है, उसका नाम है आनन्द। इससे यह सिद्ध हुआ कि **अपना-आप (आत्मा)** ही **आनन्द-स्वरूप** है। किन्तु उस आत्माके आनन्दपनेका भान तभी होता है, जव वृत्ति अन्तर्मुख (एकाग्र) होकर उस आत्माके प्रतिबिम्वको ग्रहण

करती है।

इस प्रकार आत्मा सत् चित् आनन्द-स्वरूप है, यह सिद्ध हुआ। और यह सत् चित् आनन्द परस्पर भिन्न नही, किन्तु एक ही है, क्योकि यदि ये आत्माके गुण होते तो आपसमे भिन्न होते किन्तु ये तो आत्माके स्वरूप ही हैं, अत भिन्न नही हैं। यह सत् चित् आनन्द-स्वरूप आत्मा ब्रह्म-स्वरूप ही है, क्योकि वेद ब्रह्मको भी सत् चित् आनन्द-स्वरूप ही बताता है। अत **आत्मा और ब्रह्मकी एकता ही वेदका परम सिद्धान्त** है।

यद्यपि जीव और ईश्वरकी एकता, वाच्य-अर्थकी दृष्टि से नही बन सकती, किन्तु जीव-साक्षी ( आत्मा ) और ईश्वर-साक्षी ( ब्रह्म ) इन दोनोका तो आपसमे अभेद है ही। भेद तो केवल अविद्या और मायारूप उपाधिके भेदसे ही प्रतीत होता है। जैसे किसी कमरेमे रक्खे हुए घडेमे जो आकाश है, उसका उस कमरेवाले आकाशसे ( घडे और कमरेकी दृष्टिसे ) यद्यपि भेद प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव मे वह घडेवाला आकाश, उस कमरेवाले आकाशसे भिन्न नही, ठीक इसी प्रकार आत्मा और ब्रह्मका भी उपाधि की दृष्टिसे भेद नजर आता है, किन्तु वास्तवमे दोनो एक ही हैं।

श्रुति भी कहती है कि '—"**अयमात्मा ब्रह्म**" अर्थात् यह आत्मा ब्रह्म है। और"**तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवात्र ह्येव न विचिकित्स्यमित्यो सत्यमात्मैव नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति**"। अर्थात् "वही यह सत्य है। आत्मा

ब्रह्म ही है और ब्रह्म आत्मा ही है। निश्चय ही इस विषय मे कोई सशय नही करना चाहिए। हाँ, यह सत्य ही है कि आत्मा ही नृसिंह-देवरूप ब्रह्म है।"

वह ब्रह्मरूप आत्मा अजन्मा अर्थात् जन्मसे रहित है, क्योकि यदि आत्माका जन्म मानेंगे तो अन्त भी मानना पडेगा। यह हम पहिले सिद्ध कर चुके हैं कि आत्मा अनित्य नही किन्तु नित्य है। भगवान्‌ने भी गीतामे कहा है कि :—

**न त्वेवाहं जातु नास न त्वं नेमे जनाधिपाः।**
**न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥**

(गीता २-१२)

अर्थात् मैं (तत्पदार्थ परमात्मा) किसी समय नही था, ऐसा नही, किन्तु सदा मैं था ही। वैसे तुम और ये सब राजा नही थे, ऐसा नही है, किन्तु थे ही। और भविष्य मे भी हम सब नही होगे, ऐसा नही है, किन्तु होगे ही अर्थात् हम सब पहिले भी थे, अब भी है, और बादमे भी रहेगे।

भगवान्‌ने जो सबको नित्य बतलाया है, वह शरीरकी दृष्टिसे नही, किन्तु आत्माकी ही दृष्टिसे। जब आत्माका आभास (प्रतिबिम्ब) जो सूक्ष्म शरीरमे पडता है, जिसको **चिदाभास** कहते है, वह भी विदेह-मोक्ष तक नित्य रहता है, तब आत्माके नित्यपनेको सिद्ध करनेके लिए और दलील की तो आवश्यकता ही क्या है। यदि सूक्ष्म शरीरमे आए हुए चिदाभासको विदेह-मोक्षसे पहिले ही अनित्य मान लेंगे, तो ऐसा मानना पड़ेगा कि प्रत्येक जन्ममे वह सूक्ष्म शरीर

और चिदाभास नया ही उत्पन्न होता है। किन्तु यह ठीक नही; क्योकि यह सिद्धान्त है कि पुण्य पापका कर्त्ता और सुख-दुःख फलका भोक्ता, चिदाभास ही है। जैसे अभी कोई दो लडके उत्पन्न हुए है और वे दोनो ही जन्मसे सुखी और दुःखी है। यह तो सभी मानते है कि सुख और दु ख, पुण्य पाप कर्मोंका फल हे, किन्तु इन अभी उत्पन्न होनेवाले बच्चोने तो कोई पुण्य पाप कर्म किये ही नही हैं, फिर इनको सुख-दुःखरूपी फल कैसे मिल रहा है। यदि तुम कहो कि पहिले जन्मोके कर्मोका फल है तो इसपर हम कहेगे कि तुम तो आत्मा तथा सूक्ष्म शरीर मे पडे हुए चिदाभासको भी अन्तवाला मानते हो, इसलिए तुम्हारे मतमे पहिले जन्ममे कर्म करनेवाला जीवात्मा (चिदाभास अश) तो मर चुका था, अब यह दूसरा नया उत्पन्न हुआ है। ऐसी दशामे यह सिद्ध होता ह कि कर्म तो किया किसी एकने और उसका फल मिल रहा है किसी दूसरेको, जो कि वास्तवमे अन्याय है। इस अन्यायको हटानेके लिए यदि तुम यह कहो कि जो चिदाभास पहिले जन्ममे था, वही इस जन्ममे भी है, और वही अगले जन्म मे भी अपना फल भोगता रहेगा, तो इस कथनमे यह प्रतीत होता है कि तुमने चिदाभास (चेतनके आभास) को नित्य मान लिया। और जब चिदाभास नित्य है तो फिर जिस चेतनका आभास पडता है उस चेतन आत्माको तो नित्य मानना ही पडेगा।

और यदि तुम हठ करो कि नही; आत्माका जन्म

होता है तो फिर आत्माकी उत्पत्तिका कारण बताओ; क्योकि किसी भी वस्तुके जन्ममे कोई न कोई कारण अवश्य होता है। आत्माकी उत्पत्तिमे स्वयं आत्माको तो कारण मान ही नही सकते, क्योकि कोई भी वस्तु स्वय अपने आप अपना कारण नही बन सकती। जैसे कोई भी पुरुष अपने आप अपना पिता नही बन सकता; अतः तुम्हे आत्मासे भिन्न अनात्मा ( कल्पित नामरूप ) को आत्माका कारण मानना पडेगा। किन्तु यह भी ठीक नही, क्योकि कल्पित वस्तु अधिष्ठानकी उत्पत्तिमे कारण नही बन सकती। जैसे रस्सीमे कल्पित साँप रस्सीको उत्पन्न नही कर सकता, ठीक इसी प्रकार आत्मामे कल्पित नामरूप अनात्मा, कभी आत्माके जन्म ( उत्पत्ति ) मे कारण नही बन सकता। इस प्रकार जब आत्माकी उत्पत्तिमे कोई भी कारण सिद्ध नही हो सकता, तो इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा अजन्मा ( जन्मसे रहित अर्थात् उत्पत्तिसे रहित ) नित्य है। इसी कारण आत्माको जन्मादिक छः विकारोंसे रहित मानते हैं; क्योकि जिसका **जन्म नहीं होता**, उसका **प्रकट होना, बढ़ना, बदलना, घटना** और **नष्ट होना** भी नही होता। वह सब विकारोसे रहित निर्विकार आत्मा ही ब्रह्म अर्थात् सर्वत्र व्यापक है।

**शंका :—** भगवन्! यदि वह आत्मा सर्वत्र व्यापक है तो दिखता क्यों नही है?

**उत्तर :—** हे तात ( प्रिय )! वह आत्मा इन चर्म-चक्षुसे नही दीखता, किन्तु ज्ञान-चक्षुके प्रदान करनेसे अर्थात्

समझानेसे ही दीखता है ( समझमे आता है ) ।

देखिये इस ससारमे जितनी वस्तुएँ नजर आती है, उन सबके पाँच अश हैं। (१) नाम (वाचक-शब्द= वतलानेवाला शब्द जैसे घडा, पुस्तक इत्यादि) (२) रूप (आकार=स्वरूप) (३) अस्ति (हैपन) (४) भाति (प्रतीत अथवा ज्ञान) (५) प्रिय (जो प्यारा लगे)। जैसे यह पुस्तक ही तुम्हारे सामने है। इसमे भी पाँचो अश मौजूद है, जैसे इसका 'पुस्तक' यह **नाम** भी है। जो सामने दीख रहा है यह इसका **आकार** (स्वरूप) भी है। और "पुस्तक है" इस प्रकार इसका **हैपन** भी मौजूद है और इसका **ज्ञान** भी हो रहा है तथा यह किसी न किसीको **प्रिय** भी है। इनमे पहिलेवाले जो दो अश **नाम** और रूप हैं, वे तो बदलते रहते है, इसलिए नाम और रूपका दर्शन मायाका दर्शन कहलाता है और इस पुस्तकमे जो अस्ति (हैपन) भाति (ज्ञान) व प्रिय अर्थात् प्रियता नजर आरही है, यही आत्मा का दर्शन है। नाम, रूप यद्यपि सबके भिन्न भिन्न है, किन्तु अस्ति, भाति और प्रिय ये तीनो सभीमे एक ही रूपसे व्यापक है। इसीलिए हे शिष्य ! अस्ति-भाति-प्रिय-रूप आत्मा (सत् चित् आनन्दरूप आत्मा) को **सर्वत्र व्यापक** माना जाता है।

उस आत्माका किसीके साथ कोई सग (सम्बन्ध) न होनेके कारण, उसे असग भी कहते हैं। क्योकि सम्बन्ध तीन प्रकारके होते है, (१) **सजातीय**— जैसे एक शरीरका दूसरे शरीरसे (२) **विजातीय**— जैसे शरीरका घटसे। (३)

स्वगत— जैसे शरीरका अपने अवयवो (अंगो) से ।

आत्मामें सजातीय सम्बन्ध तो तब होता, जब आत्मा एकसे अधिक होते और विजातीय सम्बन्ध तब बन सकता जब आत्मासे विजातीय अनात्मा कोई सच्चा होता किन्तु अनात्मा तो कल्पित है। उस कल्पित अनात्माका आत्मासे विजातीय सम्बन्ध भी नही बन सकता। और स्वगत सम्बन्ध भी तभी सिद्ध हो सकता, जब आत्माके कोई अवयव होते किन्तु आत्मा तो निरवयव है, अतः स्वगत सम्बन्ध भी नही बन सकता। इस प्रकार जब आत्माका किसीके साथ कोई सम्बन्ध (सग) ही नही बन सकता तो इससे सिद्ध होता है कि आत्मा **असंग** है।

इस प्रकार हे शिष्य ! श्रुति-सम्मत युक्तियोसे सिद्ध किया हुआ सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप, जन्मादि छः विकारोसे रहित और असंग जो आत्मा है, वही तू है अर्थात् वही तेरा असली-स्वरूप है। यहाँ अगृधदेवके "मैं कौन हूँ" इस पहिले प्रश्नका उत्तर समाप्त हुआ।

अगृधदेवके दूसरे प्रश्नका यह अभिप्राय था कि हे भगवन् ! हम देखते हैं कि जितने भी इस ससारमे पदार्थ है, उनका कोई न कोई कर्त्ता (बनानेवाला) होता ही है, जैसे घडेका कुम्हार। इसी भाँति इस ससारका भी तो कोई न कोई कर्त्ता होना ही चाहिए। अतः कृपा करके बताइये कि ससारका कर्त्ता कौन है ?

इस प्रश्नको सुनकर स्वप्नवाले गुरुजी उसी स्वप्न अवस्थामे अगृधदेवको कहने लगे कि हे शिष्य ! *माया-विशिष्ट-*

चेतन [एक माया, दूसरा शुद्ध चेतन, तीसरा उस चेतनका आया हुआ मायामें प्रतिबिम्ब (अक्स) ये तीनो] जिसे ईश्वर कहते हैं, वे ही इस जगत्के कर्त्ता है अर्थात् वे ही इस ससारकी उत्पत्ति, पालन और सहार करते है। और वे ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र और व्यापक है। यद्यपि वैसे तो जीवका लक्ष्य-अर्थ अर्थात् असली स्वरूप शुद्ध चेतन, साक्षी आत्मा भी व्यापक ही है और जीवके लक्ष्य-अर्थका ईश्वरके लक्ष्य-अर्थसे अभेद (एकता) है; किन्तु अविद्या-विशिष्ट-चेतन (एक अविद्या, दूसरा शुद्ध चेतन और तीसरा उस चेतनका अविद्यामें आया हुआ प्रतिबिम्ब ये तीनो) जो जीवका वाच्य-अर्थ है, वह तो अल्पज्ञ, अल्प-शक्तिमान्, पराधीन और एकदेशी (परिच्छिन्न अर्थात् हद वाला) है।

**शका :**— भगवन्! जैसे जीव एकदेशी है, वैसे ईश्वर भी एकदेशी अर्थात् हदवाला क्यो नही माना जाता?

**उत्तर :**— हे शिष्य! हम देखते है कि जो पदार्थ हद वाले होते है, उनका नाश भी होता है और जिनका नाश होता है, उनको उत्पन्न करनेवाला भी कोई न कोई अवश्य होता ही है। अतः यदि ईश्वरको भी हदवाला और नाश वाला मानकर, उत्पन्न होनेवाला मानोगे तो फिर ईश्वरको उत्पन्न करनेवाला कौन है, यह प्रश्न खडा होगा। यदि यह कहा जाय कि ईश्वर अपने आप ही अपना कर्त्ता (उत्पन्न करनेवाला) है, तो **आत्माश्रय दोष** आजायगा, क्योकि कोई अपने आप ही अपना पिता (उत्पन्न करनेवाला)

नही बन सकता ।

यदि कहो कि नही, इस ईश्वरका कोई दूसरा ईश्वर कर्त्ता (जनक) है । तो फिर उस दूसरे ईश्वरका भी कोई तीसरा ईश्वर कर्त्ता मानना पडेगा । यदि कहो कि नही, पहिलेवाले ईश्वरका दूसरा ईश्वर कर्त्ता है और दूसरे ईश्वरका पहिला ईश्वर कर्त्ता है । तो **अन्योन्याश्रय दोष** आजायगा; क्योकि कोई दो मनुष्य आपसमे एक दूसरेके पिता नही बन सकते ।

फिर यदि कहो कि दूसरे ईश्वरका कर्त्ता कोई तीसरा ईश्वर हैं । तो फिर हम पूछेंगे कि उस तीसरे ईश्वरका कर्त्ता कौनसा ईश्वर है । यदि कहो कि तीसरेका तो पहिलेवाला ईश्वर ही कर्त्ता है, तो **चक्रिका दोष** आजायगा, क्योकि पहिले ईश्वरका कर्त्ता दूसरा ईश्वर, और दूसरेका तीसरा, फिर तीसरेका पहिला, इस तरह तो चक्र घूमता रहेगा । यदि इस दोषको हटानेके लिए यह कहो कि तीसरे ईश्वर का कर्त्ता चौथा ईश्वर है । तब यो तुम दूसरा दूसरा ईश्वर कर्त्ता बताते जाओगे और हम पूछते जायँगे । इस तरह तो **अनवस्था दोष** हो जायगा ।

यदि कहो कि अनवस्था हो जाय तो इससे क्या हानि है; क्योकि हम तो उन सब ईश्वरोमेसे किसी एकको ईश्वर मान लेंगे तो यह ठीक नही , क्योकि बिना किसी युक्ति व प्रमाणके किसी चीजको मान लेना भी एक **विनिगमन-विरह** नामका दोप कहलाता है । तुम यदि अपना हठ न छोड़ते हुए फिर भी यह कहो कि जो ईश्वरोंकी

अनवस्था अर्थात् एक धारा चली थी, उसको हम कही समाप्त करके अन्तवालेको जगत्‌का कर्त्ता ईश्वर मान लेंगे ; तो यह कहना भी ठीक नही, क्योकि पहिलेवाले सभी कर्त्ता ईश्वर वृथा सिद्ध हो जायेंगे , अर्थात् जिस अन्तवालेको ईश्वर माना उससे पहिलेवाले ईश्वर, ईश्वर नही रहेंगे अर्थात् उनके ईश्वरत्वका ही लोप ( अभाव ) हो जायगा । अत॰ ऐसा कहना **प्राग्लोप** नामक दोष कहलाता है, क्योकि पहिले धारा चलाकर फिर एकको मानकर और बाकीका लोप करना निरर्थक ही है ।

इस प्रकार ईश्वरका कर्त्ता माननेसे जब दोष ही आते है तो इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वरकी उत्पत्ति नही होती । और जब उत्पत्ति ही नही होती तो उसका नाश भी नहीं हो सकता । और जब नाश-रहित ही मानते है तो फिर एकदेशी अर्थात् हदवाला न मानकर व्यापक ही मानना पडेगा, क्योकि जो हदवाला होता है उसका तो नाश हो ही जाता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत् का कर्त्ता ईश्वर व्यापक और नित्य है । यह दूसरे प्रश्न का उत्तर समाप्त हुआ ।

**अगृधदेवका तीसरा प्रश्न** :— स्वामिन् ! मोक्षका साधन ज्ञान है अथवा कर्म है, उपासना ( भक्ति ) है वा इनमे से कोई दो है ?

**उत्तर** :— हे शिष्य ! मोक्षका साधन केवल एक ज्ञान ही है , न कर्म, न उपासना और न कर्म उपासना दोनो है , क्योकि यह संसारका बन्धन कल्पित है और कल्पित

वस्तुकी निवृत्ति तो केवल अधिष्ठानके ज्ञानसे ही हुआ करती है, न कि कर्म और उपासनासे। जैसे रस्सीमें कल्पित साँप किसी भी नमस्कार इत्यादि कर्मसे अथवा भक्तिसे निवृत्त नही हो सकता, किन्तु उसके अधिष्ठान रस्सीके ज्ञान से ही केवल निवृत्त हो सकता है, उसी प्रकार यह मिथ्या ( कल्पित ) ससार भी इसके अधिष्ठान ब्रह्मरूप आत्माके ज्ञान से ही निवृत्त हो सकता है, न कि किसी कर्म और उपासनासे। वेद भी कहता है कि **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** अर्थात् 'बिना ज्ञानके मुक्ति नही हो सकती।' **'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'** अर्थात् 'कैवल्य-मोक्ष तो ज्ञानसे ही हो सकता है।' **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'** अर्थात् 'उस मोक्षरूप अयन ( घर ) को प्राप्त करनेके लिए दूसरा मार्ग ( रास्ता ) है ही नही।' इत्यादि कई जगह वेदने डण्डेकी चोटपर घोषणा करके कहा है कि मोक्ष केवल ज्ञानसे ही हो सकता है, न कि कर्म और उपासनासे।

और यदि मोक्ष कर्मका फल होता तो अनित्य होता, बल्कि यदि उपासनाका भी फल होता तो भी अनित्य ही मानना पडता, क्योकि स्वर्ग इत्यादि जितने भी कर्मों के फल है, वे सभी अनित्य हैं। उपासना भी एक प्रकार का मानसिक कर्म है। इसलिए उसके भी जितने फल हैं वे सभी अनित्य होते है। मोक्ष तो नित्य है। वेद भी कहता है कि **"न स पुनरावर्त्तते"** अर्थात् उस आत्म-ज्ञानी का ( मोक्ष प्राप्तिके बाद ) फिर जन्म-मरण नही होता अर्थात् वह मोक्ष नित्य ही प्राप्त होता है।

थोडा विचार करके देखे तो कर्मसे मोक्षकी प्राप्ति तो हो ही नही सकती, क्योकि कर्म सदा पाँच प्रकारके फलो के लिए ही किया जाता है। जैसे .— किसी पदार्थको उत्पन्न करना हो, अथवा किसी पदार्थका नाश करना हो अथवा किसी पदार्थको प्राप्त करना हो, अथवा किसी पदार्थका रूप बदलना हो, अथवा किसी पदार्थका सस्कार करना हो अर्थात् किसी पदार्थमेसे मलको हटाना व उसमे गुणको लाना हो , किन्तु मोक्षमे तो न किसीकी उत्पत्ति करनी है, न नाश करना है, न प्राप्ति करनी है, न किसीको बदलना है और न किसीका कोई सस्कार ही करना है। क्योकि मोक्ष कहते हैं ससारके जन्म-मरणरूपी दुःखकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिको, और ये दोनो फल आत्मामे तो पहिलेसे ही मौजूद है। वेदान्तका श्रवण तो केवल ससारकी भ्रान्तिको हटानेके लिए तथा आत्मा (मेरा असली स्वरूप साक्षी) नित्य मुक्त है और इसके मोक्षके लिए किसी कर्मकी आवश्यकता नही है, इस बातको समझानेके लिए ही किया जाता है।

यदि सम-समुच्चयवादके अनुसार कोई कहे कि— मोक्षका हेतु (साधन) ज्ञान तभी हो सकता है, जब ज्ञानके साथ साथ कर्म और उपासना भी किये जायँ, अथवा ज्ञानकी रक्षाके लिए तो कर्म और उपासना अवश्य करने ही चाहिये, तो यह उसका कहना ठीक नही , क्योकि कर्म करनेवाला और उपासक (भक्त) ये दोनो यद्यपि अपने आपको स्थूल शरीर तो नही समझते, किन्तु 'मैं कर्त्ता भोक्ता हूँ' इस प्रकार आत्माको

कर्त्ता भोक्ता तो मानते ही हैं। यह कर्त्ता भोक्ताकी भ्रान्ति विद्वान् (आत्मज्ञानी) को तो होती ही नही है। तथा जाति, आश्रम, व अवस्था आदिकोंकी भावनाएँ भी कर्ममें हेतु (कारण) पड़ा करती हैं। और ये सब भावनाएँ शरीर मे ही हुआ करती हैं, न कि आत्मामे।

ज्ञानी तो अपनेको जब शरीर ही नही समझता, तो उसमे जाति, आश्रम, अवस्था आदिकोंकी भावनाएँ कैसे हो सकती हैं। इससे सिद्ध हुआ कि कर्त्ता-भोक्तापनकी भ्रान्ति से रहित तथा जाति इत्यादिकी भावनाओंसे रहित ज्ञानी का कर्मोंमे (यज्ञ इत्यादि कर्मोंमे) अधिकार नही है अर्थात् यज्ञ इत्यादि कर्म उनके लिए कर्त्तव्य नहीं है।

उपासना भी इस बुद्धिसे होती है कि 'मैं उपासक (उपासना करने वाला) हूँ और देवता (ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि) उपास्य (उपासना करने योग्य) हैं।' इस प्रकार की द्वैत-बुद्धि ज्ञानीको तो होती ही नही, वह तो समझता है कि 'शरीर इत्यादि मेरे अथवा देवताके सभी सपनेकी तरह कल्पित ही है और चेतन सबमे एक ही है।' इसलिए आत्मज्ञानीसे द्वैतमूलक (द्वैत-भावनासे होनेवाली) उपासना (भक्ति) नही हो सकती, क्योकि अद्वैत-ज्ञान और द्वैत-उपासनाका प्रकाश और अधकारकी तरह आपसमे विरोध है।

ब्रह्मज्ञानका फल जो मोक्ष है; वह स्वर्ग इत्यादिकी तरह अदृष्ट नही है, किन्तु नित्य प्राप्त है। यह वन्धन तो केवल भ्रान्तिसे ही प्रतीत हो रहा है; जिसकी निवृत्ति

ब्रह्मज्ञानका दृष्ट फल अर्थात् प्रत्यक्ष फल है ।

**शङ्का :—** स्वामीजी ! जब मोक्ष केवल ज्ञानसे ही होता है तो फिर वेदने कर्म और उपासनाका वर्णन क्यो किया है ?

**उत्तर :—** हे शिष्य ! जिस प्रकार अन्नको उत्पन्न करनेसे पहिले भूमिको ठीक करनेके लिए हल इत्यादि चलानेकी आवश्यकता पडती है उसी प्रकार ज्ञानसे पहिले चित्तको शुद्ध करनेके लिए कर्म और उपासनाकी आवश्यकता पडती है, किन्तु वह आवश्यकता केवल ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये ही है, न कि मोक्षके लिए, क्योकि ज्ञानकी उत्पत्तिसे पहिले जिस अन्त करणमे अर्थात् बुद्धिमे ज्ञान होता है, उसको शुद्ध करनेके लिए कर्म और निश्चल (एकाग्र) करनेके लिए उपासनाकी आवश्यकता है, किन्तु जिसका अन्त करण पहिले जन्ममे किये हुए कर्म और उपासनासे ही शुद्ध हैं तो उसको फिर कर्म और उपासनाकी आवश्यकता नही है ।

**शका .—** भगवन् ! यद्यपि मोक्षके लिए कर्म और उपासनाकी आवश्यकता नही है, किन्तु ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होनेके बाद उसकी रक्षाके लिए तो कर्म उपासना करने चाहियें कि नही ?

**उत्तर :—** नही, क्योकि कर्म और उपासनासे ब्रह्मज्ञानकी रक्षा तो नही होती, उल्टा उनका आपसमे विरोध होनेके कारण, कर्म और उपासनासे ब्रह्माकार वृत्ति टूटती हैं और आत्म-चिन्तनकी जगह अनात्म-चिन्तन होता है ।

**शका :—** भगवन् ! यदि ज्ञानवान् कर्म नही करेगा तो उसे पाप तो नही लगेगा ?

**उत्तर :—** नही ; क्योकि किसी कर्मको न करनेसे पाप नही लगता, किन्तु निषिद्ध कर्मों (पाप कर्मों) को करनेसे ही पाप लगता है। यह बात भगवान् भाष्यकार श्रीस्वामी शंकराचार्यजी महाराजने कई प्रकारोसे बतलाई है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्म न करनेसे पाप नही लगता।

वास्तवमे ज्ञानीको पाप व पुण्य कर्मों-द्वारा बन्धन (जन्म-मरणरूप ससारकी प्राप्ति) तो हो ही नही सकता ; क्योकि उससे निषिद्ध कर्म (पाप कर्म) तो कभी होते ही नही हैं। इसका कारण यह है कि ज्ञानी, जिज्ञासु-अवस्थामे पाप कर्मोंको न करनेका, तथा निष्काम शुभ कर्मोको करनेका अभ्यास करता ही रहता है और वही अभ्यास परिपक्व होकर ज्ञान होनेके बाद स्वभावमे परिणत हो जाता है। अत. ज्ञान होनेके बाद ज्ञानीकी प्रवृत्ति किसी भी प्रकारके पाप कर्मोंमें तो हो ही नही सकती। जब उसकी पाप कर्मोमे प्रवृत्ति ही नही होती, तो पाप लगनेकी तो शका ही कहाँ है। और शुभ कर्म भी उससे बिना इच्छाके प्रारब्ध-वशात् वा स्वभावसे ही होते रहते हैं, अतः उनका भी लेप (बन्धन) ज्ञानीको नही लग सकता।

जब ज्ञान होनेपर ज्ञानीका अज्ञान ही नष्ट हो जाता है, तो फिर अज्ञानका कार्य 'संसार और कर्म इत्यादि' उसको बन्धनमे डाल ही कैसे सकते हैं।

**शंका :—** स्वामीजी ! अन्य कर्म तो चाहे ज्ञानी न करे, किन्तु वेदान्तका पढना-पढाना और उसका चिन्तन करना भी तो एक कर्म है ; उसका करना आवश्यक है या नहीं।

**उत्तर :—** हे शिष्य ! वस्तुत. यह कर्म, कर्म नही है ; क्योकि जिस कर्मसे साक्षत् अकर्मकी (मोक्षकी) प्राप्ति होती है, वह कर्म भी अकर्म-रूप ही है। और यदि इसको चिन्तनरूप कर्म माना भी जाय तो भी कोई हानि नही है। किन्तु इसका करना अथवा न करना ज्ञानीकी इच्छा पर है, उसके लिये कोई कर्त्तव्य नही। परन्तु जो मन्द ज्ञानी है, अर्थात् जिसका ज्ञान अव तक दृढ नही हुआ है और सशय अभी रहे हुये है, उसके लिए तो आत्म-चिन्तन कर्त्तव्य है। जिस वेदान्तका उसने पहले श्रवण किया है, उसका ही केवल वह मनन तथा निदिध्यासन करता रहे। उसे भी कर्म उपासना करनेकी आवश्यकता नही है।

**शका —** भगवन् ! जिसके मल (पाप कर्म) और विक्षेप (चचलता) अव तक नष्ट नही हुए है, किन्तु वेदान्त-श्रवणमे लग चुका है उसे तो फिर विक्षेपको हटानेके लिए कर्म उपासना करने चाहिये कि नही।

**उत्तर :—** नही , उसको वेदान्त-श्रवण करनेके वाद मनन और निदिध्यासनको छोडकर, फिर पीछे हटनेकी अर्थात् कर्म और उपासना करनेकी कोई आवश्यकता नही है। वह तो श्रवण किये हुए वेदान्तका मनन और निदिध्यासन करता हुआ ही आगे वढता रहे, क्योकि मनन और निदिध्यामन ही उसके मल और विक्षेपको हटाकर उसमे दृढ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान उत्पन्न कर लेंगे।

**शंका :—**स्वामीजी ! ज्ञान होनेके वाद भी कई ज्ञानी पुरुप कर्म करते हुए दीखते है , यदि ज्ञानके वाद कर्मकी आवश्यकता

नही है, तो फिर वे ऐसा क्यो करते है ?

**उत्तर :—** हे शिष्य ! यह तो मैने तुम्हे पहिले ही बतलाया था कि जिज्ञासु अवस्थामे शुभ कर्म करनेका जो स्वभाव पड जाता है, उसी स्वभाव-वश ज्ञानी कर्म करते है, न कि कर्त्तव्य बुद्धिसे। दूसरी बात यह है कि कर्म (परतन्त्र कर्म=प्रारब्धाधीन सुख-दुःख भोगनेमे निमित्त-मात्र कर्म) का सम्बन्ध प्रारब्ध से भी है। जिन ज्ञानियोकी प्रारब्ध प्रवृत्ति-प्रधान होती है, वे तो लौकिक कर्म करते ही रहते है और जिनकी प्रारब्ध निवृत्ति-प्रधान होती है, वे उन लौकिक कर्मोसे उपराम (हटे हुए) हो जाते है।

किन्तु ज्ञानीकी प्रारब्ध चाहे भोग-प्रधान [प्रवृत्ति-प्रधान (जैसे गृहस्थ जनकादिकोकी)] हो चाहे निवृत्ति-प्रधान [जैसे त्यागी शुकदेव, वामदेव आदिकोकी] हो उसके ज्ञानमे कोई हानि व मोक्षमे कोई बाधा (रुकावट) नही हो सकती।

**शंका :—** भगवन् ! अब तो मेरी समझमे आगया कि कर्म और उपासनासे तो केवल मल और विक्षेप ही नष्ट होते हैं, किन्तु अज्ञान रह जाता है। और वह अज्ञान केवल ज्ञानसे ही नष्ट हो सकता है। अब भगवन् ! जिस ज्ञानसे अज्ञान नष्ट होता है उसका कृपा करके थोडेमे वर्णन कीजिये।

**उत्तर :—** हे शिष्य ! वह ज्ञान तो मैंने तुम्हे पहिले ही बतला दिया है कि "जगत्का कर्त्ता जो ईश्वर है, वह वास्तव मे (असली स्वरूपकी दृष्टिसे) तुझसे भिन्न नही है, क्योकि तेरा असली-स्वरूप भी सत् चित् आनन्द-स्वरूप ब्रह्म है और ईश्वरका असली स्वरूप भी सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म ही है ;

अर्थात् तू ही शुद्ध ब्रह्म है, तू ही मायाकी उपाधिसे ईश्वर जगत् और जीवरूपमे दिखाई दे रहा है । तू ही मायाकी उपाधिसे जगत्का कर्त्ता होकर इस दृश्यरूप जगत्को रचता है, तू ही इसका पालन करता है और तू ही इसका सहार करता है, किन्तु तू स्वयं सहारसे अर्थात् नाशसे रहित है ।

इस अर्थको श्रीनिश्चलदासजी महाराजने कवितामे इस प्रकार लिखा है कि .—

**दीनताकूँ त्यागि नर, अपनो स्वरूप देखि ।**
**तू तौ सुद्धब्रह्म अज, दृश्यको प्रकासी है ॥**
**आपनै अज्ञानतैं जगत सब तूहीं रचै ।**
**सर्वको सहार करै, आप अविनासी है ॥**
**मिथ्या परपंच देखि, दुःख जिन आनि जिय ।**
**देवनको देव तूं तौ, सब सुखरासी है ॥**
**जीव जग ईस होय, मायासै प्रभासै तूंहि ।**
**जैसै रज्जु साप सीप, रूप ह्वै प्रभासी है ॥**

**शंका :**— भगवन् ! मुझमे और ईश्वरमे जो भेद दिखाई देता है वह यदि केवल भ्रान्ति ही है, अर्थात् मुझमे और ईश्वर मे यदि कोई वास्तवमे अन्तर है ही नही तो फिर जीव ( मैं ) अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् इत्यादि धर्मोवाला और ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् इत्यादि धर्मोंवाला क्यो गिना जाता है ?

**उत्तर :**— हे शिष्य ! ईश्वर और जीवकी जो एकता की जाती है वह वाच्य-अर्थको लेकर नही अपितु लक्ष्य-अर्थको ही लेकर की जाती है। और यह जो तुम्हे भेद प्रतीत हो रहा है, वह सारा वाच्य-अर्थमे ही है। अत. भाग-त्याग-लक्षणासे

वाच्य-अर्थके विरोधी भाग ( हिस्से ) अविद्या और मायाको त्यागकर ( बुद्धिसे मिथ्या समझ करके ) उसके अविरोधी भाग की ( जीव-साक्षी और ईश्वर-साक्षीकी अर्थात् शुद्ध चेतनकी ) ही आपसमे एकता की जाती है। इस प्रकार लक्ष्य-अर्थकी आपसमे एकता करनेसे तुम्हे यह शका नही रहेगी; क्योकि ये सर्वज्ञ और अल्पज्ञ इत्यादि जो धर्म है वे सब अविद्या और मायाकी उपाधिसे ही प्रतीत होते हैं। इन उपाधियोंके हटते ही वे विरुद्ध धर्म भी प्रतीत नही होगे और फिर शुद्ध चेतनकी आपसमे एकता अनायास (आसानीसे) ही समझमे आ जायगी।

**शंका :**— गुरुजी ! आपने जो भाग-त्याग-लक्षणाका नाम लिया है; वह पूरा समझमें नही आया। अतः लक्षणा किसको कहते हैं, तथा भाग-त्याग-लक्षणाका क्या अर्थ है, यह कृपा करके संक्षेप (थोड़े) में समझाइये।

**उत्तर :**— हे शिष्य ! लक्षणा एक प्रकारकी वृत्ति है। इस लक्षणा वृत्तिको समझनेके लिए पहिले तुम्हे यह समझना चाहिये कि वृत्ति किसको कहते हैं।

शब्दका जो अर्थसे सम्बन्ध है, उस सम्बन्धको कहते है **वृत्ति**। वह वृत्ति दो प्रकारकी होती है। (१) शक्ति-वृत्ति (२) लक्षणा वृत्ति।

(१) **शक्ति-वृत्ति :**— पहिले तुम्हे मैं शक्ति-वृत्तिके बारे मे कुछ मत बताता हूँ। न्याय-मतवाले कहते हैं कि "इस शब्द को सुननेसे इसी अर्थकी प्रतीति हो, जैसे अग्नि शब्दको सुननेसे जलती हुई आगका ही ज्ञान हो; इस प्रकारकी जो ईश्वरकी इच्छा है वही **शक्ति** है।" किन्तु सिद्धान्त ( वेदान्त )

तो यह कहता है कि शब्दमे जो अर्थके ज्ञान करवानेका **सामर्थ्य** (ताकत) है, वही शब्दकी **शक्ति-वृत्ति** है यह शक्ति केवल शब्दोमे ही नही होती, किन्तु सभी पदार्थोमे निहित (मौजूद) है, जैसे अग्निमे जलानेकी शक्ति।

शक्ति, शक्तिमान्से जुदा नही हुआ करती, अत न्याय मतमे ईश्वरकी इच्छाको जो पदकी शक्ति कहते हैं, वह ठीक नही, क्योकि ईश्वरकी इच्छा तो ईश्वरका धर्म है। इसलिए वह ईश्वरकी शक्ति हो सकती है, न कि शब्दकी, क्योकि धर्म हो ईश्वरका और शक्ति माने शब्दकी, यह असगत (अनुचित) है।

व्याकरणवाले कहते है कि शब्दमे जो अर्थको वतलानेकी **योग्यता** होती है, वही शब्दकी **शक्ति** है, न कि सामर्थ्य। उनका यह कहना ठीक नही, क्योकि विना सामर्थ्यके कभी किसी प्रकारकी योग्यता नही हुआ करती। और यदि कहो कि असमर्थ शब्द भी अर्थको वतलानेके लिये योग्य हो सकता है तो हम कहेगे कि इस वाक्यमे तो ऐसा विरोध दिखाई दे रहा है, जैसे कोई कहे कि असमर्थ (नपु सक) भी अमोघ-वीर्य अर्थात् पुत्र को उत्पन्न करनेवाला वन सकता है, क्योकि जैसे असमर्थ किसी कार्यको करनेके योग्य नही हो सकता, उसी प्रकार असमर्थ (सामर्थ्य-रहित) शब्द भी किसी अर्थको वतलानेके योग्य नही वन सकता। इसलिए शब्दमे सामर्थ्यको मानना ही पडेगा, और वह **'सामर्थ्य' ही शब्दकी** शक्ति है।

पूर्व-मीमासाके वार्तिककार कुमारिल भट्टका मत यह है कि शब्द (पद) का अर्थके साथ जो **भेदाऽभेदरूप तादात्म्य**

सम्बन्ध है, वही शब्दकी **शक्ति** है । वे भट्ट इस तादात्म्य सबंध को भेदाभेदरूपसे सिद्ध करनेके लिए यह दलील देते है कि शब्दका अर्थके साथ न केवल अत्यन्त भेद है और न केवल अत्यन्त अभेद ही है, किन्तु भेद भी है और अभेद भी है । इसीलिये शब्दका अर्थके साथ **भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध** माना जाता है । यदि हम शब्दका अर्थके साथ केवल अत्यन्त भेद ही मानेगे तो जैसे अग्निके उच्चारण करनेसे उससे अत्यन्त भिन्न जलादिकी प्रतीति नही होती, उसी प्रकार अगाररूप अग्निकी भी प्रतीति नहीं होनी चाहिये, किन्तु अग्नि शब्दसे अगाररूप अग्निकी प्रतीति होती है, इसलिए शब्दका अर्थके साथ केवल भेद नही, किन्तु कोई अभेद भी है ।

और यदि शब्दका अर्थके साथ केवल अत्यन्त अभेद ही मानेंगे । तो जैसे अग्नि शब्दका अर्थ अगाररूप अग्नि मुखको जला देती है तो उससे अभिन्न अग्नि शब्द भी मुखको जला देता किन्तु ऐसा होता नही, इसलिए अग्नि शब्दका अगाररूप अर्थसे न तो अत्यन्त भेद है और न अत्यन्त अभेद ही है, किन्तु भेद और अभेद दोनो हैं ।

इसी अभिप्रायसे भट्ट, शब्दका अर्थके साथ भेदाभेदरूप तादात्म्य-सम्बन्ध मानते है । वे इसमे प्रमाण भी देते हैं कि जैसे ॐ अक्षरके साथ उसके अर्थरूप ब्रह्मका भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध है, क्योंकि वेद कहता है कि ॐ अक्षर ब्रह्म है, इससे सिद्ध होता है कि ॐ अक्षरका और ब्रह्मका आपसमे अभेद है । और लोकमे तो भेद सिद्ध ही है, क्योकि ॐ अक्षर तो केवल वाणीमें है, और ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है । इस प्रकार

ॐ और ब्रह्मका आपसमे भेद भी है और अभेद भी है। इसी प्रकार गुण और गुणीका, जाति और व्यक्तिका, क्रिया और क्रियावान्का तथा उपादान-कारण (जैसे मिट्टी) और कार्य (जैसे घडा) इन सबका आपसमे तादात्म्य-सम्बन्ध अर्थात् भेदाभेद सम्बन्ध (भेद-सहित अभेद) है।

यह भट्टका मत भी गलत है, क्योकि भेद और अभेद ये आपसमे विरोधी है। हम देखते हैं कि जिस वस्तुका किसी वस्तुके साथ यदि अभेद है, तो उस वस्तुका उसी वस्तुके साथ किसी भी प्रकारसे भेद सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे घडेका अपने आपसे अभेद है और दूसरेसे भेद है। किन्तु जिससे भेद है, उससे कभी अभेद नही हो सकता और जिस अपने आपसे अभेद है, उस अपने आपसे कभी भेद नही हो सकता। अत. यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि एक वस्तुका भेद और अभेद एकमे नही हो सकते।

इसलिए वाचक (शब्द) और वाच्य (अर्थ), गुण और गुणी, जाति और व्यक्ति, क्रिया और क्रियावान्, कारण और कार्यमे भी भेदाभेदरूप तादात्म्य सम्बन्ध मानना ठीक नही है, किन्तु भेदाभेदसे विलक्षण **अनिर्वचनीय तादात्म्य सम्बन्ध** ही मानना चाहिये।

शब्दका अर्थके साथ अनिर्वचनीय सम्बन्ध इसलिये मानते हैं कि उस सम्बन्धको न केवल भेदरूप कह सकते हैं, न केवल अभेदरूप कह सकते हैं और न भेदाभेदरूप ही कह सकते हैं; क्योकि पहिले बताए अनुसार यदि शब्दका अर्थके साथ भेद माने तो जैसे अग्नि शब्दके उच्चारणसे उससे भिन्न जलका

ज्ञान नही होता, वैसे अगाररूप अग्निका भी ज्ञान नही होना चाहिये। यदि केवल अभेद माने तो अग्नि शब्दके उच्चारणसे मुख जल जाना चाहिये और यदि भेद-अभेद दोनो माने तो ये आपसमें विरोधी होनेके कारण एक जगह बन नही सकते; क्योकि जहाँ भेद है वहाँ अभेद नही और जहाँ अभेद है वहाँ भेद नही।

इसलिए इन तीनो सम्बन्धोसे विलक्षण (न्यारा) अनिर्वचनीय तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता है। विलक्षण कहनेका तात्पर्य यह है :– भेदसे विलक्षण है, इस प्रकार कहनेसे वास्तव भेदसे रहित और कल्पित भेद-सहित बताया गया और अभेद से विलक्षण कहनेसे कल्पित अभेदसे रहित और वास्तव अभेद सहित बताया गया अर्थात् जो हमे शब्द और अर्थका भेद नजर आता है वह कल्पित है, और जो अभेद नजर आता है वह वास्तविक है। इस प्रकार वेदान्त सिद्धान्तमें कल्पित भेद-सहित वास्तविक अभेद, **तादात्म्य-सम्बन्ध** कहलाता है और इसीको दूसरे शब्दोमे **अनिर्वचनीय तादात्म्य-सम्बन्ध** कहते है।

**शका** :— स्वामीजी ! यदि अक्षरका अर्थके साथ अभेद नही है तो फिर "प्रणव अर्थात् ॐ अक्षर ब्रह्म है" यह वेदने क्यो कहा है ?

**उत्तर** :— हे शिष्य ! इस वेदके वचनका जो असली तात्पर्य है वह भट्टके ध्यानमे नही आया, क्योंकि वहाँ वेदकी यह आज्ञा है कि ॐ अक्षरको ब्रह्मरूप समझ करके उपासना करो। और उपासनामे यह नियम नही है कि जैसी वस्तु हो उसकी उसी रूपसे ही उपासना की जाय, क्योकि शालिग्रामरूपी

पत्थरकी विष्णुरूपसे और नर्मदेश्वर (शिव लिंग) की शिवरूप से उपासना की जाती है। इसलिए ॐ अक्षर यद्यपि ब्रह्मरूप नही है, तो भी उसकी ब्रह्मरूपसे उपासना की जा सकती है। अथवा यो भी मान सकते है कि ॐ अक्षर ब्रह्ममे कल्पित है, और कल्पित वस्तु वास्तवमे अधिष्ठानसे भिन्न नही हुआ करती, इस दृष्टिसे कल्पित ॐ, अधिष्ठान ब्रह्मसे भिन्न नही है, किन्तु ब्रह्म-स्वरूप ही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पद (शब्द) को सुननेसे ही जो उसमे अर्थको जनवानेका अनिर्वचनीय-तादात्म्य-सम्बन्धरूप सामर्थ्य प्रतीत होता है, वही पदकी **शक्ति** है।

वह शब्दकी शक्ति-वृत्ति जिस अर्थको जनवाती है उस अर्थको **शक्य-अर्थ** अथवा **मुख्य-अर्थ** भी कहते है, जैसे अग्नि शब्दमे रहनेवाली शक्ति-वृत्ति (सामर्थ्य) अगाररूप अग्नि को जनवाती है अर्थात् अग्नि शब्दका उच्चारण करते ही हमे जिस जलती हुई आगका ज्ञान होता है वह आग, अग्नि शब्दका शक्य-अर्थ है, उसको **वाच्य-अर्थ** भी कहते हैं। [इस शक्य-अर्थको शब्दका सीधा-सीधा अर्थ भी कहते हैं।]

जिस अर्थका ज्ञान शब्दकी शक्ति-वृत्तिसे न हो सके, किन्तु शब्दकी शक्ति-वृत्तिके द्वारा जाने हुए शक्य-अर्थके सम्बन्धसे ही हो सके तो उस अर्थको कहते है **लक्ष्य-अर्थ**। जैसे :— किसीने पूछा कि सत्सग कहाँ होता है ? इसपर उत्तर मिला कि बारहदरी पर। फिर पूछा गया कि वह बारहदरी कहाँ है ? कहा गया कि आना-सागरपर। अब यदि 'आनासागर' शब्दका शक्ति-वृत्ति

द्वारा शक्य-अर्थ (आनासागरका जल) लिया जायगा तो अर्थ ठीक नही निकल सकता; क्योकि जलपर तो बारहदरी हो ही नही सकती; किन्तु यदि उसके शक्य-अर्थ (जल) के सम्बन्धी किनारेको लेलेंगे तब तो अर्थ ठीक बैठ सकता है; क्योकि जलके किनारेपर बारहदरी बनी हुई है ही। इस प्रकार अर्थको सही करनेके लिए जो हमने 'आनासागर' शब्दके शक्य-अर्थका सम्बन्धी किनारा लिया है, वह किनारा 'आनासागर' शब्दका **लक्ष्य-अर्थ** है।

उस शक्य-अर्थका जो लक्ष्य-अर्थसे सम्बन्ध है, उसे **लक्षणा-सम्बन्ध** अर्थात् **लक्षणा-वृत्ति** कहते है।

लक्षणा-वृत्तिका तात्पर्य यह है कि जब कोई शब्द अपने लक्ष्य-अर्थको अपनी शक्ति-वृत्ति-द्वारा (साक्षात् सम्बन्ध द्वारा अर्थात् सीधी वृत्ति-द्वारा) नही जनवा सकता, तब अपनी शक्ति-वृत्तिसे जाने हुए शक्य-अर्थके द्वारा सम्बन्ध जोड़कर ही अपने लक्ष्य-अर्थको जनवाता है, तो उस समय उस शब्दके उस परम्परा-सम्बन्धको शब्दकी **लक्षणा-वृत्ति** अथवा परम्परावृत्ति (सम्बन्ध) कहते है। [जैसे शक्ति-वृत्तिको सीधी वृत्ति कह सकते है, उसी प्रकार इस लक्षणा-वृत्तिको टेढी वृत्ति भी कह सकते हैं।] इस प्रकार 'आनासागर' शब्द अपने साक्षात् सम्बन्धसे (सीधे सम्बन्धसे) जलको जनवाता है, और परम्परा-सम्बन्धसे (जलके द्वारा सम्बन्ध जोड़कर) किनारेको जनवाता है। तो जिस परम्परा-सम्बन्धसे वह किनारेको जनवाता है, उस परम्परा-सम्बन्ध को कहते हैं 'आनासागर' शब्दका लक्षणा-सम्बन्ध अर्थात्

**लक्षणा-वृत्ति** । इसीलिए कहा जाता है कि 'आनासागर' शब्दकी शक्ति-वृत्ति (साक्षात् सम्बन्ध) तो जलमे है, और लक्षणा-वृत्ति ( परम्परा सम्बन्ध ) किनारेमे है ।

**शंका :—** भगवन् ! यह लक्षणा-वृत्ति कितने प्रकारकी होती है ?

**उत्तर :—** (१) जहती (२) अजहती (३) जहती-अजहती अथवा भाग-त्याग । इस प्रकारसे तीन लक्षणा-वृत्तियाँ मानी जाती है ।

(१) **जहती लक्षणा :—** जिस पदमे सम्पूर्ण वाच्य-अर्थ का (शक्य-अर्थका) त्याग करके केवल शक्य-अर्थके सम्बन्धी का ही ग्रहण हो, उस पदमे जहती लक्षणा मानी जाती है । इसको समझानेके लिए पहिले आनासागरपर स्थित बारहदरीका उदाहरण दे दिया है, क्योकि वहाँ आनासागर शब्दके शक्य-अर्थ जलको छोडकर केवल उसके सम्बन्धी किनारेका ही ग्रहण किया जाता है । इसलिये 'आनासागर' शब्दकी किनारेमे **जहती लक्षणा** मानी जाती है ।

(२) **अजहती लक्षणा :—** जिस पदमे शक्य-अर्थको न छोडकर उसके साथ सम्बन्धीका भी ग्रहण किया जाय, वहाँ **अजहती लक्षणा** मानी जाती है । जैसे कोई व्यक्ति घोडोकी दौड देख रहा था, उसमे एक लाल घोडा सब घोडोंसे जब आगे दौडने लगा तब वह कहने लगा कि "देखो ! लाल सबसे तेज़ जा रहा है ।" इस वाक्यमे लाल शब्दके शक्य-अर्थ लाल रंगको न छोडकर उसके सम्बन्धी घोडेका भी ग्रहण किया जाता है । इसलिए लाल शब्दकी

घोड़ेमे अजहती **लक्षणा-वृत्ति** मानी जाती है ।

(३) **भाग-त्याग-लक्षणा :—** जिस वाक्यमें शब्दोंके वाच्य-अर्थके एक भागको छोडा जाय और एक भागका ग्रहण किया जाय, वहाँ **भाग-त्याग-लक्षणा** मानी जाती है। जैसें किसीने महात्मा गाँधीजीको देखकर अपने मित्रसे कहा कि "ये वे ही महात्मा गाँधीजी हैं, जिनको मैंने अफ्रीकामें देखा था।" तब मित्रने कहा कि "वह अफ्रीका देश था और यह भारत देश है, वहाँ आपने सूट-कोट इत्यादि पाश्चात्य वेष धारण किये हुए तथा वकालात करते हुए देखा था और यहाँ साधारण खद्दरकी धोती पहिने हुए भाषण देते हुए देख रहे हो। इतना अन्तर होनेके बाद भी ये वे ही महात्माजी कैसे बन सकते है ?" तब उन्होंने कहा कि "भाई ! मैं तो बोलते समय भाग-त्याग-लक्षणा-वृत्तिको ध्यान मे रखता हुआ ही बोल रहा था अर्थात् मेरे शब्दोमे जो शक्य-अर्थका विरोधी भाग था, जैसे अफ्रीका और भारत, पाश्चात्य वेष और भारतीय वेष, इनपरसे **दृष्टि** हटाता हुआ केवल महात्मा गाँधीजी ( जो दोनो शब्दोमे समान था ) को ही ध्यानमे लाकर बोल रहा था ।" इसी प्रकार जिस वाक्यमे विरोधी वाच्य-अर्थको छोड़कर केवल अविरोधी वाच्य-अर्थको ही लिया जाता है वहाँ **भाग-त्याग-लक्षणा** मानी जाती है ।

**शंका :—** भगवन् ! इस लक्षणा-वृत्तिको समझानेका प्रयोजन (फल) क्या है ?

**उत्तर :—** हे शिष्य ! लक्षणा-वृत्ति तो मैंने तुम्हे इसलिए

समझाई है कि तुम चारो वेदोंके चारो महा-वाक्योंका भाग-त्याग-लक्षणा-द्वारा सशोधन ( छान-बीन ) करके सही अर्थ समझ सको ।

**शंका** — प्रभो ! कृपा करके चारो वेदोंके चारो महा-वाक्य सुनाइये ।

**उत्तर** :— (१) साम-वेदकी छाँदोग्य उपनिषद्‌का महा-वाक्य **"तत्त्वमसि"** है ।

(२) अथर्व-वेदकी माण्डूक्य उपनिषद्‌का महा-वाक्य **"अयम् आत्मा ब्रह्म"** है ।

(३) यजुर्वेदकी बृहदारण्यक उपनिषद्‌का महा-वाक्य **"अहं ब्रह्मास्मि"** है । और

(४) ऋग्वेदकी ऐतरेय उपनिषद्‌का महावाक्य **"प्रज्ञान ब्रह्म"** है ।

हे शिष्य ! इन चारो महावाक्योंके अन्दर भाग-त्याग-लक्षणा करनेके लिए, पहिले इनके अन्दर जो जीव-वाचक और ईश्वर-वाचक शब्द हैं, उनके वाच्य-अर्थ और लक्ष्य-अर्थको जानना पड़ेगा ।

**शंका** —स्वामीजी ! इन चारो महावाक्योंमे ईश्वर-वाचक शब्द और जीव-वाचक शब्द कौनसे है ?

**उत्तर** :— "तत् त्वम् असि" महावाक्यमे 'तत्' शब्द और बाकी तीन महावाक्योंमे 'ब्रह्म' शब्द ईश्वरका वाचक है । जीवके वाचक शब्द चारो वाक्योंमे अलग अलग है, जैसे त्वम्, प्रज्ञानम्, अहम् और आत्मा ।

**शंका** :— भगवन् ! जीव और ईश्वरका वाच्य-अर्थ और

लक्ष्य-अर्थ भी कृपा करके बतलाइये।

**उत्तर**.—हे शिष्य ! वैसे तो जीव और ईश्वरके वाच्य स्वरूपका वर्णन करनेवाले और भी कई वाद हैं, किन्तु मैं तुम्हे प्रधान तीन वाद सुनाता हूँ।

( १ ) अवच्छेद-वाद ( २ ) प्रतिबिंब-वाद ( ३ ) आभास-वाद।

(१) **अवच्छेद-वाद** :—अवच्छेद-वादके अनुसार शुद्ध-सत्त्वगुण-सहित-मायासे विशिष्ट ( मिला हुआ ) चेतन, **ईश्वरका वाच्य-स्वरूप ( शक्य-अर्थ ) कहलाता है**; और मलिन-सत्त्वगुण-सहित जो अन्तःकरणका उपादान-कारण अविद्याका अंश, उससे विशिष्ट चेतन, **जीवका वाच्य स्वरूप (शक्य-अर्थ) कहलाता है।**

(२) **प्रतिबिम्ब-वाद** :—प्रतिबिंब-वादके अनुसार, अज्ञान में जो चेतनका प्रतिबिंब पडता है वह **जीवका वाच्य-स्वरूप है**; और जिस चेतनका अज्ञानमे प्रतिबिंब पडता है वह बिंबरूप चेतन **ईश्वरका वाच्य स्वरूप है।**

**शंका** :—भगवन् ! हम देखते हैं कि जैसा बिंब होता है वैसा ही प्रतिबिंब पड़ा करता है। जैसे दर्पणमे जैसा हमारा मुख होता है, वैसा ही प्रतिबिंब पड़ता है; इसी प्रकार अज्ञानरूपी दर्पणमें यदि जीव, ईश्वरका प्रतिबिंब है तो फिर ईश्वरमें सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता इत्यादि धर्म और जीवमें अल्पज्ञता अल्पशक्तिमत्ता इत्यादि धर्म क्यो देखे जाते हैं।

**उत्तर** :—हे शिष्य ! यह तुम्हारा कहना सही है, किन्तु

कभी कभी यदि दर्पणरूप उपाधिमे हरापन, पीलापन, टेढापन, छोटापन इत्यादि दोष होते है तो वे दोष प्रतिबिंबमे भी दीखा करते है, इसी प्रकार यहाँ दर्पणकी जगह जो अज्ञान है उसीमे ही ये अल्पज्ञता इत्यादि दोष है जो तुम्हे भ्रांति से प्रतिबिम्बरूप जीवमे दीखते हैं, तथा जैसे दर्पणके दोष वास्तवमे बिम्बरूप मुखमे नही होते, इसी प्रकार अज्ञानके दोष भी वास्तवमे बिम्बरूप ईश्वरमे नही है।

(३) **आभास-वाद**.—आभास-वादके अनुसार (१) शुद्ध-सत्त्व-गुण-सहित-माया (२) उसका अधिष्ठान सामान्य-चेतन (३) उस चेतनका आया हुआ मायामे आभास (अक्स) ये तीनो मिलकर **ईश्वरका वाच्य स्वरूप कहलाता** है। और (१) अन्त करणका उपादान-कारणरूप मलिन-सत्त्वगुण-सहित-अविद्याका अश (२) उसका अधिष्ठान सामान्य-चेतन (३) उस सामान्य-चेतनका आया हुआ अविद्यामे आभास, ये तीनो मिलकर **जीवका वाच्य स्वरूप कहलाता है**।

ईश्वरकी उपाधि मायामे शुद्ध सत्त्वगुण होनेसे ईश्वरमे सर्व-शक्तिमत्ता, सर्वज्ञतादि धर्म हैं और जीवकी उपाधि अविद्यामे मलिन सत्त्वगुण होनेसे अर्थात् रजोगुण तमोगुणके बढ जानेसे, जीवमे अल्प-शक्तिमत्ता व अल्पज्ञतादि धर्म हैं।

**शंका**:— भगवन्! लोकमे तो आभास और प्रतिबिम्ब इन दोनो शब्दोका अर्थ एक [अक्स] ही माना जाता है, फिर विवरण आदि ग्रन्थोमे प्रतिबिम्ब-वाद और पचदशी आदि ग्रन्थोमे आभास-वाद ये अलग-अलग दो वाद क्यो माने जाते हैं?

**उत्तर :—** आभास-वाद और प्रतिबिम्ब-वादमे भेद होने के कारण ही दोनोंको भिन्न (अलग) माना जाता है ; क्योकि आभास-वादवाले कहते हैं कि जैसे दर्पणमे जो मुख का आभास (अक्स) पडता है, वह गर्दनवाले मुखकी छाया होनेके कारण मिथ्या है, अर्थात् जो दर्पणमे मुख दीखता है वह कल्पित (अनिर्वचनीय) उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अज्ञानमे जो चेतनका आभास (अक्स) पड़ता है वह चेतनकी छाया होनेके कारण मिथ्या है, अर्थात् कल्पित (अनिर्वचनीय) ही उत्पन्न होता है।

किन्तु प्रतिबिम्ब-वादवाले कहते है कि दर्पणमे जो मुख का प्रतिबिम्ब पडता है, वह मुखकी छाया नही हो सकती। यदि छाया होती तो मिथ्या कहते ; क्योंकि छायाका यह स्वभाव है कि जिस दिशामे छायावाले पुरुषके मुख और पीठ होते है तो छायाका मुख और पीठ भी उसी दिशा मे ही हुआ करते हैं ; किन्तु दर्पणमे जो मनुष्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है उस प्रतिबिम्बके मुख और पीठ बिम्बरूप मनुष्य के मुख और पीठसे बिल्कुल उल्टे होते है। जैसे यदि बिम्बरूप मनुष्यका मुख उत्तर दिशाकी तरफ है तो दर्पण वाले प्रतिबिम्वका मुख दक्षिण दिशाकी तरफ ही दिखाई देता है और यदि बिम्बरूप मनुष्यके दाये हाथका इशारा पूर्वकी तरफ होता है तो प्रतिबिम्वरूप मनुष्यके बाएँ हाथ का इशारा पश्चिमकी तरफ होता है।

इससे सिद्ध होता है कि दर्पणमे हमे जो प्रतिविम्ब दीखता है वह विम्बकी छाया नही किन्तु विम्बका विपरीत

(उलटा) दर्शन ही है, क्योकि यह नियम है कि जब अन्त करणकी वृत्ति आँखके द्वारा वाहर निकलती है, उस समय यदि सामने दर्पण जैसा कोई स्वच्छ पदार्थ होता है तो वह वृत्ति उससे (दर्पणसे) टकराकर उसी समय वापिस लौटकर गर्दनवाले मुखको ही विषय करती है अर्थात् जनवाती है। अत. यह जो हमे एक ही मुख, विम्बरूप और प्रतिविम्बरूपसे दीखता है वह केवल दर्पणरूप उपाधिके सम्बन्धसे ही। यदि विचार दृष्टिसे देखे तो विम्ब-प्रतिवम्ब-भाव वास्तवमे है ही नही। इसी प्रकार अज्ञानरूप उपाधिके सम्बन्वसे ही उसी असग शुद्ध चेतनमे विंवभावकी जगह ईश्वरपन और प्रतिविम्बभाव की जगह जीवपन प्रतीत होता है किन्तु विचार-दृष्टिसे यदि देखे तो ईश्वर-भाव और जीव-भाव वास्तवमे है ही नही अर्थात् जैसे दर्पणकी उपाधिको हटानेसे मुखका विम्वपन और प्रतिविम्वपन नष्ट हो जाते हैं, अतः मिथ्या है। इसी प्रकार अज्ञानकी उपाधिको हटानेसे चेतनके ईश्वरपन और जीवपन भी नष्ट हो जाते है, अत. मिथ्या ही है। अर्थात् दर्पणरूप अज्ञान (माया) की उपाधिके कारण ही उस शुद्ध चेतनमे ईश्वरपन, जीवपन, सर्वज्ञपन व अल्पज्ञपन इत्यादि विरुद्ध धर्म प्रतीत होते हैं अत वे मिथ्या है। वास्तवमे उस शुद्ध चेतनमे ईश्वरपन, जीवपन, सर्वज्ञपन, अल्पज्ञपन इत्यादि कोई धर्म नही है किन्तु स्वरूपकी दृष्टिसे तो विम्ब और प्रतिविम्ब सत्य हैं, क्योकि दृष्टान्तमे प्रतिविम्बका असली स्वरूप जो विम्वरूप मुख है, वह दर्पणके हटानेपर भी रह जाता है, इसलिए सत्य है और सिद्धान्तमे प्रतिविम्बका असली

स्वरूप बिम्बरूप जो चेतन है, वह अज्ञानके हटनेपर भी रह जाता है इसलिए **सत्य** है।

**शंका** :— भगवन् ! आपके कथनानुसार यह ज्ञात होता है कि प्रतिबिम्ब-वादके मतमे प्रतिबिम्ब, बिंबसे भिन्न नहीं है। यदि ऐसा है तो फिर जीवमे (जो अज्ञानमें ईश्वरका प्रतिबिंब है उसमे) ईश्वरसे अलगपन और ईश्वरके धर्मोंसे विपरीत अल्पज्ञतादि धर्म क्यो दीखते हैं ?

**उत्तर** :— हे शिष्य ! ये अल्पज्ञता इत्यादि धर्म तुम्हे अज्ञान की उपाधिसे ही दीखते हैं। जैसे जो दर्पणमे मुख दिखाई देता है वह यद्यपि गर्दनवाले मुखसे अलग नही है, किन्तु जो उसमे गर्दनवाले मुखसे अलगपन, उल्टापन और दर्पणमें स्थितपन इत्यादि धर्म प्रतीत होते हैं वे दर्पणकी उपाधिसे ही प्रतीत होते हैं, वास्तवमें नही हैं; ठीक इसी प्रकार जो अज्ञानमे जीवरूपसे प्रतिबिंब प्रतीत हो रहा है वह यद्यपि बिंबरूप ईश्वरसे भिन्न नही है, किन्तु जो उसमें ईश्वरसे अलगपन उल्टापन (जैसे ईश्वर है सर्वज्ञ तो जीव प्रतीत होता है अल्पज्ञ इत्यादि धर्मोंका उल्टापन) और अज्ञानमें स्थितपन इत्यादि धर्म प्रतीत होते हैं, वे सब अज्ञानकी उपाधि से ही प्रतीत होते हैं, वास्तवमे नही हैं अर्थात् वास्तवमे जीव ईश्वरसे भिन्न नही है, इसलिए जीव स्वरूपसे सत्य है, मिथ्या नही। इस प्रकार प्रतिबिंब-वादमे प्रतिबिंबको स्वरूपसे सत्य होनेके कारण सत्य कहते हैं और आभास-वादमें आभासका स्वरूप छाया होनेके कारण आभासको *मिथ्या* कहते हैं। यह आभास-वाद और प्रतिबिंब-वादमें **भेद** है।

शङ्का ‚— स्वामीजी ! इन वादोमेसे मैं किसको सही मानूं ?

उत्तर —हे शिष्य ! वाद कहते हैं कथनको अर्थात् समझानेके तरीकेको । सो ये सभी वाद (कार्य-कारण-उपाधि-वाद, अवच्छिन्न-अनवच्छिन्न-वाद, दृष्टि-सृष्टि-वाद, अवच्छेद-वाद, प्रतिबिंब-वाद, आभास-वाद इत्यादि सभी वाद) आत्मा के अद्वैतपनेको, सत्यपनेको, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तपनेको ही समझाते हैं । अत जिस वादसे जिज्ञासुको आत्माका बोध हो जाय, वही उसके लिए ठीक है । किन्तु 'वाक्य-वृत्ति' और 'उपदेश-सहस्री' मे भाष्यकार श्रीस्वामी शकराचार्य-जीने आभास-वाद ही लिखा है, इसलिए तथा सरल होने के नाते भी आभास-वाद मुख्य माना जाता है ।

इस प्रकार तुमने पहिले कहे तीन वादोके अनुसार जीव (त्व पद) और ईश्वर (तत् पद) का वाच्य-अर्थ समझा । अब इन दोनोके सारे वाच्य-अर्थकी यदि आपसमे एकता करे तो बन नही सकती, क्योकि ईश्वर ( तत् पद ) का जो वाच्य-अर्थ है वह जीवकी तरह प्रत्यक्ष नही, किन्तु परोक्ष है और सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सबका प्रेरक, स्वतन्त्र, मायाका स्वामी और बन्धन तथा मोक्षसे रहित है ।

तथा जीव ( त्व पद ) का जो वाच्य-अर्थ है, वह अल्पशक्तिमान्, अल्पज्ञ, परिच्छिन्न ( सीमित=हदमे आया हुआ ) अनीश ( जो प्रेरणा नही कर सकता ) परतन्त्र (कर्म के आधीन) अविद्यासे मोहित, बन्ध मोक्षवाला और अपरोक्ष

(प्रत्यक्ष दीखनेवाला; क्योकि सब अपने आपको प्रत्यक्ष जानते ही हैं) है ।

**शंका :—** स्वामीजी ! ये जो आपने जीव और ईश्वरके वाच्य-अर्थ सुनाए इनमे तो सचमुच बहुत विरोध दीखता है, फिर चारो वेदोके महावाक्योमे जीव ईश्वरकी एकता कैसे बताई गई है ?

**उत्तर :—** हे शिष्य ! जब किन्ही दो शब्दोके अर्थोंकी आपसमे एकता करनी होती है और वह एकता यदि वाच्य-अर्थसे नही हो सकती तो फिर भाग-त्याग-लक्षणा द्वारा वाच्य-अर्थके विरोधी भागको छोड़कर अविरोधी भाग को ही लिया जाता है । और वह दोनों शब्दोका अविरोधी भाग ही **लक्ष्य-अर्थ** कहलाता है ।

जब महावाक्योके जीव व ईश्वर-वाचक शब्दोकी एकता यदि वाच्य-अर्थसे नही बनती तब भाग-त्याग-लक्षणा-द्वारा वाच्य-अर्थके जो विरोधी भाग है, उनको निकाल देनेसे जैसे अविद्या और अविद्या-कृत अल्पशक्तिमत्ता अल्पज्ञतादिक धर्मों को जीवके वाच्य-अर्थमेसे, और माया व माया-कृत सर्व-शक्तिमत्ता सर्वज्ञतादि धर्मोको ईश्वरके वाच्य-अर्थमेसे निकाल लेनेपर अर्थात् बुद्धिसे अलग समझलेनेपर (मिथ्या समझने पर) जो शेप शुद्ध चेतन भाग रह जाता है, जो जीव और ईश्वर इन दोनो शब्दोका लक्ष्य-अर्थ है उनकी ही आपसमें एकता हो सकती है ।

इसलिए चारो वेदोके महावाक्योमे जो जीव और ईश्वरकी एकता वताई गई है वह लक्ष्य-अर्थकी ( जीव-साक्षी

और ईश्वर-साक्षी जो कि शुद्ध चेतन है उसकी) दृष्टिसे ही बताई गई है, न कि वाच्य-अर्थकी दृष्टिसे।

**शंका** — भगवन् ! अब आपकी कृपासे मुझे अच्छी तरहसे समझमे आगया कि जीवका जो असली स्वरूप शुद्ध चेतन है वह ईश्वरके असली स्वरूप शुद्ध चेतनसे भिन्न नही। किन्तु प्रभो ! जिस प्रकार मुझे अपना स्वरूप प्रत्यक्ष दीखता है उस प्रकार मुझे ईश्वरके असली स्वरूपका प्रत्यक्ष अनुभव क्यो नही होता और जैसे ईश्वरका असली स्वरूप व्यापक है, उस प्रकार मुझे अपना असली स्वरूप भी व्यापक नज़र क्यो नही आता ?

**उत्तर** :— हे शिष्य ! यह अनुभव तुम्हे इसलिए नही हो रहा है कि तुमने तो केवल अब तक सुना ही है, जब इसका तुम मनन व निदिध्यासन करोगे तब तुम्हे अपने व्यापकपनेका अनुभव और ब्रह्मके प्रत्यक्षपनेका अनुभव होने लग जायगा। और मनन करनेकी विधि यानी ओत-प्रोत-भाव अर्थात् अन्वय और व्यतिहारकी विधि मैं तुम्हे बतलाता हूँ।

ओतप्रोत कहते है एक दूसरेको आपसमे मिलाना अर्थात् अपनेको ब्रह्मका स्वरूप समझना और ब्रह्मको अपना स्वरूप समझना। जब तुम विचारोगे कि "मैं ब्रह्म (व्यापक) हूँ अर्थात् सब जगह अस्ति भाति व प्रियरूपसे मैं ( शुद्ध चेतन साक्षी ) मौजूद हूँ।" इस प्रकार चिन्तन करनेसे तुम्हे जो अपनेमे परिच्छिन्नपनेकी (महदूदपनेकी) भ्रान्ति हो रही है वह नष्ट हो जायगी। और जब यह विचार करोगे

कि "जो सर्वत्र व्यापक शुद्ध चेतन ब्रह्म है वही मैं हूँ, जो यहाँ शरीरकी उपाधिसे साक्षी कहलाता हू" तो इस प्रकार चिन्तन करनेसे तुम्हे जो ब्रह्मके परोक्षपनेकी भ्रान्ति हो रही है वह नष्ट हो जायगी।

इसी ओत-प्रोत-भावको महावाक्यके शब्दोमे इस प्रकार कहा जाता है। **मै ब्रह्म हूँ** — "अह ब्रह्म।" "प्रज्ञान ब्रह्म।" "आत्मा ब्रह्म।" और "त्व तत्।" **ब्रह्म मै हूं** — "ब्रह्म अहम्।" "ब्रह्म प्रज्ञानम्।" "ब्रह्म आत्मा।" और "तत् त्वम्।"

हे शिष्य! जब इस प्रकार सपनेमे अगृधदेवको गुरुने उपदेश दिया तब वह अगृधदेव सपनेवाले उस गुरुजीको कहने लगा कि "भगवन्! आपने मेरे ऊपर अत्यन्त कृपा करके मेरे असली स्वरूपका मुझे बोध कराया है तथा महावाक्य-द्वारा मेरे असली स्वरूपकी ( आत्माकी ) और ब्रह्मकी एकता भी समझाई किन्तु फिर भी मैं अपने आपको अब तक इन वनके दु.खोसे मुक्त नही समझ रहा हू। वेद कहता है कि **"तरति शोकम् आत्मवित्"** अर्थात् आत्मज्ञानी ही शोकके पार हो जाता है। किन्तु मुझे अब तक हर्ष शोक हो रहे हैं, इसलिए मै समझता हूँ कि मुझे अब तक पूरा दृढ अपरोक्ष ब्रह्म-ज्ञान नही हुआ है। इसलिए कृपा करके और भी कोई साधन हो तो बताइये।

तब गुरुजी कहने लगे कि "हे शिष्य! आत्म-ज्ञानका साधन तो महावाक्यका श्रवण है। वे महावाक्य तुमने सुन लिये हैं। इससे और दूसरा कोई आत्म-ज्ञानका साधन नही

है। इसलिए जो मैंने तुम्हे अभी महावाक्यके जीव और ईश्वरके वाचक शब्दोका भाग-त्याग-लक्षणा-वृत्ति-द्वारा सशोधन करके अर्थात् विरोधी भागको हटाकर अविरोधी शुद्ध-चेतन-भागकी एकता समझाई है, उस एकताका वार वार ओत-प्रोत-भावसे चिन्तन करते रहो। यह चिन्तन करते करते तुम्हे अपने आप अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष अनुभव हो जायगा। जैसे पुष्कर पहुचनेकी इच्छावाला जव पुष्करके रास्तेपर चलने लग जाता है तो चलते चलते पुष्कर अपने आप ही पहुच जाता है। कोई चिन्ता करनेकी आवश्यकता नही। हाँ धैर्य तो अवश्य चाहिए ही।

इसलिये अव तू महावाक्यके अर्थको ध्यानमे रखते हुए "मैं अगृव (इच्छा-रहित आत्मा अर्थात् शुद्ध 'चेतन) हूँ" "मैं अगृध हूँ" इस प्रकार कहते रहो और इस प्रकार वार वार कहते कहते अपने असली स्वरूपमे तल्लीन हो जाओ।

हे शिष्य ! अगृवदेव यह सुनकर वडी श्रद्धा और उत्साह से अपने स्वरूपके चिन्तनका अभ्यास करने लगा। यो अभ्यास करते करते ज्यो ही उसको अपने स्वरूपका दृढ अपरोक्ष ज्ञान हुआ उसी समय उसका सपना टूट पडा। और सपनेवाले वनके सभी दु खोसे मुक्त हो गया। मुक्त तो वह पहिले ही था किन्तु नीदके दोपसे जो उन दु खोको सच्चा समझकर अपनेमे मान रहा था, वह मानना अर्थात् वह भ्रान्ति टूट गई। और इस प्रकार भ्रान्तिके टूटनेको ही मोक्ष कहते है।

तो हे शिष्य ! जिस प्रकार अगृवदेववाले मिथ्या वन की निवृत्ति मिथ्या गुरुके उपदेशसे हो गई, ठीक इसी प्रकार

इस मिथ्या ससारकी निवृत्ति भी मिथ्या वेद और गुरुके उपदेशसे ही हो जायगी।

इस प्रकारका उपदेश सुनकर अर्थात् महावाक्यके लक्ष्य अर्थको समझकर उसका मनन व निदिध्यासन करनेसे तर्कदृष्टि नामक छोटे भाई कनिष्ठ अधिकारीको आत्मज्ञान हो गया अर्थात् अपने स्वरूपको ब्रह्मरूपसे जान लिया।

इति श्रीविचारसागरदर्पणे गुरुवेदादिसाधनमिथ्या-
वर्णनं नाम षष्ठस्तरंग समाप्त ॥ ६ ॥



## * सप्तमस्तरंगः *

## अथ जीवन्मुक्ति-विदेहमुक्ति-वर्णनम्

इस प्रकार गुरुने तीनो राजकुमारोको साथ ही उपदेश किया, तो भी साक्षात्कार केवल उत्तमाधिकारी तत्त्वदृष्टिको ही हुआ। साक्षात्कार होनेके वाद जैसे सूका पीपलका पत्ता वायुके आधीन अर्थात् जैसी वायु लगे उसके अनुसार भ्रमण करता रहता है वैसे वह (तत्त्वदृष्टि) प्रारब्ध-कर्मानुसार व्यवहार करता हुआ भ्रमण करने लगा।

क्योकि ज्ञानीके सञ्चित कर्म (पहिले जन्मोंमे किये हुए फलारम्भ-रहित कर्म अर्थात् जिनका फल अब तक नही मिला है वे कर्म) तो ज्ञानरूप अग्निसे जलकर नष्ट हो जाते हैं। भगवान्ने भी गीताके (४) अध्यायके ३७वे श्लोकमे कहा है कि **"ज्ञानाग्नि सर्व-कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा"** अर्थात् ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मोको भस्मकर देती है। और आगामी कर्म (ज्ञानके वाद होनेवाले कर्म)

ज्ञानीको आत्मामे कर्तृत्व-भ्रान्ति न होनेसे निर्बीज होनेके कारण फल नही देते। किन्तु प्रारब्ध-कर्म (पहिले जन्मोमे किये हुए वर्तमान शरीरके कारणरूप कर्म अर्थात् जिनका फल इस वर्तमान शरीरमे मिल रहा है वे कर्म) तो छूटे हुए तीर की तरह अपना भोग पूरा करके ही शान्त होते हैं, इसलिए ज्ञानवान्को प्रारब्ध-कर्मोका फल तो भोगना ही पडता है।

'अपरोक्षानुभूति' व 'विवेकचूडामणि' आदि ग्रन्थोमे आया है कि "सचित और आगामी कर्मोकी तरह प्रारब्धकर्म भी ज्ञानीके नही रहते" उसका अभिप्राय यह है कि, **ज्ञानीकी दृष्टिसे, कर्म और उसके फलका सम्बन्ध आत्मामें नहीं है;** किन्तु ज्ञानवान्के शरीरको तो प्रारब्ध-कर्मोका फल अवश्य भोगना पडता ही है।

अब यहाँ एक प्रश्न उठता है कि :— कर्म नाना प्रकारके होते हैं। कुछ कर्म ऐसे हैं कि जिनका भोग बहुत जन्मोतक भी चलता है। अब मानलो किसी मनुष्यका ऐसा प्रारब्ध-कर्म फल दे रहा है कि जो आगे तीन जन्मोंमे जाकर समाप्त होगा और उस व्यक्तिने वेदान्तके श्रवण-मनन-आदि साधनो-द्वारा आत्म-ज्ञान इसी जन्ममे ही प्राप्त कर लिया है। अब उसे तीन जन्म आगे लेने पडेंगे अथवा उसके शेष प्रारब्ध कर्म नष्ट हो जायेंगे।

इसका समाधान यह है कि :— वेद कहता है कि "**न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते**" ( अथर्ववेद० श्रीनृसिहोत्तर तापनी उपनिषद् ) अर्थात्—"[देहान्त होनेपर] उस ज्ञानीके प्राण [अन्यलोकमे वा इस लोकके अन्यशरीरमे]

गमन नही करते [किन्तु] यही [अन्त करण व इन्द्रिय-सहित] लीन हो जाते है।" और प्राण-गमनके बिना अन्य शरीरकी प्राप्ति हो नही सकती, इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानवान्‌के दूसरे जन्म तो होते ही नही है। और यह भी नियम है कि प्रारब्ध, बिना फल दिए हुए नष्ट होता नही, इसलिए यह मानना पडेगा कि जिसका अनेक शरीरोका आरम्भ करनेवाला प्रारब्ध, जो कि ज्ञानका प्रतिबन्धक है–[जैसे (१) विषयोमे आसक्ति (२) बुद्धिकी मन्दता (३) भेदवादियोके वचनोमे विश्वास, ये तीनो ज्ञानके प्रतिबन्धक (रुकावट डालनेवाले) हैं, उसी प्रकार जन्मांतरका हेतु **प्रारब्ध-शेष** भी ज्ञानका प्रतिबन्धक है] शेष रहता है, उसको तो वेदान्तका श्रवण आदि करनेसे भी ज्ञान नही होता, और **जब वह प्रतिबन्धक प्रारब्ध समाप्त हो जाता है तब पहिले जन्मोमें किये हुए श्रवणादिको से उसे अन्तिम जन्ममें ज्ञान हो जाता है।** जैसे वामदेवके एक जन्म दिलानेवाले प्रारब्धके शेष रहनेपर, वेदान्तके श्रवणादि करनेपर भी उसे ज्ञान नही हुआ और दूसरे जन्ममे उसे गर्भमे ही ज्ञान हो गया। तथा जैसे जडभरत राजाको ज्ञानकी साधन-सामग्री होते हुए भी तीसरे जन्ममे जाकर पूर्वजन्मोमे किये हुए श्रवणादिक-साधनोसे ज्ञान हुआ था।

कुछ लोग ऐसा कहते है कि — ज्ञानीके व्यवहारमे और किसी कर्मका तो नियम नही, परन्तु निवृत्तिका तो नियम है ही। यदि प्रवृत्ति हो तो केवल शरीर स्थितिके लिये भिक्षा-भोजन व कौपीन-आच्छादन (लगोटी-धारण) मात्रमें ही होनी चाहिये, क्योकि ज्ञानकी उत्पत्तिमे पहिले जिज्ञासु अवस्थामे

विषयोमें दोष-दृष्टिसे **वैराग्य** होता है। वह वैराग्य ज्ञानकी उत्पत्तिके बाद भी विषयोमे दोष-दृष्टि व मिथ्यात्व-बुद्धिसे कायम रहता है। अतः संसारमे सुख-बुद्धि व सत्यत्व-बुद्धिके न होनेसे, रागके न होनेके कारण, ज्ञानीकी साँसारिक व्यवहारोमे प्रवृत्ति नही हो सकती। शरीर-निर्वाहके लिए भोजनादिकमें प्रवृत्ति तो रागके बिना, प्रारब्ध कर्मसे ही हो जाती है। और चंचल मनको कही न कही लगानेके लिए भी ज्ञानीको किसी प्रवृत्तिकी आवश्यकता नही है, क्योंकि ज्ञानी समाधिमे स्थित हुआ करता है और समाधिसे मन वशमे हो जाता है। अतः सदा **आत्म-स्वरूपमें स्थित रहनेके कारण** ज्ञानीकी साँसारिक व्यवहारोमें प्रवृत्ति नही हो सकती।

जिस समाधिसे मनपर विजय प्राप्त होता है वह समाधि इन आठ अगोसे होती है :— (१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान और (८) सविकल्प-समाधि।

**यम** :— यम पाँच होते है। जैसे :— (१) अहिंसा अर्थात् किसीको मन, वाणी व शरीरसे दुःखी न करना (२) सत्य (३) अस्तेय अर्थात् चोरी न करना (४) ब्रह्मचर्य* और

---

*स्मरण कीर्तन केलिः-प्रेक्षण गुह्यभाषणम्।
सकल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया-निष्पत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्ठागं प्रवदन्ति मनीषिण।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥

अर्थात्—(१) स्त्रीका चिन्तन व स्मरण (याद) करना *

(५) अपरिग्रह अर्थात् अनावश्यक सग्रह न करना ।

**नियम** — नियम पाँच होते है । जैसे — (१) शौच अर्थात् शरीर व मनको स्वच्छ रखना (२) सतोष (३) तप (४) स्वाध्याय अर्थात् वेदादि शास्त्रोका पठन व मनन करना । (५) ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् ईश्वरकी तरफ मनको लगाना ।

**आसन** — आसन कई प्रकारके होते है । उनमेसे (८४) चौरासी आसन योगग्रन्थमे लिखे हैं । उसमेसे भी (१) सिंह (२) भद्र (३) पद्म (४) सिद्ध ये चार आसन प्रधान है । उन चारोमे भी **सिद्ध आसन** अधिक प्रधान है, क्योकि कुछ आसन तो रोग नष्ट करनेके लिये किये जाते है और कुछ आसन प्राणायामादिक समाधिके अगोमे सहायक पडते है किन्तु सिद्ध आसन समाधिके समय लगाया जाता है, इसलिए अतिप्रधान है । इसीको **वज्रासन, मुक्तासन व गुप्तासन** भी कहते है ।

**प्राणायाम** — प्राणायाम अनेक प्रकारके होते हैं । जब प्राणको नाकसे अन्दर लिया जाता है तो उसे पूरक कहते है

●(२) शृङ्गारपूर्ण गायनादिको-द्वारा स्त्रीके रूपादिकोका वर्णन करना (३) स्त्रियोंके साथ खेल खेलना (४) किसीकी ओर पाप-दृष्टि वा चोर दृष्टिसे देखना (५) स्त्रियोंसे एकान्तमे व वैषयिक वार्तालाप करना (६) काम-इच्छाको उत्पन्न करनेवाली कल्पनाओंमे निमग्न रहना (७) किसी अप्राप्य स्त्री आदिकी प्राप्तिके लिये व्यर्थ पाप-पूर्ण प्रयत्न करना और (८) प्रत्यक्ष सभोग, ये अष्ट (आठ) मैथुन कहलाते हैं । इन लक्षणोंके बिलकुल विरुद्ध लक्षण **अखण्ड ब्रह्मचर्यके** होते हैं । यहाँ ब्रह्मचर्य शब्दसे, अखण्ड ब्रह्मचर्य व गृहस्थमे ब्रह्मचर्य इन दोनो अर्थोंका ग्रहण है ।

और बाहर निकालनेको **रेचक** तथा अन्दर वा बाहर रोकनेको **कुम्भक** कहते है। [ध्यान रहे– रेचकमे पूरकसे अन्दाजन दुगुना समय लगना चाहिये। और कुम्भक उतना करना चाहिये कि जो पूरक व रेचकमे शीघ्रता व असुविधा न हो। गुरुद्वारा विधि सीखकर ही प्राणायाम करना हितकर होगा।]

इस प्रकार पूरक, रेचक व कुम्भक-द्वारा प्राणोको लम्बा करने व नियममे चलानेको **प्राणायाम** कहा जाता है। वह प्राणायाम प्रधानतया दो प्रकारका होता है। (१) अगर्भ (२) सगर्भ।

(१) प्रणव ( ओम् ) के उच्चारण-रहित प्राणायाम **अगर्भ** कहलाता है। (२) प्रणवके उच्चारण-सहित प्राणायाम **सगर्भ** कहलाता है।

**प्रत्याहार**:— विषयोसे सभी इन्द्रियोके निरोध (रोकने) को **प्रत्याहार** कहते हैं।

**धारणा**:— अतराय-सहित अन्तःकरणकी स्थिति धारणा कहलाती है अर्थात् अपने इष्टमे अन्तःकरणकी वृत्तिके बार बार लगानेको **धारणा** कहते हैं। [इष्ट अर्थात् जिसका ध्यान किया जाय, वह यहाँ है अद्वितीय आत्मा (शुद्ध चेतन)।]

**ध्यान**:— अतराय-रहित अद्वितीय वस्तुमे अन्तःकरणका प्रवाह ध्यान कहलाता है अर्थात् उस इष्ट (अद्वितीय ब्रह्म) मे अन्तःकरणके अखण्ड प्रवाहको (वृत्तिके न टूटनेको) **ध्यान** कहते हैं।

**समाधि**:— व्युत्थान-सस्कारोका तिरस्कार और निरोध-सस्कारोकी प्रगटता होनेपर जो अन्तःकरणका एकाग्रतारूप

परिणाम होता है उसे समाधि कहा जाता है। [नाम-रूपात्मक अनात्माकार वृत्तियोंके आरम्भक संस्कार व्युत्थान-संस्कार कहलाते हैं। और निरोध-अवस्थाके आरम्भक संस्कारों व व्युत्थान-संस्कारोंको रोकनेवाले संस्कारोंको निरोध-संस्कार कहते हैं।

वह समाधि दो प्रकारकी है — (१) सविकल्प-समाधि (२) निर्विकल्प-समाधि।

सविकल्प-समाधि :— ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय-रूप त्रिपुटीकी प्रतीतिके रहते हुए अद्वितीय ब्रह्ममें अन्तःकरणकी वृत्तिकी स्थितिको सविकल्प-समाधि कहते हैं।

वह सविकल्प-समाधि फिर दो प्रकारकी है :—(१) शब्दानुविद्ध अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' शब्द-सहित (२) शब्दाननुविद्ध अर्थात् शब्द-रहित।

निर्विकल्प-समाधि :— त्रिपुटीके भान (प्रतीति) से रहित अखण्ड-ब्रह्माकार अन्तःकरण-वृत्तिकी स्थितिको निर्विकल्प-समाधि कहते हैं।

पञ्चदशीकार श्रीविद्यारण्य स्वामीजीने इस निर्विकल्प-समाधिका वर्णन करते हुए कहा है कि :—

ध्यातृ-ध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैक-गोचरम्।
निवात-दीप-वच्चित्तं समाधिरभिधीयते॥

अर्थात् 'निदिध्यासन (ध्यान) में तो ध्याता ध्यान तथा ध्येय ये तीनों ही प्रतीत होते रहते हैं परन्तु जब अभ्यासके प्रभावसे वही चित्त क्रमसे ध्याता और ध्यान को छोड़कर केवल 'ध्येय' (आत्मस्वरूप ब्रह्म)

को ही विषय कर लेता है और वायु-रहित प्रदेशमे रखे हुए दीपकके प्रकाश (लौ) के समान निश्चल हो जाता है, तब वह अवस्था **निर्विकल्प-समाधि** कहलाती है। निर्विकल्प-समाधि का सविकल्प-समाधि **साधन** है और निर्विकल्प-समाधि **फल** है।

साधनरूप जो सविकल्प-समाधि है, उसमे यद्यपि त्रिपुटी-रूप द्वैत प्रतीत होता है, तो भी वह द्वैत इस प्रकार ब्रह्मरूपसे प्रतीत होता है जैसे विवेकियोको मिट्टीके विकार घटादिकोमे केवल मिट्टीकी ही प्रतीति होती है अर्थात् उन्हें यद्यपि मिट्टीके विकार घडा आदि प्रतीत होते है तथापि वे सब मिट्टीरूप ही प्रतीत होते हैं अथवा जैसे सर्राफको सब सोनेके जेवर सोनारूपसे ही प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार समाधिमे त्रिपुटीरूप द्वैत, ब्रह्मरूप ही प्रतीत होता है।

निर्विकल्प-समाधिमें भी सविकल्प-समाधिकी तरह त्रिपुटी-रूप द्वैत विद्यमान तो रहता है किन्तु उसकी प्रतीति नही होती, जैसे जलमे पड़ा हुआ नमक, विद्यमान होते हुए भी प्रतीति नही होता। इस प्रकार सविकल्प-समाधि व निर्विकल्प-समाधिका यह भेद सिद्ध हुआ कि:—

(१) **सविकल्प-समाधिमे** ब्रह्मरूप होकर द्वैतकी प्रतीति होती है और (२) **निर्विकल्प-समाधिमें** त्रिपुटीरूप द्वैतकी अप्रतीति होती है।

निर्विकल्प-समाधि व सुषुप्तिमे भेद यह है कि:— निर्विकल्प-समाधिमे ब्रह्माकार वृत्ति तो अन्तःकरणकी होती है किन्तु उसका भान नही होता और सुषुप्तिमे अन्त.करण की ब्रह्माकार वृत्ति नही होती; क्योकि वहाँ सुषुप्तिमे वृत्ति-

सहित अन्तःकरण ही नहीं होता।

निर्विकल्प-समाधिमें अन्तःकरणकी जो ब्रह्माकार वृत्ति होती है, उसका कारण सविकल्प-समाधिका अभ्यास है, इसीलिए साधनरूप आठ अगोंमें सविकल्प-समाधिको भी एक अग माना गया है। इन आठों अगोंका फल निर्विकल्प-समाधि है।

वह निर्विकल्प-समाधि भी दो प्रकारकी है — (१) अद्वैतभावनारूप (२) अद्वैतावस्थानरूप।

**अद्वैत-भावनारूप** :— जिस समाधिमें अद्वैतब्रह्माकार अन्तःकरणकी अजात वृत्ति रहे वह अद्वैत-भावनारूप निर्विकल्प-समाधि कहलाती है।

**अद्वैताऽवस्थानरूप** — जिस समाधिमें अधिक अभ्यासके कारण ब्रह्माकार वृत्ति भी शान्त हो जाय, उस वृत्ति-रहित समाधिको अद्वैताऽवस्थानरूप निर्विकल्प-समाधि कहते हैं।

जैसे तप्त लोहेपर गिरी हुई जलकी बूँदका उस तप्त लोहेमें ही प्रवेश (लय) हो जाता है, उसी प्रकार अद्वैत-भावनारूप समाधिके दृढ अभ्याससे अत्यन्त प्रकाशमान ब्रह्म मे वृत्तिका लय हो जाता है।

वह अद्वैतावस्थानरूप निर्विकल्प-समाधि फल है और अद्वैतभावनारूप निर्विकल्प-समाधि उसका साधन है। उस अद्वैतावस्थानरूप समाधि और सुषुप्ति अवस्थामें भेद यह है कि :—

सुषुप्तिमें वृत्तिका लय अज्ञानमें होता है और अद्वैतावस्थान-समाधिमें वृत्तिका लय ब्रह्म-प्रकाशमें होता है।

[वैसे तो कार्यका लय सदा कारणमे ही होता है इस नियमानुसार अद्वैतावस्थान-समाधिमे वृत्तिका लय तो अपने उपादान-कारण सत्त्वगुणमे ही होता है किन्तु ब्रह्मप्रकाशके भानरूप निमित्तसे वृत्तिका लय होता है इसलिए उपचार से ब्रह्मप्रकाशमे लय कहा है, जैसे—अग्निसे तपे हुए लोहे पर गिरी हुई जलकी बूँदका लय होता तो अग्निमे ही है परन्तु उसका औपचारिक प्रयोग (कथन) तप्त लोहेमे किया जाता है।]

और सुषुप्तिका आनन्द अज्ञानसे ढका हुआ होता है किन्तु अद्वैतावस्थान-समाधिमे ब्रह्मानन्दका भान निरावरणरूप से अर्थात् बिना किसी पर्देके, स्पष्टरूपसे होता है।

निर्विकल्प-समाधिमे चार विघ्न होते हैं। जिनको हटाने के लिए उनका वर्णन किया जाता है.—(१) लय (२) विक्षेप (३) कषाय और (४) रसास्वाद।

**लय** :— आलस्य अथवा निद्राके कारण होनेवाले वृत्तिके अभावको **लय** कहते हैं। यह अवस्था सुषुप्तिके समान होती है और उस समय ब्रह्मानन्दका भान नही होता। इस लिए योगीको उस समय सावधान होकर, निद्रादिकोको रोककर वृत्तिको जगाना चाहिये। इस प्रकार वृत्तिके जगाने के अभ्यासको श्रीगौडपादाचार्यजीने **चित्त-संबोधन** कहा है।

(२) **विक्षेप** :— जैसे बाज वा विल्लीसे डरकर चटिका (चिडिया) जब घरमे प्रविष्ट होकर घोसलेकी तरफ दौडती है और भयके कारण उसे घोसला नही मिलता तब वह फिर वाहर निकलकर अपने शत्रुको देखकर और अधिक

भयभीत होती है अथवा कभी शत्रुके हाथसे मृत्यु को भी प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार अनात्म-पदार्थोंको दुःखरूप समझकर अद्वैतानन्दको प्राप्त करनेके लिए वृत्ति अन्तर्मुख होती तो है किन्तु कुछ समय तककी स्थितिके बिना तत्काल ही अत्यन्त सूक्ष्म चेतन-स्वरूप आनन्दको प्राप्त न करनेके कारण वह बहिर्मुख हो जाती है। इस प्रकार वृत्तिके बहिर्मुख होनेको विक्षेप कहते हैं।

और वृत्तिकी स्थिरताके बिना स्वरूपानन्दकी प्राप्ति नहीं होती; इसलिये अन्तर्मुख वृत्ति होनेपर भी जब तक वृत्ति ब्रह्माकार न हो तब तक योगी बाह्य पदार्थोंमें दोष-भावना रखता हुआ वृत्तिको बहिर्मुख होने नहीं दे, किन्तु अन्तर्मुख रखनेका ही प्रयत्न करे। इस प्रकारके विक्षेपरूप विघ्नके विरोधी योगीके प्रयत्नको श्रीगौडपादाचार्यजीने सम कहा है।

(३) कषाय:— रागादि दोषोंको कषाय कहते हैं। अब यहाँ एक प्रश्न उठता है कि:—

योगदर्शनमें चित्तकी पाँच भूमिकाएँ (अवस्थाएँ) बताई हैं। (१) क्षेप (२) मूढता (३) विक्षेप (४) एकाग्रता और (५) निरोध।

क्षेप:— लोक-वासना, [कोई भी मेरी निन्दा न करे किन्तु सभी मेरी स्तुति ही करें, इस आग्रहके दृढ संस्कार] देह-वासना, ['स्थूल शरीरके रोगादिकोंको औषध आदि द्वारा व सूक्ष्म शरीरके पापोंको तीर्थाटन आदि द्वारा नष्ट करके, स्थूल शरीर में सुन्दरता-पुष्टि-आदिरूप तथा सूक्ष्म शरीरमें पुण्यरूप गुणों का संपादन करूँगा' इस आग्रहके दृढ-संस्कार] शास्त्र-वासना,

[वैसे तो कार्यका लय सदा कारणमे ही होता है इस नियमानुसार अद्वैतावस्थान-समाधिमे वृत्तिका लय तो अपने उपादान-कारण सत्त्वगुणमे ही होता है किन्तु ब्रह्मप्रकाशके भानरूप निमित्तसे वृत्तिका लय होता है इसलिए उपचार से ब्रह्मप्रकाशमे लय कहा है, जैसे—अग्निसे तपे हुए लोहे पर गिरी हुई जलकी बूँदका लय होता तो अग्निमे ही है परन्तु उसका औपचारिक प्रयोग (कथन) तप्त लोहेमे किया जाता है।]

और सुषुप्तिका आनन्द अज्ञानसे ढका हुआ होता है किन्तु अद्वैतावस्थान-समाधिमे ब्रह्मानन्दका भान निरावरणरूप से अर्थात् बिना किसी पर्देके, स्पष्टरूपसे होता है।

निर्विकल्प-समाधिमे चार विघ्न होते हैं। जिनको हटाने के लिए उनका वर्णन किया जाता है.—(१) लय (२) विक्षेप (३) कषाय और (४) रसास्वाद।

**लय :**— आलस्य अथवा निद्राके कारण होनेवाले वृत्तिके अभावको **लय** कहते हैं। यह अवस्था सुषुप्तिके समान होती है और उस समय ब्रह्मानन्दका भान नही होता। इस लिए योगीको उस समय सावधान होकर, निद्रादिकोंको रोककर वृत्तिको जगाना चाहिये। इस प्रकार वृत्तिके जगाने के अभ्यासको श्रीगौडपादाचार्यजीने **चित्त-संबोधन** कहा है।

(२) **विक्षेप :**— जैसे बाज वा विल्लीसे डरकर चटिका (चिडिया) जब घरमे प्रविष्ट होकर घोसलेकी तरफ दौडती है और भयके कारण उसे घोसला नही मिलता तव वह फिर वाहर निकलकर अपने शत्रुको देखकर और अधिक

भयभीत होती है अथवा कभी शत्रुके हाथसे मृत्यु को भी प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार अनात्म-पदार्थोंको दु:खरूप समझकर अद्वैतानन्दको प्राप्त करनेके लिए वृत्ति अन्तर्मुख होती तो है किन्तु कुछ समय तककी स्थितिके बिना तत्काल ही अत्यन्त सूक्ष्म चेतन-स्वरूप आनन्दको प्राप्त न करनेके कारण वह बहिर्मुख हो जाती है। इस प्रकार वृत्तिके बहिर्मुख होनेको **विक्षेप** कहते हैं।

और वृत्तिकी स्थिरताके बिना स्वरूपानन्दकी प्राप्ति नही होती, इसलिये अन्तर्मुख वृत्ति होनेपर भी जब तक वृत्ति ब्रह्माकार न हो तब तक योगी बाह्य पदार्थोमे दोष-भावना रखता हुआ वृत्तिको बहिर्मुख होने नही दे, किन्तु अन्तर्मुख रखनेका ही प्रयत्न करे। इस प्रकारके विक्षेपरूप विघ्नके विरोधी योगीके प्रयत्नको श्रीगौडपादाचार्यजीने **सम** कहा है।

(३) **कषाय**.— रागादि दोषोको **कषाय** कहते हैं। अब यहाँ एक प्रश्न उठता है कि:—

योगदर्शनमे चित्तकी पांच भूमिकाएँ (अवस्थाएँ) बतलाई है। (१) क्षेप (२) मूढता (३) विक्षेप (४) एकाग्रता और (५) निरोध।

**क्षेप** — **लोक-वासना,** [कोई भी मेरी निन्दा न करे किन्तु सभी मेरी स्तुति ही करें, इस आग्रहके दृढ सस्कार] **देह-वासना,** ['स्थूल शरीरके रोगादिकोको औषध आदि द्वारा व सूक्ष्म शरीरके पापोको तीर्थाटन आदि द्वारा नष्ट करके, स्थूल शरीर मे सुन्दरता-पुष्टि-आदिरूप तथा सूक्ष्म शरीरमे पुण्यरूप गुणो का सपादन करूँगा' इस आग्रहके दृढ़-सस्कार] **शास्त्र-वासना,**

[शास्त्र-वासना चार प्रकारकी है (१) पाठ-वासना ( पाठ अधिक और जल्दी पढलूँ) (२) अर्थ-वासना (सभी शास्त्रों के अर्थको अच्छी तरह समझ जाऊँ और दूसरोंको समझालूँ) (३) अनुष्ठान-वासना ( वेद-शास्त्रोंके मन्त्रोको जप-द्वारा सिद्ध करके, मन्त्र-सिद्धि चलाऊँ ) (४) वाणी-वासना (मधुर वाणीमे कविता आदि बनाकर बहुत सारे ग्रन्थ बनालूँ) इस आग्रहके दृढ-संस्कार] इत्यादि रजोगुणके परिणामरूप जो दृढ अनात्म-वासनाएँ हैं, उन्हे क्षेप कहते हैं।

(२) **मूढता :—** निद्रा आलस्य आदि तमोगुणके परिणामों को **मूढता** कहते हैं।

(३) **विक्षेप :—** ध्यानमे लगे हुए चित्तके बहिर्मुख होने को **विक्षेप** कहते हैं।

(४) **एकाग्रता —** अन्तःकरणके अतीत व वर्तमान परिणामों (वृत्तियो) के समानाकार होनेको अर्थात् जब अन्तःकरणकी सभी वृत्तियाँ एक ब्रह्माकार होने लग जायँ, उस अवस्थाको **एकाग्रता** कहते हैं।

(५) **निरोध :—** उस एकाग्रताकी वृद्धिको **निरोध** कहते हैं।

इन पाँच भूमिकाओ सहित अन्तःकरणके क्रमसे ये पाँच नाम है.—(१) क्षिप्त (२) मूढ (३) विक्षिप्त (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध। उनमे क्षिप्त और मूढ अन्तःकरणका तो समाधिमे अधिकार नही है किन्तु विक्षिप्त अन्तःकरणका अधिकार है, और एकाग्र व निरुद्ध अन्त.करण तो समाधिके समय रहते ही है।

इस प्रकार योग-दर्शनके कथनानुसार रजोगुणके परिणाम

दृढ अनात्म-वासनाएँ अर्थात् रागादिक-दोषरूप क्षेप (कषाय) जब अन्तःकरणमे हो तब उस क्षिप्त अन्त करणका तो समाधिमे अधिकार ही नही है, फिर रागादिदोषरूप कषाय को समाधिका विघ्न कैसे कहा जा सकता है ? क्योकि जैसे जिस पुरुषको राजाके पास जानेका अधिकार हो, उसके लिये तो यह कहा जा सकता है कि द्वारपालने उसके जानेमे विघ्न डाला, किन्तु जिसको वहाँ जानेका अधिकार ही नही है, उसके लिए द्वारपाल विघ्नरूप कैसे बन सकता है ? ठीक इसी प्रकार क्षिप्त (रागादि-दोष-सहित) अन्त करण का यदि समाधिमे अधिकार होता तो उसके लिए समाधिमे रागादिदोषरूप कषाय विघ्न बन सकते, किन्तु जब क्षिप्त (रागादि-दोष-सहित) अन्तःकरणका समाधिमे अधिकार ही नही है, तो फिर उसके लिए रागादि-दोषरूप कषाय समाधिके विघ्न कैसे बन सकते हैं।

इसका उत्तर यह है कि— रागादिदोष तीन प्रकारके हैं। (१) उद्युक्त (२) आशारूप और (३) वासनारूप।

(१) **उद्युक्त** :— बाह्य-प्रवृत्तिके हेतु स्त्री पुत्र धन आदि जिनके विषय वर्तमान हो वे उद्युक्त अथवा बाह्य रागादि कहलाते हैं।

(२) **आशारूप** — भूत अथवा भावीका चिन्तनरूप जो मनोराज्य है उसे आशारूप अथवा आन्तर रागादि कहते हैं।

(३) **वासनारूप** :— जन्मांतरोमे पूर्व अनुभव किये हुए जो रागादि है उनके सस्कार वासनारूप रागादिक कहलाते हैं।

इन तीन प्रकारके रागादिक दोषोमेसे पहिलेके दो

रागादिक दोष (उद्युक्त व आशारूप) **क्षेप** कहलाते हैं और अन्तिम तीसरा वासनारूप रागादि दोष **कषाय** कहलाता है।

इसलिए न तो क्षिप्त अन्तःकरणका समाधिमें अधिकार है और नही क्षेप (उद्युक्त व आशारूप रागादि दोषो) को समाधिका विघ्न ही माना जाता है, किन्तु वासनारूप रागादि दोष ( कषाय ) तो विक्षिप्त आदि अन्तःकरण मे भी रहते हैं; क्योकि जब तक अन्तःकरण रहता है तब तक रागद्वेष आदिकोके सूक्ष्म सस्कार ( कषाय ) तो रहते ही हैं, परन्तु उन वासनारूप रागद्वेषादिकोमे भी उद्भूत ( प्रकट ) सस्कार समाधिके विरोधी हैं, न कि अनुद्भूत (अप्रकट) सस्कार।

विक्षेप और कषायमें यह भेद है:— बाह्य-विषयाकार वृत्तिको **विक्षेप** कहते हैं, और योगीके प्रयत्नसे वृत्ति, अन्तर्मुख होनेपर भी जिन रागादिकोके उद्भूत सस्कारोंसे रुक जाय अर्थात् ब्रह्मको विषय न कर सके, उन्हें **कषाय** कहते हैं।

अतः समाधिमें प्रवृत्त योगीको यदि राग-द्वेषादिकोंके संस्कारोकी प्रकटता हो तो उसी समय विषयोमे दोष-दृष्टि करके दबा देना चाहिये।

(४) **रसास्वाद** :— जैसे भार उठानेवाले पुरुषका जब भार उतर जाता है तो उस समय उस भार उठानेसे होनें वाले दु:खकी **निवृत्तिसे** भी उसे एक आनन्द प्रतीत होता है, उसी प्रकार योगीको समाधिमे विक्षेपसे होनेवाले **दु:खकी निवृत्तिसे** जो आनन्दका अनुभव होता है उसे **रसास्वाद** कहते हैं।

यदि दुःखकी निवृत्तिमात्रसे होनेवाले उस आनन्दके अनुभवसे ही योगी सतोष कर लेगा तो सकल-उपाधि-रहित

ब्रह्मानन्दाकार वृत्तिके अभावसे उसे समाधिमे ब्रह्मानन्दका अनुभव नही हो सकता, इसलिये दु खकी निवृत्तिसे होने वाले आनन्दका अनुभवरूप रसास्वाद भी समाधिमे विघ्न है।

जिस वस्तुकी इच्छा हो उसकी प्राप्तिके विना विरोधी की निवृत्तिसे भी आनन्दकी उत्पत्ति होती है, इस विषय मे दूसरा दृष्टान्त :— जैसे पृथिवीमें कही कोई ऐसा निधि (खजाना) हो जिसपर कोई वडा विषधर सर्प रहता हो, तो उस निधि (खजाने) की प्राप्तिसे पहिले, निधि-प्राप्ति के विरोधी सर्पकी निवृत्तिसे भी एक आनन्द प्राप्त होता है। अव उस सर्प-निवृत्तिके आनन्दमे ही यदि सतोष किया जाय तो उद्यम त्यागनेसे निधि-प्राप्तिका परमानन्द प्राप्त नही हो सकता। इसी प्रकार अद्वैत-ब्रह्म-रूप निधि (खजाना) है। शरीरादि अनात्म-पदार्थोकी प्रतीतिरूप विक्षेप सर्प है। विक्षेपरूप सर्पकी निवृत्तिमात्रसे उत्पन्न होनेवाले आनन्दरूपी रसका आस्वादन (अनुभव) निधिरूपी अद्वैत-ब्रह्मकी प्राप्ति से उत्पन्न होनेवाले महान् आनन्दकी प्राप्तिका प्रतिवन्धक (रुकावट डालनेवाला) होनेके कारण विघ्न कहलाता है।

सविकल्प समाधिके आनन्दको भी रसास्वाद कहते हैं, क्योकि सविकल्प समाधिके सोपाधिक (त्रिपुटीरूप-उपाधि-सहित) आनन्दमे भी सतोषकर लेनेमे निर्विकल्प-समाधिका महान् आनन्द प्राप्त नही होता।

अत विक्षेपकी निवृत्तिमे उत्पन्न होनेवाला आनन्दका अनुभव और सविकल्प-समाधिके आनन्दका अनुभव इन दोनो विघ्नरूपी रसास्वादोको त्यागना चाहिये।

इस प्रकार निर्विकल्प-समाधिके आरम्भमें ये चार विघ्न होते है। जो विद्वान् सावधान होकर इन चारों विघ्नोंको रोककर निर्विकल्प-समाधिमे परमानन्दका अनुभव करता है उसीको **जीवन्मुक्त** कहते हैं।

इस प्रकार ज्ञानीका मन बाहर साँसारिक व्यवहारोमें कही नही जा सकता; क्योकि समाधिके समय तो मन सत्त्वगुणमे लीन रहता है और जब प्रारब्ध-वशात् समाधि टूटती है, तो भी समाधिमे अनुभव किये हुए परमानन्दकी स्मृति (याद) रहती ही है; इसलिए उस समय भी ज्ञानी का मन कही और जगह नही जाता। ज्ञानवान्की जो भोजनादिमे प्रवृत्ति होती है वह केवल प्रारब्ध-वशात् ही होती है। परन्तु भोजनादि-व्यवहारमे भी ज्ञानी खेद (दुःख) मानकर प्रवृत्त होता है, क्योकि भोजनादिमे प्रवृत्ति भी समाधिके सुखकी विरोधी है। अतः जिसे भोजनादिक शरीर-निर्वाहकी प्रवृत्ति भी दुःखरूप प्रतीत होती है उसकी अधिक प्रवृत्ति (साँसारिक व्यवहारोमे प्रवृत्ति) तो हो ही नहीं सकती। और जीवन्मुक्तिका आनन्द भी बाह्य-प्रवृत्तिमें प्राप्त नही होता, किन्तु निवृत्तिमे ही होता है; अतः जीवन्मुक्तिके सुखार्थी ज्ञानवान्की बाह्य-प्रवृत्ति कभी हो ही नही सकती। इस प्रकार कई आचार्योंने इसी पक्षको लिखा है।

किन्तु इस प्रकार ज्ञानवान्के लिये निवृत्तिका नियम कहना ठीक नही, क्योंकि ज्ञानीके लिए वेदने कही निवृत्ति अथवा प्रवृत्तिका विधान (आज्ञा) तो किया ही नही है, जिससे ज्ञानीके व्यवहारमें कोई नियम सिद्ध हो सके; अतः ज्ञानी

निरकुश है, उसका व्यवहार प्रारब्धसे होता है। जिस ज्ञानीका प्रारब्ध भिक्षा-भोजन-मात्र फलका हेतु है उसकी भिक्षा-भोजन-मात्रमे ही प्रवृत्ति होती है और जिसका प्रारब्ध अधिक भोगका हेतु है उसकी अधिक प्रवृत्ति होती है।

और जो यह कहते है कि — जिसका प्रारब्ध भिक्षा-भोजन-मात्रका हेतु हो, उसीको ही ज्ञान हो सकता है, किन्तु जिसका प्रारब्ध अधिक व्यवहारमे प्रवृत्त करानेवाला हो तो उसे ज्ञान नही होगा, इसलिये भिक्षा-भोजन आदि व्यवहारसे अधिक व्यवहार ज्ञानीका नही होता और जिसकी अधिक प्रवृत्ति हो वह ज्ञानी ही नही है। यह उनका कहना ठीक नही, क्योकि **याज्ञवल्क्य व जनकादिकोको** ज्ञानी कहा जाता है। उनमे श्रीयाज्ञवल्क्यजीने सभा-विजय-द्वारा धन-सग्रह-व्यवहार तथा राजा जनकने राज्य-पालन-आदि व्यवहार भी किये थे। 'योगवासिष्ठ' मे अनेक ज्ञानी पुरुषोके व्यवहार नाना प्रकारके बतलाए है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानीकी प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिका कोई नियम नही है।

यद्यपि श्रीयाज्ञवल्क्यजीने सभा-विजयके बाद विद्वत्सन्न्यास-रूप निवृत्तिको धारण किया है और प्रवृत्तिमे ग्लानिके हेतु नाना दोष भी बतलाए हैं, तो भी 'याज्ञवल्क्यको विद्वत्सन्न्यास से पहिले ज्ञान नही था' यह कहना तो बन ही नहीं सकता, क्योकि ज्ञान तो उन्हे पहिले भी था परन्तु विद्वत्सन्न्याससे पहिले जीवन्मुक्तिका आनन्द प्राप्त नही हुआ था। अत जीवन्मुक्तिके आनन्दके लिये उन्होंने सर्वसग्रहका त्याग किया। **श्रीयाज्ञवल्क्यका** प्रारब्ध कुछ समय तक

अधिक भोगका हेतु था और बादमे न्यून ( कम ) भोगका हेतु रहा। इसीलिये पहिले तो याज्ञवल्क्यको बिना ग्लानि के ही अधिक भोग और बादमे ग्लानिसे सभी भोगोका त्याग हुआ है।

राजा **जनकका** प्रारब्ध मरणपर्यन्त राज्य-पालन व भोग का हेतु रहा था, इसलिए सदा त्यागका अभाव ही रहा तथा भोगोमे ग्लानि भी नही हुई।

**वामदेव** आदिकोका प्रारब्ध न्यून (कम) भोगका हेतु रहा था; इसलिए सदा भोगोमे ग्लानि और उस ग्लानिसे प्रवृत्तिका अभाव ही रहा।

'योगवासिष्ठ' मे तो ऐसा प्रसग भी आया है कि **शिखरध्वजकी** ज्ञानके बाद तो और अधिक ही प्रवृत्ति हुई।

इस प्रकार नाना प्रकारके विलक्षण व्यवहार ज्ञानी पुरुषोके बतलाए हैं, उन सभीको ज्ञान और उस ज्ञानका फल मोक्ष दोनो समान ही हुए हैं। इस विषयपर यह एक साप्रदायिक श्लोक भी है :—

**कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी राजानौ जनक-राघवौ।**
**वसिष्ठः कर्म-कर्त्ता च त एते ज्ञानिनः समाः॥**

अर्थात् कृष्ण भोगी हुआ है, शुकदेव त्यागी हुआ है, जनक और श्रीरामचन्द्र दोनो राजा हुए हैं और वसिष्ठ मुनि कर्मोका कर्त्ता हुआ है। इस प्रकार इनका प्रारब्धके भेदसे विलक्षण (भिन्न भिन्न) व्यवहार हुआ है, तो भी वे और ये (वर्तमान) ज्ञानी सभी समान ही हैं।

इसी बातको श्रीविद्यारण्य स्वामीजीने पंचदशीके चित्रदीप

में लिखा है कि :—

**आरब्ध-कर्मनानात्वाद् बुद्धानामन्यथान्यथा ।**
**वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पण्डितैः ॥२८७॥**
**स्वस्वकर्मानुसारेण वर्तन्तां ते यथा तथा ।**
**अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः ॥२८८॥**

अर्थात्— प्रारब्ध कर्मोंके नाना प्रकारके होनेसे ज्ञानियोका भी व्यवहार परस्पर भिन्न होता है। अत उनके भिन्न भिन्न वर्तावोको देखकर पण्डितजनोको, दृढज्ञानसे मोक्षके प्रतिपादक शास्त्रके अर्थमे भ्रान्त नही होना चाहिए। [क्योकि ज्ञानीके शरीरके रोग वा भूख आदि जैसे उसके प्रारब्धके फल होते हैं, उसी प्रकार ज्ञानीके अन्य व्यवहार भी तो उसके प्रारब्ध कर्मों के ही फल है। अत वे अन्य सांसारिक व्यवहार, रोग आदि की तरह ही, ज्ञानीकी मुक्तिमे कोई रुकावट नही कर सकते।]

इसलिये सब लोगोको यह निश्चय कर लेना चाहिये कि वे ज्ञानी लोग अपने अपने प्रारब्ध कर्मोंके अनुसार जैसा तैसा वर्ताव करते हैं तो करते रहे। किन्तु उन सबको जो अपने ब्रह्मत्वका ज्ञान होता है वह तो सबका एक समान ही होता है और मुक्ति भी उनकी समान ही होती है ( वे सभी शुद्ध ब्रह्मरूपमे स्थित हो जाते है ), यही स्थिति ( शास्त्र और विद्वानोका निश्चय ) है।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि :— जो जीवन्मुक्तिके सुखको त्यागकर अन्य व्यवहारोमे व विषय-भोगोमे प्रवृत्त होता है वह विदेह-मोक्षको भी त्यागकर वैकुण्ठादि लोकोकी इच्छा रखकर उन लोकोमे गमन कर लेगा। किन्तु यह उनका कहना ठीक

मैं यज्ञदत्त हूँ' इस प्रकार शरीरमें दृढ़ आत्म-बुद्धि होती है, उसी प्रकार जिसे, शरीरमे आत्म-बुद्धिको नष्ट करने वाला ज्ञान, ब्रह्मसे अभिन्न आत्माके विषयमे दृढरूपसे हो जाय अर्थात् "मैं ( मेरा वास्तविक स्वरूप साक्षी ) ब्रह्म हूँ" इस प्रकार जिसको आत्मामे ( अपने आपमे ) दृढ ब्रह्म-बुद्धि ( दृढ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान ) हो जाय, वह वृक्षसे छूटे हुए हाथवालेकी तरह न चाहता हुआ भी मुक्त हो जाता है।" इससे सिद्ध हुआ कि — **बिना इच्छाके ज्ञानीका विदेह-मोक्ष निश्चित** है। और स्वप्नसे जगे हुए पुरुषको जैसे स्वप्न-भ्रान्तिकी निवृत्तिके त्यागमे तथा स्वप्नके परलोकके गमनमें इच्छा नही होती, ठीक इसी प्रकार ज्ञानीको बन्ध-भ्रान्ति (भ्रान्तिरूप ससार) की निवृत्तिरूप विदेह-मोक्षके त्यागमे और स्वर्गादि परलोकके गमनमे भी इच्छा नही होती। बाकी जीवन्मुक्तिके विरोधी वर्तमान शरीरमे अधिक भोगोकी इच्छा तो भिक्षा-भोजनादिकोकी तरह, जनकादिकोको भी हुई है।

यदि कोई कहे कि :— गीतामे भगवान्‌ने ज्ञानीका लक्षण बताते हुए कहा है, **"उदासीनवदासीनः"** अर्थात् जो सदा उदासीनकी तरह रहता है वही ज्ञानी है अतः ज्ञानीको व्यवहार छोडकर सदा उदासीन ही रहना चाहिये। तो यह उनका कहना ठीक नही, क्योकि भगवान्‌ने व्यवहार छोडकर उदासीन रहने के लिए नही कहा है किन्तु व्यवहार करते हुए भी उदासीनकी तरह रहनेके लिए कहा है। इस मर्म को तो स्वय भगवान्‌ने इसी श्लोकमे स्पष्ट करते हुए कहा है कि :—

**उदासीन-वदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।**
**गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥**

अर्थात्—तटस्थके समान साक्षीरूपसे दूर रहनेवाला जो ब्रह्मज्ञानी, प्रकाश ( रसास्वाद ) आदि सात्त्विक गुणोंसे, रागादि प्रवृत्तिरूप राजस गुणोसे और मोह आदि तामस गुणोसे विचलित नही होता अर्थात् अपने असली स्वरूप साक्षीको नही भूलता और '**गुण ही गुणोमें वर्तते है अर्थात् शरीर इन्द्रियादि ही विषयोमें प्रवृत्त होते है आत्मा नही**' ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्म-स्वरूप आत्मा (अपने आप) मे स्थित रहता है एव उस स्थितिमे चलायमान नही होता [वह गुणातीत कहलाता है] (गीता अ० १४ श्लोक २३) ।

यदि कोई कहे कि ज्ञान होनेपर ऐसी अवस्था हो जाती है कि ज्ञानीके शरीरादिकोसे कुछ भी व्यवहार नही हो सकता तो हमे इस बातपर हँसी आती है कि ज्ञानीके शरीरको अशक्तकर देनेवाला वह ज्ञान क्या हुआ ? वह तो एक रोग ही हुआ । जो महाबुद्धि तत्त्वज्ञानको एक प्रकारका क्षयरोग मानते है कि तत्त्वज्ञानीके हाथ पैर उठते ही नही, उनकी बुद्धिके विषयमे हम क्या कहे ? वे जो चाहे कह सकते है । किन्तु उनका कथन उनके पास रहे तो ही अच्छा है ।

यदि कहा जाय कि 'जडभरत आदि महात्मा लोग कुछ भी नही करते थे' इस प्रकारका वर्णन पुराणोंमे आया है, अत. ज्ञानियोको कुछ भी व्यवहार नही करना

नही, क्योकि जीवन्मुक्तिके सुखका त्याग व भोगोमे प्रवृत्ति तो ज्ञानीकी प्रारब्ध-वशात् ही होती है। और विदेह-मोक्षका त्याग व परलोकको गमन भी नही बन सकता, क्योकि श्रुति कहती है :— **"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते"** (अथर्ववेद नृसिंहोत्तर, ता० उप०) अर्थात् "ज्ञानीके प्राण बाहर कहीं नही जाते किन्तु यही लीन हो जाते है" अतः प्राणोंके बाहर नही जानेके कारण, ज्ञानीका परलोकको गमन तो बन ही नही सकता। और (२) विदेह-मोक्षका त्याग भी असभव है; क्योंकि ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होकर प्रारब्ध-भोगोके समाप्त होनेके बाद, स्थूल व सूक्ष्म शरीरके आकारको धारण करनेवाले अज्ञानका चेतन में लय हो जाना ही **विदेह-मोक्ष** कहलाता है। वह अवश्य ही होता है। यदि मूल अज्ञान शेष रहता अथवा नष्ट हुए अज्ञानकी फिर उत्पत्ति हो जाती, तब तो विदेह-मोक्षका अभाव हो सकता था, किन्तु मूल अज्ञानके विरोधी ज्ञानके होनेपर अज्ञान शेष नही रहता, तथा वेदके महावाक्यरूप प्रबल प्रमाणसे नष्ट हुए अज्ञानकी फिर उत्पत्ति नही होती, अतः ज्ञानीके विदेह-मोक्षका अभाव तो हो ही नहीं सकता।

और (३) विदेह-मोक्षके त्यागमें तथा परलोकके गमनमें ज्ञानीकी इच्छा भी नही बन सकती; क्योकि ज्ञानीको इच्छा केवल प्रारब्धसे ही होती है। जितनी सामग्रीके विना प्रारब्धका भोग नही बन सकता, उतनी सामग्रीको ही प्रारब्ध कर्म रचते हैं; और इच्छाके विना भोग हो ही नही सकता, इसलिए ज्ञानीकी इच्छा भी प्रारब्धका ही फल है। और प्रारब्ध समाप्त

होनेके वाद, इच्छाका अभाव होनेसे, विदेह-मोक्षके त्याग व परलोक-गमनकी इच्छाका ज्ञानीके लिए तो प्रश्न ही नही उठता ।

यदि कोई कहे कि — जैसे ज्ञानीको विदेह-मोक्षके त्याग व परलोक-गमनकी इच्छा नही होती, वैसे विदेह-मोक्षकी प्राप्तिकी भी इच्छा नही होगी, फिर विना इच्छाके ज्ञानी को विदेह-मोक्षकी प्राप्ति कैसे होगी ?

इसका उत्तर यह है कि — जो भ्रान्ति जिस अधिष्ठान के अज्ञानसे उत्पन्न होती है वह भ्रान्ति उस अधिष्ठानके अज्ञानके नष्ट होनेपर स्वत विना चाहे ही नष्ट हो जाती है । जो रस्सीमे कल्पित सर्प, जिस रस्सीके अज्ञानसे प्रतीत होता है, वह कल्पित सर्प उस रस्सीके अज्ञानके नष्ट होने पर अर्थात् उस रस्सीके जाननेपर, स्वत विना इच्छा किये ही नष्ट हो जाता है, ठीक इसी प्रकार जो स्थूल व सूक्ष्म शरीररूप कल्पित ससार, जिस अधिष्ठान (आत्म-स्वरूप ब्रह्म) के अज्ञानसे प्रतीत होता है, वह कल्पित ससार उस अधिष्ठान के अज्ञानके नष्ट होनेपर अर्थात् अपने असली स्वरूप ब्रह्म को जाननेपर, स्वत विना इच्छाके ही नष्ट हो जाता है । अतः दृढ अपरोक्ष ज्ञानवान् मोक्षकी इच्छासे रहित होता हुआ भी मुक्त हो जाता है । भाष्यकार श्रीस्वामी शकराचार्यजी महाराजने भी लिखा है कि —

देहात्म-ज्ञान-वज्ज्ञान देहात्म-ज्ञान-बाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥

अर्थात् — "जैसे अज्ञानियोको 'मैं मनुष्य हूँ, ब्राह्मण हूँ,

मैं यज्ञदत्त हूँ' इस प्रकार शरीरमें दृढ आत्म-बुद्धि होती है, उसी प्रकार जिसे, शरीरमे आत्म-बुद्धिको नष्ट करने वाला ज्ञान, ब्रह्मसे अभिन्न आत्माके विषयमे दृढरूपसे हो जाय अर्थात् "मैं ( मेरा वास्तविक स्वरूप साक्षी ) ब्रह्म हूँ" इस प्रकार जिसको आत्मामे ( अपने आपमे ) दृढ ब्रह्म-बुद्धि ( दृढ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान ) हो जाय, वह वृक्षसे छूटे हुए हाथवालेकी तरह न चाहता हुआ भी मुक्त हो जाता है।" इससे सिद्ध हुआ कि — **बिना इच्छाके ज्ञानीका विदेह-मोक्ष निश्चित** है। और स्वप्नसे जगे हुए पुरुषको जैसे स्वप्न-भ्रान्तिकी निवृत्तिके त्यागमे तथा स्वप्नके परलोकके गमनमे इच्छा नही होती, ठीक इसी प्रकार ज्ञानीको बन्ध-भ्रान्ति (भ्रान्तिरूप ससार) की निवृत्तिरूप विदेह-मोक्षके त्यागमे और स्वर्गादि परलोकके गमनमे भी इच्छा नही होती। बाकी जीव-न्मुक्तिके विरोधी वर्तमान शरीरमे अधिक भोगोकी इच्छा तो भिक्षा-भोजनादिकोंकी तरह, जनकादिकोको भी हुई है।

यदि कोई कहे कि :— गीतामे भगवान्‌ने ज्ञानीका लक्षण बताते हुए कहा है, **"उदासीनवदासीनः"** अर्थात् जो सदा उदासीनकी तरह रहता है वही ज्ञानी है अतः ज्ञानीको व्यवहार छोड़कर सदा उदासीन ही रहना चाहिये। तो यह उनका कहना ठीक नही, क्योकि भगवान्‌ने व्यवहार छोड़कर उदासीन रहने के लिए नही कहा है किन्तु व्यवहार करते हुए भी उदासीनकी तरह रहनेके लिए कहा है। इस मर्म को तो स्वयं भगवान्‌ने इसी श्लोकमें स्पष्ट करते हुए कहा है कि :—

**उदासीन-वदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।**
**गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥**

अर्थात्— तटस्थके समान साक्षीरूपसे दूर रहनेवाला जो ब्रह्मज्ञानी, प्रकाश ( रसास्वाद ) आदि सात्त्विक गुणोसे, रागादि प्रवृत्तिरूप राजस गुणोसे और मोह आदि तामस गुणोसे विचलित नही होता अर्थात् अपने असली स्वरूप साक्षीको नही भूलता और **'गुण ही गुणोमें वर्तते हैं अर्थात् शरीर इन्द्रियादि ही विषयोंमें प्रवृत्त होते हैं आत्मा नहीं'** ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्म-स्वरूप आत्मा (अपने आप) मे स्थित रहता है एव उस स्थितिसे चलायमान नही होता [वह गुणातीत कहलाता है] (गीता अ० १४ श्लोक २३) ।

यदि कोई कहे कि ज्ञान होनेपर ऐसी अवस्था हो जाती है कि ज्ञानीके शरीरादिकोंसे कुछ भी व्यवहार नही हो सकता तो हमे इस बातपर हँसी आती है कि ज्ञानीके शरीरको अशक्तकर देनेवाला वह ज्ञान क्या हुआ ? वह तो एक रोग ही हुआ । जो महाबुद्धि तत्त्वज्ञानको एक प्रकारका क्षयरोग मानते हैं कि तत्त्वज्ञानीके हाथ पैर उठते ही नही, उनकी बुद्धिके विषयमे हम क्या कहें ? वे जो चाहे कह सकते हैं । किन्तु उनका कथन उनके पास रहे तो ही अच्छा है ।

यदि कहा जाय कि 'जडभरत आदि महात्मा लोग कुछ भी नहीं करते थे' इस प्रकारका वर्णन पुराणोंमें आया है, अत ज्ञानियोंको कुछ भी व्यवहार नहीं करना

चाहिये, तो यह कहना ठीक नही, क्योकि उन जडभरतादिकोकी तो प्रारब्ध ही निवृत्ति-प्रधान थी इसलिए वे अपना भोजनादिक व्यवहार करके, लोगोके सग-दोषसे दूर रहकर उदासीन रहते थे।

किन्तु जिन ज्ञानियोंकी प्रारब्ध प्रवृत्ति-प्रधान होती है उनके लिए तो श्रुति स्वय कहती है कि— **"जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा वयस्यैर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्।"** ( छा० ८-१२-३ ) अर्थात् खाता, खेलता, गृहस्थधर्म पालन करता, सवारियोपर बैठता, अपने जातिवालो व समान अवस्थावालोसे उनके योग्य व्यवहार करता हुआ भी वह ज्ञानी जनसमुदायके समीप वर्तमान इस शरीरको याद न करता हुआ अर्थात् "मैं कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ" इस प्रकार अज्ञानियोकी तरह शरीर-इन्द्रियादिको मे आत्म-बुद्धि न करके अपने असली स्वरूप साक्षीको न भूलता हुआ, [प्रारब्ध कर्म समाप्त होनेपर विदेह-मुक्त हो जाता है।]

यदि कोई कहे कि— यह-सिद्धान्त है कि **"विमुक्तश्च विमुच्यते"** अर्थात् जीवन्मुक्तोको ही विदेहमुक्ति प्राप्त होती है; फिर जो ज्ञानी साँसारिक व्यवहारोमे लगे हुए नजर आते है उनका विदेह-मोक्ष कैसे हो सकता है ?

तो उसका उत्तर यह है कि— ज्ञानीका व्यवहार अर्थात् वाह्य-प्रवृत्ति जीवन्मुक्तिकी विरोधी नही, किन्तु जीवन्मुक्ति के विलक्षण आनन्दकी ही विरोधी है, क्योकि आत्मा नित्य-मुक्त है, उसमे जो वन्धनकी भ्रान्ति हो रही है वह केवल अज्ञानके कारण ही है। अतः जव ज्ञान होता है तव

उसी समय अज्ञानके साथ साथ बन्ध-भ्रम ( आत्मामे कर्त्ता-भोक्तापन आदि ससाररूप भ्रान्ति ) भी नष्ट हो जाता है। ज्ञान होनेके बाद फिर बन्ध-भ्रान्ति नही होती। और **शरीर रहते रहते आत्मामे बन्ध-भ्रान्ति ( कर्त्तापनादि ससाररूप भ्रांति ) के अभावको ही जीवन्मुक्ति कहते हैं।** और ज्ञानीको देह-इन्द्रियादिकोकी प्रवृत्ति तथा निवृत्तिमे बन्ध-भ्रान्ति आत्मामे नही होती, अतः बाह्य-प्रवृत्ति होनेपर भी जीवन्मुक्ति दूर नही होती है। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानीकी बाह्य-प्रवृत्ति अर्थात् प्रारब्ध-वशात् साँसारिक व्यवहारोमे प्रवृत्ति होते हुए भी वह जीवन्मुक्त ही है, और **'विमुक्तश्च विमुच्यते'** इस सिद्धान्ताऽनुसार उसका विदेहमोक्ष निश्चित ही है।

हाँ, यह बात अवश्य है कि बाह्य-प्रवृत्तिमे जीवन्मुक्तको वह विलक्षण आनन्द प्राप्त नही होता, क्योकि वह अनोखा ब्रह्मानन्द तो तभी प्राप्त होता है, जब अन्तःकरण एकाग्र हो। वह एकाग्रतारूप अन्तःकरणका परिणाम, बाह्य-प्रवृत्तिमे नही होता। अत जीवन्मुक्तिका विलक्षण आनन्द सभी ज्ञानियोको एक जितना प्राप्त नही होता, क्योकि सभीकी प्रारब्ध भिन्न भिन्न होनेके कारण, ज्ञानी पुरुषोके व्यवहार भी अनेक प्रकारके होते हैं। परन्तु जिसका प्रारब्ध अधिक प्रवृत्तिका हेतु होता है उसका दुष्ट अथवा निकृष्ट प्रारब्ध माना जाता है, क्योकि अधिक प्रवृत्ति एकाग्रताकी विरोधी है और एकाग्रताके बिना त्रिपुटी-रूप-उपाधि-रहित वह अद्वैतानन्द प्रतीत नही होता। जैसे विशाल राज्यको प्राप्त किया हुआ पुरुष भी शिथिल प्रारब्धसे उत्पन्न होनेवाले सुसाध्य अथवा कष्टसाध्य

रोगकी तो औषध आदि प्रयत्नोसे निवृत्ति कर लेता है, परन्तु तीव्रतर प्रारब्धसे उत्पन्न होनेवाले असाध्य रोगकी तो निवृत्ति उससे भी नही हो सकती, इसी प्रकार शिथिल प्रारब्धके फल-स्वरूप बाह्य-प्रवृत्तिको तो ज्ञानी जीवन्मुक्तिके सुखके लिए किये हुए, रागद्वेषादि वासनाओंको हटानेके प्रयत्नसे दूर कर लेता है किन्तु तीव्रतर प्रारब्धकी फलस्वरूप बाह्य-प्रवृत्ति तो ज्ञानीसे भी दूर नही हो सकती। इसलिये ज्ञानीकी अधिक प्रवृत्तिकी हेतु तीव्रतर प्रारब्धको दुष्ट वा निकृष्ट प्रारब्ध कहते है।

यदि कोई कहे कि :— ज्ञानवान्को सभी अनात्म पदार्थों में मिथ्या-बुद्धि होनेसे, राग नही होता इसलिए उसकी साँसारिक व्यवहारोमे प्रवृत्ति नही हो सकती। और यदि ज्ञानीमें रागादि माने जाँयगे तो शास्त्रसे विरोध हो जायगा; क्योंकि शास्त्र तो कहता है कि **"रागो लिंगमबोधस्य"** अर्थात् 'राग अज्ञानकी निशानी है।' अतः यह मानना चाहिये कि जो रागादिके न होनेके कारण साँसारिक व्यव-हारोमे प्रवृत्त नही होता वही ज्ञानी है। तो यह उनका कहना ठीक नही है, क्योंकि जैसे 'शरीर मिथ्या है' ऐसा ज्ञान होते हुए भी उस मिथ्या शरीरको बनाए रखने के लिये प्रारब्ध-वशात् ज्ञानीकी भिक्षा-भोजन व जल-पान आदिकोमे प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार जिस ज्ञानीका प्रारब्ध अधिक भोगोको देनेवाला होता है, उस ज्ञानीकी अधिक प्रवृत्ति भी हुआ करती है। अथवा जैसे सिनेमा वा बाजीगरके खेलको मिथ्या जानते हुए भी लोगोकी उसे

देखनेमे प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार सभी पदार्थोमे ज्ञानी को मिथ्या बुद्धि होनेपर भी प्रवृत्ति बन सकती है। और यह जो शास्त्र कहता है कि 'राग अज्ञानकी निशानी है' इसका तात्पर्य यह है कि **दृढ़ राग** अज्ञानकी निशानी है अर्थात् ज्ञानीमे अज्ञानीकी तरह दृढ राग नही होता। इसी तात्पर्यको स्पष्ट करते हुए दूसरा शास्त्र कहता है कि, **"रागादयः सन्तु काम न तद्भावोऽपराध्यते"** अर्थात् ज्ञानीमे रागादि हैं तो हुआ करे, उनके होनेसे ज्ञानीके ज्ञानको कोई आँच नही लगती, क्योकि **तत्त्व-ज्ञानीका राग दृढ नहीं होता।** इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानीमे भी प्रारब्ध-वशात् अदृढ रागादि हो सकते है और उनसे उनकी वाह्य-प्रवृत्ति भी बन सकती है।

जो लोग ऐसा कहते है कि :— जिसको जिस पदार्थ मे दोप-दृष्टि हो जाती है, वह पुरुप फिर उस पदार्थमे प्रवृत्त नही होता और ज्ञानीको सभी अनात्म-पदार्थोमे दोप-दृष्टि होती है, अत. ज्ञानीकी वाह्य-प्रवृत्ति नही होनी चाहिये। यह उनका कहना ठीक नहीं, क्योकि जैसे रोगी के वार वार वीमार पडनेसे उसे यह निश्चय हो जाता है कि अपथ्य-सेवन करनेसे वीमारी वढती है, फिर भी वह जैसे प्रारब्ध-वशात् अपथ्य-सेवन कर लेता है, उसी प्रकार सभी पदार्थोमे दोप-दृष्टि रखता हुआ ज्ञानी भी तीव्रतर-प्रारब्ध-वशात् व्यवहारमे प्रवृत्त हो जाता है।

किन्तु इस शास्त्रके रहस्यको न समझनेवाले जो लोग यह कहते हैं कि :— प्रारब्धका फल सर्वथा अनिवार्य है तव

पुरुषार्थ करना ही व्यर्थ है यह उनका कहना ठीक नही, क्योकि ऐसा माननेसे निष्काम ऋषियों द्वारा लिखे हुए वैद्य-शास्त्र, मन्त्र-शास्त्र और योग-शास्त्र आदिक मानसिक व शारीरिक रोगोको हटानेके उपायोंको बतलानेवाले सभी शास्त्र व्यर्थ हो जाँयगे और प्रत्यक्ष फलको देनेवाले उपायोको बतलानेवाले उन शास्त्रोंको व्यर्थ कहना नही बन सकता।

और हमने जो कहा था कि प्रारब्धका फल अनिवार्य है, वह तीव्रतर प्रारब्धके लिये कहा था; क्योकि प्रारब्ध तीन प्रकारकी है :—

(१) मन्द (२) तीव्र (३) तीव्रतर।

**मन्द-प्रारब्ध** :— जिसका फल भिक्षाके अन्नकी तरह अधिक प्रयत्नसे प्राप्त हो और जिसका अकस्मात् प्राप्त हुआ अनिष्ट ( अनचाहा ) फल सुसाध्य रोगकी तरह थोडेसे ही प्रयत्नसे निवृत्त हो जाय उस प्रारब्धको **मन्द-प्रारब्ध** कहते है।

(२) **तीव्र-प्रारब्ध** :—जिसका फल निमन्त्रणके अन्नकी तरह थोडे ही प्रयत्नसे प्राप्त हो और जिसका अकस्मात् प्राप्त हुआ अनिष्ट (अनचाहा) फल कष्ट-साध्य रोगकी तरह अधिक प्रयत्नसे ही निवृत्त हो, उस प्रारब्धको **तीव्र-प्रारब्ध** कहते है।

(३) **तीव्रतर-प्रारब्ध** :— जिसका फल घर बैठे ही प्राप्त हुए अन्नकी तरह विना प्रयत्नके अपने आप ही प्राप्त हो जाय, और जिसका बलपूर्वक ( जबरदस्ती ) प्राप्त हुआ अनिष्ट फल बैलके डामकी तरह, किसी भी प्रयत्नसे निवृत्त न हो सके, उस प्रारब्धको **तीव्रतर-प्रारब्ध** कहते हैं।

इन तीन प्रकारके प्रारब्धोमेसे पहिलेके दो प्रारब्ध तो तीव्र व तीव्रतर प्रयत्नसे हट सकते है किन्तु तीव्रतर प्रारब्ध अपना भोग अवश्य ही देता है। इसलिए पुरुषार्थ (प्रयत्न) सदा करते ही रहना चाहिये, जिससे प्रारब्ध कर्म यदि मन्द व तीव्र होगे तो वे दूर होते जाँयगे और यदि तीव्रतर होगे तो भोग भुगाकर नष्ट हो जाँयगे।

इस प्रकार ज्ञानीके व्यवहार प्रारब्ध-आधीन होनेके कारण, उनमे कोई नियम नही है अर्थात् ज्ञानीको निवृत्ति-प्रधान होना चाहिये अथवा प्रवृत्ति-प्रधान ऐसा कोई नियम नही किया जा सकता, क्योकि नियम होता है स्वाधीन कार्यमे, पराधीन कार्यमे नियम नही बन सकता। अत हाथसे छूटे हुए बाणकी तरह प्रारब्ध (जिनका प्रारम्भ हो चुका हो उन) कर्मोके आधीन ज्ञानीके शरीरके व्यवहारका नियम नही बन सकता।

यद्यपि रागादि वासनाओको रोककर मनको वशमे करनेवाले ज्ञानीजन, मन्द वा तीव्र प्रारब्धके फलरूप शरीर के व्यवहारको नियममे रखते है किन्तु तीव्रतर प्रारब्धके फलरूप शरीरके व्यवहारका नियम तो ज्ञानीसे भी नही बन सकता।

भगवान्ने भी गीताके (३) अध्यायके (३३) वे श्लोकमे कहा है कि—

> सदृश चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
> प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रह· कि करिष्यति॥

अर्थात् —क्योकि सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते है,

पुरुषार्थ करना ही व्यर्थ है यह उनका कहना ठीक नही, क्योकि ऐसा माननेसे निष्काम ऋषियों द्वारा लिखे हुए वैद्य-शास्त्र, मन्त्र-शास्त्र और योग-शास्त्र आदिक मानसिक व शारीरिक रोगोको हटानेके उपायोको बतलानेवाले सभी शास्त्र व्यर्थ हो जाँयगे और प्रत्यक्ष फलको देनेवाले उपायोको बतलानेवाले उन शास्त्रोको व्यर्थ कहना नही बन सकता ।

और हमने जो कहा था कि प्रारब्धका फल अनिवार्य है, वह तीव्रतर प्रारब्धके लिये कहा था, क्योकि प्रारब्ध तीन प्रकारकी है :—

(१) मन्द (२) तीव्र (३) तीव्रतर ।

**मन्द-प्रारब्ध** :— जिसका फल भिक्षाके अन्नकी तरह अधिक प्रयत्नसे प्राप्त हो और जिसका अकस्मात् प्राप्त हुआ अनिष्ट ( अनचाहा ) फल सुसाध्य रोगकी तरह थोडेसे ही प्रयत्नसे निवृत्त हो जाय उस प्रारब्धको **मन्द-प्रारब्ध** कहते है ।

(२) **तीव्र-प्रारब्ध** :—जिसका फल निमन्त्रणके अन्नकी तरह थोड़े ही प्रयत्नसे प्राप्त हो और जिसका अकस्मात् प्राप्त हुआ अनिष्ट (अनचाहा) फल कष्ट-साध्य रोगकी तरह अधिक प्रयत्नसे ही निवृत्त हो, उस प्रारब्धको **तीव्र-प्रारब्ध** कहते है ।

(३) **तीव्रतर-प्रारब्ध** :— जिसका फल घर बैठे ही प्राप्त हुए अन्नकी तरह विना प्रयत्नके अपने आप ही प्राप्त हो जाय, और जिसका बलपूर्वक ( जबरदस्ती ) प्राप्त हुआ अनिष्ट फल बैलके डामकी तरह, किसी भी प्रयत्नसे निवृत्त न हो सके, उस प्रारब्धको **तीव्रतर-प्रारब्ध** कहते है ।

जैसे ज्ञानीको शरीर छोडनेमे किसी विशेष देशकाल आदिकी कोई आवश्यकता नही होती उसी प्रकार ज्ञानके लिए वेदान्त-श्रवणमे भी किसी विशेष देश काल आदिकी कोई आवश्यकता नही होती, किन्तु उपासकको इन देश काल आदिकोकी आवश्यकता रहती है।

यद्यपि भीष्म आदि ज्ञानी थे और भीष्मने उत्तरायण बिना, शरीरका त्याग नही किया, तथापि भीष्म आदि अधिकारी पुरुष माने जाते हैं, अतः उपासकोको उपदेश देनेके लिए उन्होने काल-विशेषकी प्रतीक्षा की थी और वसिष्ठ भीष्मादि अधिकारी होनेके कारण उनके अनेक जन्म माने जाते हैं; क्योकि अधिकारी पुरुषोका एक कल्प तक प्रारब्ध होता है। बिना कल्पकी समाप्तिके उनका विदेह-मोक्ष नही होता और कल्पके बीचमे उनके इच्छा-अनुसार शरीर होते रहते हैं तो भी आत्म-स्वरूपमे उनको जन्म-मरणकी भ्राँति नही होती, इसीलिए वे **जीवन्मुक्त** कहलाते हैं। उन अधिकारी पुरुषोका व्यवहार दूसरोके उपदेश-निमित्त ही होता है किन्तु उन अधिकारी पुरुषोसे अन्य ज्ञानियोके व्यवहार मे कोई नियम नही है इसी अभिप्रायसे तत्त्वदृष्टिके शरीर छूटनेके कोई विशेष देश काल आदि नही बताए।

दूसरा **अदृष्टि** नामक शिष्य जिसे निर्गुण ओंकारकी अहंग्रह उपासनाका उपदेश मिला था वह गगाके किनारे किसी पवित्र व एकान्त स्थानमे बैठकर निर्गुण ब्रह्मका ध्यान करने लगा, क्योकि ध्यान (उपासना) मे उत्तम देश, निरंतर काल व सिद्ध आदि आसनोकी आवश्यकता रहती

अर्थात् पूर्वकृत पुण्य-पाप आदिके संस्कार जो वर्तमान जन्मादि मे प्रकट होते हैं, उनके अनुसार सभी प्राणी परवश होकर कर्म करते है, ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चेष्टा करता है, फिर इसमे किसीका हठ क्या करेगा।

इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानीका व्यवहार अपनी प्रकृति के अनुसार होनेके कारण उसमे कोई नियम नही है। अत एव तत्त्वदृष्टि जिसे ज्ञान हो चुका था, वह भी अपने प्रारब्धानुसार व्यवहार करता हुआ भ्रमण करने लगा और प्रारब्ध समाप्त होनेपर उसके प्राण यही लीन हो गये [ अर्थात् वह विदेहमुक्त हो गया ]; क्योंकि प्रारब्ध-भोगके बाद ज्ञानीके प्राण कही और जगह गमन नही करते किन्तु जैसे जगनेपर सपना साक्षीमे लीन हो जाता है उसी प्रकार यही स्वस्वरूप ब्रह्ममें ही लीन हो जाते हैं। तथा ज्ञानीके शरीर-त्यागमें काल-विशेष देश-विशेष, आसन-विशेष अथवा किसी अवस्था-विशेषकी कोई आवश्यकता नही होती, अर्थात् ज्ञानी सर्वथा मुक्त ही है; क्योंकि जब ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है उसी समयसे ज्ञानी मुक्त है। इसपर एक साँप्रदायिक श्लोक भी आता है कि :—

**देहः पततु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेऽथवा।**
**ज्ञान-संप्राप्ति-समये सर्वथा मुक्त एव स. ॥**

अर्थात्—ज्ञानीका शरीर चाहे काशीमें छूटे अथवा चाँडाल के घरमें छूटे; किन्तु ज्ञान-प्राप्तिके समयमे बन्ध-भ्रान्ति (भ्रान्तिरूप संसार) की निवृत्ति हो जानेसे वह ज्ञानी सर्वथा मुक्त ही है।

जैसे ज्ञानीको शरीर छोडनेमे किसी विशेष देशकाल आदिकी कोई आवश्यकता नही होती उसी प्रकार ज्ञानके लिए वेदान्त-श्रवणमे भी किसी विशेष देश काल आदिकी कोई आवश्यकता नही होती, किन्तु उपासकको इन देश काल आदिकोकी आवश्यकता रहती है।

यद्यपि भीष्म आदि ज्ञानी थे और भीष्मने उत्तरायण विना, शरीरका त्याग नही किया, तथापि भीष्म आदि अधिकारी पुरुष माने जाते हैं, अतः उपासकोको उपदेश देनेके लिए उन्होने काल-विशेषकी प्रतीक्षा की थी और वसिष्ठ भीष्मादि अधिकारी होनेके कारण उनके अनेक जन्म माने जाते है, क्योकि अधिकारी पुरुषोका एक कल्प तक प्रारब्ध होता है। विना कल्पकी समाप्तिके उनका विदेह-मोक्ष नही होता और कल्पके वीचमे उनके इच्छा-अनुसार शरीर होते रहते हैं तो भी आत्म-स्वरूपमे उनको जन्म-मरणकी भ्रांति नही होती, इसीलिए वे **जीवन्मुक्त** कहलाते हैं। उन अधिकारी पुरुषोका व्यवहार दूसरोके उपदेश-निमित्त ही होता है किन्तु उन अधिकारी पुरुषोंसे अन्य ज्ञानियोके व्यवहार मे कोई नियम नही है इसी अभिप्रायसे तत्त्वदृष्टिके शरीर छूटनेके कोई विशेष देश काल आदि नही वताए।

दूसरा **अदृष्टि** नामक शिष्य जिसे निर्गुण ओकारकी अहंग्रह उपासनाका उपदेश मिला था वह गगाके किनारे किसी पवित्र व एकान्त स्थानमे वैठकर निर्गुण ब्रह्मका ध्यान करने लगा, क्योकि ध्यान (उपासना) मे उत्तम देश, निरतर काल व सिद्ध आदि आसनोकी आवश्यकता रहती

है। इस प्रकार वह अदृष्टि ओंकारका ध्यान करता हुआ, प्रारब्ध समाप्त होनेपर, शास्त्र-रीति अनुसार [क्योंकि उपासकको शरीर छोडते समय उत्तम देश व उत्तम उत्तरायण काल आदिकोंकी आवश्यकता रहती है] शरीर छूटनेपर ब्रह्मलोकको जाकर, वहाँके सकल्प-सिद्ध दिव्य पदार्थोंको भोग कर प्रलयकालमे आत्मज्ञान होनेके बाद विदेह-मोक्षको प्राप्त हो गया।

और तीसरे तर्कदृष्टि नामक शिष्यने गुरु-द्वारा उपदेशको सुनकर, उस सुने हुए अर्थमे दूसरे शास्त्रोका विरोध दूर करनेके लिए, सभी शास्त्रोका अभिप्राय विचारकर यह निश्चय किया कि :—

(१) सभी शास्त्रोका परम प्रयोजन मोक्ष है।
(२) मोक्षका साधन ज्ञान है।
(३) वह ज्ञान अद्वय-निश्चयरूप है।
(४) भेद-निश्चय यथार्थ ज्ञान नही।
(५) सभी शास्त्र साक्षात् अथवा परम्परासे ब्रह्म-ज्ञानके ही हेतु है।

सस्कृत विद्याके अष्टादश (१८) प्रस्थान (अग) है :— चार वेद, चार उपवेद, छः वेदके अग, पुराण, न्याय, मीमाँसा और धर्मशास्त्र।

**चार वेद** :— ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

**चार उपवेद** :— आयुर्वेद [इसमे शरीर आदिकी चिकित्सा (इलाज) सम्बन्धी वर्णन है], धनुर्वेद [इसमे युद्ध-सम्बन्धी शस्त्रादिकोंका वर्णन है], गान्धर्ववेद [इसमे स्वर, ताल,

मूर्छना-सहित गीत, नृत्य और वाद्य आदिका निरूपण है] और **अर्थवेद** [नीति-शास्त्र, अश्व-शास्त्र, शिल्प-शास्त्र, सूपकार-शास्त्र आदि धन-प्राप्तिके उपाय बतलानेवाले शास्त्रोंको अर्थवेद कहा जाता है।]

**छ वेदके अंग** :–(१) शिक्षा (२) कल्प (३) व्याकरण (४) निरुक्त (५) ज्योतिष और (६) पिंगल।

(१) **शिक्षा** :– यह श्रीपाणिनीजीका बनाया हुआ है और इसमे वेदके शब्दोके अक्षरोके स्थानोका तथा उदात्त, अनुदात्त व स्वरित स्वर इत्यादिका वर्णन है।

(२) **कल्प** – वेदके बताए हुए कर्मोंके अनुष्ठानकी रीति कल्पसूत्रोमे बताई गई है। इनके कर्त्ता कात्यायन आश्वलायन आदि मुनि हुए हैं।

(३) **व्याकरण** :– इससे लौकिक व वेदके शब्दोकी शुद्धताका ज्ञान होता है। यह 'अष्टाध्यायी' नामक सूत्ररूप व्याकरण पाणिनी मुनिने बनाया है।

(४) **निरुक्त** – यास्क नामक मुनिने त्रयोदश (१३) अध्यायरूप निरुक्त बनाया है। इसमे वेदके मन्त्रोमे जो अप्रसिद्ध पद हैं उनके अर्थको समझानेके लिए उनके पर्याय-वाची नामो का निरूपण आया है। निघंटु व अमरकोष आदि संज्ञा-बोधक कोष भी इसीके अन्तर्गत माने जाते हैं।

(५) **ज्योतिष** :– इसके कर्त्ता आदित्य व गर्गादिक ऋषि हुए है। इसमे वैदिक कर्मोंके उपयोगी कालादिकोका वर्णन है।

(६) **पिंगल** :– पिंगल नामक मुनिने सूत्रोमे अष्ट (८) अध्यायोंसे छन्दोका निरूपण किया है, जिसमे वेदके गायत्री

आदि छन्दोका ज्ञान होता है।

**पुराण** :— इनके कर्त्ता श्रीवेदव्यासजी हैं। ये कुल अठारह (१८) है, जैसे—(१) ब्रह्म (२) पद्म (३) वैष्णव (४) शैव (५) भागवत (६) नारदीय (७) मार्कण्डेय (८) आग्नेय (९) भविष्य (१०) ब्रह्मवैवर्त (११) लैंग (१२) वाराह (१३) स्कद (१४) वामन (१५) कौर्म (१६) मात्स्य (१७) गारुड और (१८) ब्रह्मांड।

भागवत दो है:—(१) वैष्णव भागवत (२) भगवती भागवत। दोनोमे श्लोकोकी सख्या अष्टादश सहस्र (अठारह हाजर) है और दोनोके स्कन्द भी द्वादश (१२) हैं। परन्तु इनमे एक पुराण है, और दूसरा उपपुराण है। दोनों व्यासजीके बनाए हुए हैं।

जैसे व्यासजीने पुराण बनाए है वैसे उपपुराण भी कुछ व्यासजीने बनाये हैं और कुछ पराशर आदि मुनियोके किये हुए है।

**न्याय** :— पाँच अध्यायोमे न्याय-सूत्र गौतमजीने बनाए हैं। इनमे युक्ति प्रधान है। कणाद मुनिके दश अध्यायों मे बनाए हुए वैशेषिक सूत्रोका भी इसीमे अन्तर्भाव किया जाता है।

**मीमाँसा** :— इसके दो भेद हैं—(१) धर्म-मीमाँसा अर्थात् पूर्व-मीमाँसा (२) ब्रह्म-मीमाँसा अर्थात् उत्तर-मीमाँसा। **धर्म-मीमाँसाके** १२ अध्याय हैं। इसके कर्त्ता जैमिनि हैं और इसमे कर्मके अनुष्ठानकी रीतिका प्रतिपादन किया गया है।

**ब्रह्म-मीमांसा** (ब्रह्मसूत्र) के चार अध्याय है। इसके कर्त्ता वेदव्यासजी हैं। एक एक अध्यायके चार चार पाद हैं। इसके पहिले अध्यायमे बताया गया है कि सभी उपनिषद् ब्रह्मका प्रतिपादन करते है। उपनिषद् वाक्योका मन्द-बुद्धि पुरुषोको जो आपसमे विरोध प्रतीत होता है, उसका परिहार दूसरे अध्यायमे किया है। तीसरे अध्याय मे ज्ञान और उपासनाके साधनोका विचार किया गया है। और चौथे अध्यायमे ज्ञान और उपासनाका फल बताया है।

यह ब्रह्म-मीमाँसारूप शारीरक-शास्त्र ही सभी शास्त्रो मे प्रधान माना जाता है। मुमुक्षुको यही उपादेय है। इस पर कई व्याख्याएँ की गई है किन्तु श्रीस्वामी शकराचार्य-जीका किया हुआ भाष्यरूप व्याख्यान ही सबसे श्रेष्ठ है।

**धर्म-शास्त्र**:—मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु, यम, अगिरा, वसिष्ठ, दक्ष, सवर्त्त, शातातप, पराशर, गौतम, शख, लिखित, हारीत, आपस्तब, शुक्र, बृहस्पति, व्यास, कात्यायन, देवल और नारद आदि मुनियोके बनाये हुए स्मृति नामक ग्रन्थोको **धर्म-शास्त्र** कहते हैं। इनमे वर्ण आश्रमके कायिक, वाचिक व मानसिक धर्मोका निरूपण आया है। व्यासकृत महाभारत व वाल्मीकिकृत रामायण भी धर्मशास्त्रके ही अन्तर्गत हैं। तथा देवता-आराधनके निमित्त जो मन्त्र-शास्त्र हैं व साँख्य-शास्त्र, योग-शास्त्र, वैष्णव-तन्त्र, शैव-तन्त्रादि भी धर्म-शास्त्रके अन्तर्भूत हैं, क्योकि इनमे भी उपासनारूप मानस धर्मका निरूपण है।

वाममार्ग, और (१) माध्यमिक (२) योगाचार (३) सौत्रांतिक (४) वैभाषिक (५) चार्वाक और (६) दिगम्बर ये वेदको प्रमाण नही माननेवाले छः नास्तिक मतोके ग्रन्थ भी यद्यपि संस्कृत वाणीमे हैं, तथापि वेद-बाह्य है, अतः वेदके अनुसारी विद्याके प्रस्थान (अग) अष्टादश (१८) ही है।

इन सबको पढकर तत्त्वदृष्टिने यह निश्चय किया कि ये सभी शास्त्र ब्रह्मज्ञान-द्वारा मोक्षके हेतु है। कोई साक्षात् ज्ञानका हेतु है, कोई परम्परासे ज्ञानका हेतु है; क्योंकि जो शास्त्र कर्मका प्रतिपादन करते हैं, उनका भी कर्मोंसे ज्ञान-प्राप्तिके योग्य शुद्ध अन्तःकरणको प्राप्त करके ज्ञान द्वारा मोक्ष-प्राप्तिमे ही तात्पर्य है, जो शास्त्र उपासनाका वर्णन करते हैं, उनका भी उपासनासे शुद्ध अन्तःकरण करके, ज्ञान-द्वारा मोक्षमे ही तात्पर्य है तथा जो ब्रह्मसूत्र आदि शास्त्र ज्ञानका निरूपण करते हैं उनका तो साक्षात् ज्ञान द्वारा मोक्षमे तात्पर्य है ही। किन्तु जिज्ञासुओको अन्य शास्त्रोमे सिरपच्ची न करके केवल उत्तर-मीमाँसा आदि साक्षात् ज्ञानके प्रतिपादक शास्त्रोका ही अध्ययन करना चाहिये।

फिर दूसरे विद्वानोके साथ मिलनेसे जब तर्कदृष्टिको यह निश्चय हो गया कि जो मेरा निश्चय है वही विद्वानों व ब्रह्म-ज्ञानियोका निश्चय है तब उसके सभी संशय नष्ट हो गए और अपने असली स्वरूप ब्रह्मका प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया।

तत्पश्चात् उस तर्कदृष्टिकी शेष प्रारब्ध प्रवृत्ति-प्रधान होनेके कारण उसे अपने वृद्ध माता पिताको देखनेकी इच्छा

हुई। तव वह घर पहुचा। पिता पुत्र दोनो मर्यादानुसार व वडे प्रेमसे आपसमे मिले। पिताको कुछ चिन्तित देख कर पुत्रने उस चिन्ताका कारण पूछा। तव उस राजा शुभसततिने कहा, "हे पुत्र! अव तो मुझे केवल अपने कल्याणकी ही चिन्ता है, अत अव मुझे यह वताओ कि उपासना किसकी करनी चाहिये? विष्णुके उपासक तो दूसरे देवताओमे दोप वताकर केवल वष्णुकी ही महिमा गाते है और शिवके उपासक शिवको उपास्य वतलाकर विष्णु आदि अन्य देवताओकी निन्दा करते है। इसी प्रकार देवी आदिकोके उपासक दूसरे देवताओकी निन्दा करते हैं और अपने अपने इष्टकी ही वढाई करते हैं। पुराणोमे भी यही देखा गया है। स्कन्द-पुराणमे जगत्की उत्पत्ति शिवसे वताई है और विष्णु आदिक शिवके भक्त हैं, ऐसा वर्णन आया है। और विष्णु-पुराण पद्म-पुराणमे फिर सृष्टिका कारण विष्णुको कहा है। इस प्रकार हे पुत्र! ये भिन्न भिन्न देवताओके उपासक तो अपने अपने इष्टको ही उपास्य (उपासना करने योग्य) वतलाते है, अत मैं कुछ निश्चय नही कर पाता कि किसकी उपासना करूँ, अव तुम मुझे वताओ कि वास्तवमे उपासना किसकी करनी चाहिये, तो मैं उसकी उपासनामे प्रवृत्त हो जाऊँ।"

यह सुनकर तर्कदृष्टि वोले "पिताजी! यद्यपि सभी पुराणोके कर्त्ता एक व्यासजी ही है और उन्होने स्कन्द-पुराणमे शिवके स्वतन्त्रादि ईश्वर-धर्म वतलाये है, और दूसरे देवताओके लिये कहा है कि उन्होने शिवकी कृपासे ही

सारी विभूतिको प्राप्त किया है अतः वे शिवसे भिन्न दूसरे देवता, जीव-कोटिमे हैं। तथा विष्णु-पुराण व पद्म-पुराण मे फिर विष्णुको ही ईश्वर बतलाया है। इस प्रकार किसी को पुराणमे किसीको उपपुराणमें ईश्वर बताते हुए, गणेशादि दूसरे देवताओंको भी ईश्वर बताया है। इसी कारण ही वेदव्यासजीके वाक्योमे उपरि-दृष्टिसे विरोध प्रतीत होता है किन्तु वास्तवमें विरोध नही है; क्योंकि वस्तुतः विष्णु, शिव, गणेश, देवी, सूर्य ये सभी ईश्वर है। जिस प्रकरण मे एकको ईश्वर बताकर व दूसरोके जीव इत्यादि धर्म कहकर जो उनकी निन्दा की है, वहाँ उनकी निन्दा करके, उनकी उपासनाके त्यागमे व्यासजीका अभिप्राय नही है, किन्तु विष्णु-पुराणमे शिवादिकोंकी निन्दा और विष्णुकी स्तुति, केवल विष्णुके भक्तोको विष्णुकी उपासनामे अधिक श्रद्धासे प्रवृत्त करानेके लिए ही की है। वैसे शिवपुराणमे विष्णु आदिकोकी निन्दा भी उपासनाके त्यागके लिए नही किन्तु शिवके भक्तोको शिवकी उपासनामे अधिक श्रद्धासे प्रवृत्त करानेके लिए ही की है। यदि एक प्रकरणमे दूसरे देवताओकी निन्दा, उनकी उपासनाको छोडनेके लिए मानी जायगी, तो यों तो सभी देवताओकी उपासना छूट जायगी। फिर तो कोई उपास्य देवता ही नही रहेगा और वेदका सारा उपासना-काण्ड निरर्थक हो जायगा। अतः दूसरे देवताओंकी निन्दा एकको स्तुतिके लिए है, न कि उनकी उपासनाको छोडनेके लिए।

जैसे :— वेदमें अग्निहोत्रके दो काल ( समय ) बतलाए

हैं। एक सूर्य-उदयसे पहिले और दूसरा सूर्य-उदयके बाद का काल। वहाँ उदय-कालके प्रसगमे अनुदय-काल (सूर्य उदय होनेसे पहिलेके समय) की निन्दा की है और अनुदय-कालके प्रसगमे उदय-काल (सूर्य-उदय होनेके बादके समय) की निन्दा की है। अब वहाँ निन्दाका तात्पर्य यदि त्यागमे माना जाय तो क्रमशः दोनो कालोमे होमका त्याग हो जायगा, किन्तु नित्य कर्मका त्याग नही हो सकता। अतः यह मानना पडेगा कि उदय-कालकी स्तुतिके लिए ही अनुदय-कालकी निन्दा है और अनुदय-कालकी स्तुतिके लिए उदय-कालकी निन्दा है। इसी प्रकार एक देवकी उपासना के प्रसगमे जो दूसरे देवताओकी निन्दा की गई है, उसका तात्पर्य उस एककी स्तुतिमे है न कि दूसरोकी निन्दामे।

जैसे शाखा-भेदसे कोई उदय-कालमे होम करता है तो कोई अनुदय-कालमे, किन्तु फल दोनोको समान ही मिलता है। इसी प्रकार इच्छा-भेदसे पाँचोमेसे किसीकी भी उपासना करनेसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है, अर्थात् पाँचो देवताओकी उपासनाका फल समान ही है। और वहाँ ब्रह्मलोकमे भोग भोगनेके बाद, विदेह-मोक्षकी प्राप्ति होती है।

यद्यपि पुराणोमे विष्णु आदिकोकी उपासनासे वैकुण्ठ आदि प्राप्तिका वर्णन आता है, न कि ब्रह्मलोकका, तथापि शास्त्रका यह कथन है कि, जो उत्तम उपासक ( कारण ब्रह्मकी अभेद उपासना करनेवाले ) विदेह-मुक्तिके अधिकारी है, वे सभी देव-यान-मार्गसे ब्रह्मलोकको ही जाते हैं। परन्तु वह एक ही ब्रह्मलोक विष्णुके उपासकोको वैकुण्ठरूपमे प्रतीत

होता है, तथा वहाँके सभी लोकवासी उसे चतुर्भुज पार्षद-रूपसे प्रतीत होते है, और स्वयको भी वह चतुर्भुजरूपसे ही देखता है, इसी प्रकार शिवके उपासकोंको वही ब्रह्म-लोक शिवलोक प्रतीत होता है, और वहाँके लोकवासी तथा वह स्वयं, सभी त्रिनेत्र-मूर्ति-रूपसे उसे प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार सभी उपासकोको ब्रह्मलोक ही अपने उपास्य देवताका लोक प्रतीत होता है, क्योकि यह नियम है कि.— बिना देव-यान-मार्गके; जो उपासक दूसरे मार्गसे जाते हैं, उनका फिर ससारमे आगमन (आना) हो जाता है, और देव-यान-मार्ग-द्वारा गया हुआ उपासक ब्रह्मलोक को ही प्राप्त करता है, अतः विदेह-मोक्षके योग्य सभी उपासक ब्रह्मलोकको ही जाते हैं। उस ब्रह्मलोकको ऐसी अद्भुत महिमा है कि वह ब्रह्मलोक उपासककी इच्छाके अनु-सार ही सारी सामग्री-सहित होकर उसे प्रतीत होता है। इस प्रकार पाँचो देवोके उपासकोको ब्रह्मलोकरूप एक समान ही फल मिलता है।

यदि कोई ऐसी शंका करे कि :— पाँचो देवोके नाम व रूप भिन्न भिन्न हैं किन्तु ईश्वर तो एक है। एक ईश्वरके अनेक नामरूप कैसे वन सकते हैं? तो उसका समाधान यह है कि :— वास्तवमे परमात्मामे कोई नामरूप है ही नही, केवल मन्दवुद्धि मनुष्योको उपासनामे प्रवृत्त करानेके लिए ही नाम-रूप-रहित परमात्माके माया-कृत कल्पित नामरूप वताये गए हैं। अतः एक परमात्मामें माया-द्वारा किये हुए कल्पित नामरूप अनेक वन सकते हैं। इस

प्रकार सभी पुराणोके वाक्योका आपसमे विरोध नही है।

पुराण-वाक्योमे विरोध शकाका मुख्य उत्तर तो यह है कि:— जैसे माया-विशिष्ट **कारणको** ब्रह्म कहते हैं और हिरण्यगर्भ जो **कार्य** है उसे भी ब्रह्म कहते है, इसी प्रकार विष्णु, शिव, गणेश, देवी और सूर्य ये पाँचो नाम कारण-ब्रह्म तथा कार्य-ब्रह्म इन दोनोको बोधन करते हैं ( बतलाते हैं ) । ऐसे इन पाँचो नामोके जो नारायण, नीलकठ, विघ्नेश, शक्ति, भानु इत्यादि अनेक पर्याय ( समान अर्थवाले शब्द ) है, वे सभी प्रसगानुसार कही कारण ब्रह्मको, कही कार्य ब्रह्मको, दोनोको बोधन करते है। जैसे सैन्धव पद घोडे व नमक दोनोको बताता है। भोजनके प्रसगमे सैन्धव पद नमकको बताता है और कहीं जानेके प्रसगमे वही सैन्धव पद घोडेको बताता है। इसी प्रकार वैष्णव-पुराण मे विष्णु नारायण आदि पद कारण-ब्रह्मके बोधक है और शिव गणेश सूर्य आदि पद कार्य-ब्रह्मके बोधक हैं, अतः वैष्णव ग्रन्थोमे विष्णुकी स्तुति और शिव आदिकोकी निन्दा से श्रीवेदव्यासजीका तात्पर्य यह है कि **कारण-ब्रह्म उपास्य ( उपासना करने योग्य )** है और **कार्य-ब्रह्म** उपास्य नही है। इसी प्रकार स्कन्द-पुराण आदि शैव ग्रन्थोमे शिव महेश आदि पद कारण-ब्रह्मके बोधक हैं और विष्णु गणेश देवी सूर्य आदि पद कार्य-ब्रह्मके बोधक हैं, अत उनमे भी कारण-ब्रह्मकी स्तुति और कार्य-ब्रह्मकी ही निन्दा है। ऐसे गणेश-पुराणमे गणेश पद कारण-ब्रह्मका वाचक है और विष्णु शिव आदि पद कार्य-ब्रह्मके वाचक है, अत. कारणकी स्तुति

और कार्यकी निन्दा है। इसी प्रकार काली पुराणमें भी काली देवी आदि पद कारण-ब्रह्मके बोधक और विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य आदि पद कार्य-ब्रह्मके बोधक हैं। अतः काली-पद-वाच्य कारणकी स्तुति और विष्णु शिव आदि पदोके वाच्य कार्य-ब्रह्मकी निन्दा है। ऐसे सौर-पुराणमे सूर्य भानु आदि पदोका वाच्य जो कारण-ब्रह्म है, उसकी स्तुति और अन्य पदोके वाच्य कार्य-ब्रह्मकी निन्दा है। इस प्रकार सभी पुराणोमे कारण-ब्रह्मकी उपासना उपादेय (करने योग्य) है और कार्य-ब्रह्मकी उपासना हेय (छोड़ने योग्य) है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सभी पुराण एक कारण-ब्रह्मको ही उपास्य (उपासना करने योग्य) बताते हैं। अतः उनका आपसमे विरोध नही है।

यद्यपि विष्णुकी चतुर्भुज, शिवकी त्रिनेत्र, गणेशकी सतुण्ड, काली देवीकी अष्टभुजादि जो मूर्तियाँ है, वे माया के परिणाम व चेतनके विवर्त होनेके कारण **कार्य** है और उनकी भी उपासनाका वर्णन आया है, तथापि उन चतुर्भुज आदि मूर्तियोका जो माया-विशिष्ट-चेतन **कारण** है, उससे उनका वास्तवमे कोई भेद नही है, अतः यह समझना चाहिये कि उन मूर्तियोकी उपासनाका तात्पर्य, उन आकारो को बाधकर, कारणरूपसे उनकी उपासना करनेमे ही है; क्योकि आकार कार्य होनेसे तुच्छ हैं और कारण सत्य है। किन्तु जिसकी बुद्धि मन्द है और वह आकरमें ही चित्त को लगा सकता है तो उसे शास्त्र-उक्त आकारकी ही उपासना करनी चाहिये; जिससे उसकी बुद्धि निश्चल होनेके

बाद फिर कारण-ब्रह्मकी उपासनामे लग सके ।

कारण-ब्रह्मकी उपासना इस प्रकार की जाती है:— ब्रह्म जगत्का कारण है, सत्यकाम, सत्यसकल्प, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र, सबका प्रेरक तथा कृपालु है, इस प्रकार **ईश्वरके धर्मोका चिन्तन** करना चाहिये । मूर्ति-चिन्तनमे शास्त्रका तात्पर्य नही है ।

शास्त्रोमे जो मूर्तियोका वर्णन आता है वह उपासनाके निमित्त नही, किन्तु यह बतानेके लिये कि सभी मूर्तियाँ कारण ब्रह्मकी **उपलक्षण** हैं । जो वस्तु जिसके एकदेशमे हो और सदा न रहे किन्तु कभी रहे, तथा व्यावर्त्तक (दूसरोसे अलग करके जनवानेवाला) हो उसे **उपलक्षण** कहते हैं । जैसे कोई कहे कि, "वह कौवेवाला घर देवदत्तका है" तो इस वाक्यमे कौवा देवदत्तके घरका उपलक्षण है, क्योकि कौवा उस घरके एकदेशमे बैठा हुआ है, वह भी सदाके लिये नही, किन्तु कुछ समयके लिए है, तथा दूसरे घरोसे देवदत्तके घरका व्यावर्त्तक है अर्थात् दूसरे घरोसे देवदत्तके घरको अलग करके जनवाता है, इसी प्रकार जगत्का कारण जो ब्रह्म है उसके एकदेशमें मूर्तियाँ होती हैं, वह भी सदाके लिये नही किन्तु कुछ समयके लिए ही, तथा वे (माया-द्वारा कल्पित) चतुर्भुजादिक सभी मूर्तियाँ कारण-ब्रह्ममे ही हैं न कि किसी अन्यमे अत व्यावर्त्तक (कारण-ब्रह्मको कार्य-ब्रह्मसे अलग करके जनवानेवाली) भी हैं, इससे सिद्ध हुआ कि सभी मूर्तियाँ कारण-ब्रह्मकी **उपलक्षण** हैं ।

उपलक्षणका केवल यही प्रयोजन होता है कि उसमे विशेष्य-वस्तु (उपलक्षण जिस वस्तुके सहारे रहकर उसे दूसरी

वस्तुओंसे अलग करके जनवाता है, उस वस्तु) के स्वरूपका ज्ञान हो, जैसे कौवेसे देवदत्तके घरका ज्ञान होता है, और कोई दूसरा प्रयोजन वहाँ कौवेसे सिद्ध नही होता, इसी प्रकार चतुर्भुज आदि आकारो (मूर्तियो) से निराकार कारण-ब्रह्मका ज्ञान होता है। बस इसी प्रयोजनको लक्ष्य करके ही शास्त्रोने उपासनाके लिए मूर्तियोका वर्णन किया है। मूर्तियोको बतलाने का इससे दूसरा कोई और प्रयोजन नही है।

किन्तु मन्द बुद्धिवाले लोग शास्त्रके अभिप्रायको न समझकर आपसमे एक दूसरेकी निन्दा करके लडते ही रहते है। वैष्णव ग्रन्थोमे शिव आदि नामोसे कार्य-ब्रह्मकी ही निन्दा की है, इस अभिप्रायको न समझकर शिव आदि के उपासक दुःखी होते हैं और शैव ग्रन्थोमे विष्णु आदि नामोसे कार्य-ब्रह्मकी निन्दाको न जानकर विष्णु आदिके उपासक दुखी होते है। अत. बुद्धिमान् मनुष्योको केवल मूर्तियोमे आग्रह न करके पुराणोके इस वास्तविक तात्पर्य को समझना चाहिये कि **कारण-ब्रह्म उपास्य** है **और कार्य-ब्रह्म त्याज्य** है। माया-विशिष्टको **कारण-ब्रह्म** कहते हैं और माया-द्वारा रचे हुए कार्य-विशिष्ट-चेतनको **कार्य-ब्रह्म** कहते हैं। अतः पिताजी! आपको अब इन कार्य-ब्रह्मके उपासकों के भिन्न भिन्न मतोको छोडकर केवल एक कारण-ब्रह्मकी ही उपासना करनी चाहिये।

तब शुभसन्तति कहने लगे—"पुत्र! अब मुझे यह समझमे आगया कि पुराणोका आपसमे विरोध नहीं है और कारण-ब्रह्मकी ही उपासना करनी चाहिये, किन्तु इन छः

शास्त्रोमे भी आपसमे विरोध प्रतीत होता है, इन सबमे कौनसा शास्त्र वेद-सम्मत अर्थात् सही है जिसका अध्ययन करना चाहिये।

तर्कदृष्टि बोले—"पिताजी ! यद्यपि छहो शास्त्रोके कर्त्ताओको सर्वज्ञ कहते है। (१) साँख्यका कर्त्ता **कपिल** (२) योग-दर्शनका कर्त्ता **पतंजलि** (३) न्यायका कर्त्ता **गौतम** (४) वैशेपिक शास्त्रका कर्त्ता **कणाद** (५) पूर्व-मीमाँसाका कर्त्ता **जैमिनि** (६) उत्तर-मीमाँसाका कर्त्ता **व्यास**। इन सबका माहात्म्य प्रसिद्ध है, अत इनके वचनरूप शास्त्र भी सभी एक जैसे प्रमाण होने चाहिये, तथापि सभी वाक्योमे प्रवल प्रमाण वेद-वाक्य है, क्योकि वेदका कर्त्ता सर्वज्ञ ईश्वर है। उसमे **भ्रम, सदेह, विप्रलिप्सा** (वहकानेकी इच्छा) ये दोप नही है। और इन शास्त्रोके कर्त्ता जीव है उनमे ऊपर कहे हुए भ्रमादि दोप हो सकते हैं। यद्यपि शास्त्रकार भी सर्वज्ञ कहलाते हैं किन्तु उनको सर्वज्ञता योग-माहात्म्य से हुई है, इसलिए वे युंजान-योगी हुए हैं और ईश्वरकी सर्वज्ञता स्वभाव-सिद्ध है अतः वे युक्त-योगी हैं। जिसको चिन्तन करनेसे पदार्थोका ज्ञान हो उसे **युंजान-योगी** कहते हैं और जिसे सदा एक रस सभी पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतीत होते रहते है उसे **युक्त-योगी** कहा जाता है, ऐसे केवल ईश्वर हैं।

**युक्त-योगीके** रचे हुए वेद-वचन प्रवल हैं और युंजान-योगीके रचे हुए शास्त्र-वचन दुर्वल हैं। अत वेदके अनुसारी शास्त्र प्रमाण है और वेद-विरुद्ध शास्त्र अप्रमाण है। इससे

सिद्ध हुआ कि वेदके विरुद्ध साँख्य आदि पाँच शास्त्र अप्रमाण हैं, और उत्तर-मीमाँसा (ब्रह्मसूत्र) जो किसी अंश मे भी वेदके विरुद्ध नही है, वही प्रमाण है। यद्यपि उत्तर-मीमाँसा वेदव्यासजीने सूत्रोमे ही बनायी है, और उसका व्याख्यान भी अनेक पुरुषोंने नाना प्रकारसे किया है, किन्तु पूज्य-चरण श्रीस्वामी शकराचार्यजीका किया हुआ व्याख्यान ही वेद-अनुसारी है, और नही।

और जो मन्द-बुद्धि पुरुष द्वैत-वादियोके वचनोमे विश्वास करके अन्य शास्त्रोमे प्रविष्ट हो जाते है वे पुरुषार्थ सुखसे रहित होकर जन्म-मरणरूप महादु खका अनुभव करते रहते है। अतः वेद-अनुसारी उत्तर-मीमाँसा अर्थात् वेदान्त का अध्ययन करके अपने असली स्वरूप उस अद्वैत ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करके, इस जन्म-मरणके चक्करसे छूटकर, परमानन्दको प्राप्त करना चाहिये।

इस प्रकार तर्कदृष्टिके वचन सुननेके वाद शुभसन्ततिकी सभी शकाएँ नष्ट हो गईं, और तर्कदृष्टिको गुरु मानकर सारा राज्य उसे गुरु-दक्षिणामे दे दिया। यद्यपि तर्कदृष्टि शुभसन्ततिका पुत्र था, तो भी उत्तम उपदेश करनेके कारण गुरु-पदको प्राप्त हुआ। यह ब्रह्म-विद्याका माहात्म्य है।

फिर वह राजा वड़े उत्साह व लग्नसे कारण-ब्रह्मकी उपासनामें प्रवृत्त हो गया। इस प्रकार उपासना करते करते प्रारब्ध समाप्त होनेके वाद, शरीरके छूटनेपर उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति हुई।

उपासकके मृत्युमे किसी विशेष देशकालकी आवश्यकता

नही होती । इसीलिये राजाके मृत्युका कोई विशेष देशकाल नही बताया, क्योकि उपासक चाहे दिनमे मरे अथवा रात्रि मे दक्षिणायनमे मरे अथवा उत्तरायणमे, पवित्र भूमिमे अथवा अपवित्रमे सर्वथा उपासनाके बलसे देव-यान-मार्ग-द्वारा उसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति हो जाती है। और अदृष्टिके प्रसगमे जो पहिले देशकाल आदिकी आवश्यकता बताई थी वह योग-सहित उपासकके लिए बताई थी । केवल ईश्वर-शरण-उपासकको किसी विशेप देशकालकी आवश्यकता नही है। सूत्रकार श्रीवेदव्यासजी तथा भाष्यकार श्रीस्वामी शकराचार्य-जीने इस बातका स्पष्टरूपसे कथन किया है ।

तर्कदृष्टि फिर गुरु-दक्षिणामे मिले हुए उस राज्यको अपनी तीव्रतर प्रारब्धका फल समझकर राजा जनककी तरह, कर्त्तापन व भोक्तापनके अभिमानको छोडकर सारे राज्यके कार्यको चलाने लगा । इस प्रकार राज्यके कार्यको चलाते चलाते उसे कोई विषयोका रग नही लगा, क्योकि उसे अपने असली स्वरूप अकर्त्ता अभोक्ता ब्रह्मका दृढ अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान हो चुका था। एव अपना व्यवहार करते करते, प्रारब्ध समाप्त होनेपर उसके प्राण यही लीन हो गए और आत्मा परमात्माका आपसमे अभेद हो गया। यद्यपि कूटस्थ आत्माका परमात्मासे तो सदा ही अभेद रहता है परन्तु जो उपाधिके कारण भेद प्रतीत होता है बस उसकी ही केवल निवृत्ति होती है।

**परमात्मासे अभेदका तात्पर्य** — विदेह-मोक्षमे ईश्वरसे अभेद होता है, न कि शुद्ध चेतन ब्रह्मसे, [क्योकि साक्षी

और शुद्ध चेतनका तो सदा ही अभेद है] यह बात शारीरक-भाष्य (ब्रह्मसूत्रके भाष्य) के चौथे अध्यायमे कही गई है। वहाँ यह प्रसग है :—(१) विदेह-मुक्तिमे सत्यसकल्पादिक रूपकी प्राप्ति **जैमिनिके मतसे** बताई है।

(२) **औडुलोमिके मतसे** सत्य-सकल्पादिकोका अभाव बताया है।

(३) **सिद्धान्त मतमें** सत्य-सकल्पादिकोका भाव अभाव दोनो बताए हैं। उसका तात्पर्य यह है कि— जब ईश्वरसे अभेद होता है अर्थात् विदेह-मोक्ष होता है तब अन्य जीवो को उस मुक्तमे ईश्वरके सत्य सकल्प आदि प्रतीत होते हैं, परन्तु वास्तवमे वह ईश्वर शुद्ध है, उसमे कोई गुण नही किन्तु निर्गुण ही है, इसलिये सत्य-संकल्पादिकोका अभाव है।

यद्यपि संसार-दशामें भी जीव वास्तवमे निर्गुण व शुद्ध है, तो भी जीवको संसार-दशामे अविद्यासे कर्त्तापन व भोक्तापन प्रतीत होता है। ईश्वरको कभी भी आत्मामें अथवा अन्यमें संसार प्रतीत नही होता, अतः वह सदा असग, निर्गुण व शुद्ध है, इसलिये ईश्वरसे जो अभेद है वही शुद्धसे अभेद है।

यदि ईश्वरसे बताए हुए अभेदको शुद्ध ब्रह्मसे अभेद नही माना जाय तो ईश्वरको शुद्ध ब्रह्मकी प्राप्ति कभी भी नही होगी; क्योंकि जीवकी तरह ईश्वरको उपदेश-जन्य ज्ञान व विदेह-मोक्ष तो कभी होते ही नही है। और सदा प्राप्त जो उसका माया-विशिष्टरूप है वह शुद्ध है नही, अतः जीव से भी न्यून ईश्वर सदा बद्ध है, ऐसा सिद्ध हो जायगा।

अतएव यह मानना ठीक है कि :—(१) ईश्वरको आवरण नही है और इसी कारण उसे उपदेश-जन्य ज्ञानकी आवश्यकता भी नही है। (२) आवरणके अभावके कारण भ्रान्ति भी नही है, अत वह नित्य-सर्वज्ञ व नित्य-मुक्त है। (३) उसे माया और उसका कार्य, आत्मामे (अपने आप मे) प्रतीत नही होता, अतः सदा असग है, और असग होनेसे शुद्ध है। इसी कारण ईश्वरसे अभेद ही शुद्ध चेतन से अभेद है।

दृष्टान्तसे भी ईश्वरसे ही अभेद सिद्ध होता है। जैसे किसी मठ ( मकान ) मे कोई घट ( घडा ) फूट जाय तो मठाकाशमे घटाकाशका लय हो जाता है, न कि महाकाश मे। इसी प्रकार विद्वान्का शरीर ईश्वरके रचे हुए ब्रह्माण्डमे ही नष्ट होता है और ब्रह्माण्ड सारा ईश्वरके शरीररूप मायाके ही अन्तर्गत है। विद्वान्का आत्मा विदेह-मोक्षमे ब्रह्माण्डके वाहर गमन नही करता। अत ईश्वरसे ही अभेद होता है परन्तु जैसे जिस मठाकाशसे घटाकाश का अभेद होता है वह मठाकाश महाकाशसे भिन्न नही किन्तु महाकाशरूप ही है, ठीक इसी प्रकार जिस ईश्वरसे अभेद होता है वह ईश्वर शुद्ध ब्रह्म ही है, अत' विदेह-**मोक्षमे शुद्ध ब्रह्मको ही प्राप्ति होती है।**

तात्पर्य यह है कि ज्ञानवान्की दृष्टिसे विदेह-मोक्षसे पहिले भी वास्तवमे ब्रह्माण्डादि जगत् कुछ है ही नही केवल एक शुद्ध ब्रह्म ही है। अत. उसकी दृष्टिसे तो शुद्ध ब्रह्मसे ही अभेद होता है, उसीको शुद्ध ब्रह्मकी प्राप्ति कहते हैं। और

अज्ञानियोंकी दृष्टिसे ब्रह्माण्ड आदि जगत् ज्यूंका त्यूं प्रतीत होता है, अतः उनकी दृष्टिसे ज्ञानीका ईश्वरसे (ईश्वरके देह-रूप ब्रह्माण्डसे) अभेद होता है। वह ईश्वर भी वास्तवमें शुद्ध ब्रह्म ही है, अतः इस दृष्टिसे भी **ज्ञानीको विदेह-मोक्षमें शुद्ध ब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है।**



इति श्रीस्वामिलीलाशाहपूज्यपादशिष्य-श्रीस्वामिमनोहरदासविरचिते पूज्यवर-ब्रह्मनिष्ठपण्डितवर्यश्रीमन्निश्चलदासकृत-श्रीविचारसागरस्थगम्भीरभावदर्शके श्रीविचारसागरदर्पणे जीवन्मुक्तिविदेहमुक्तिवर्णनं नाम सप्तमस्तरङ्गः समाप्तः॥७॥

**समाप्तं चेदं श्रीविचारसागरदर्पणम्**